# हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों की कहानियों का संग्रह

# आकाशदीप    जयशंकर प्रसाद

"बंदी!"

"क्या है? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कंबल डालकर कोई शीत से मुक्त करता।"

"आंधी की संभावना है। यही एक अवसर है। आज मेरे बंधन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बंदी हो?"

"हां, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी है।"

"शस्त्र मिलेगा?"

"मिल जाएगा। पोत से संबद्ध रज्जु काट सकोगे?"

"हां।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। दोनों बंदी आपस में टकराने लगे। पहले बंदी ने अपने को स्वतंत्र कर लिया। दूसरे का बंधन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक-दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा-स्नेह का असंभावित आलिंगन। दोनों ही अंधकार में मुक्त हो गए। दूसरे बंदी ने हर्षातिरेक से उसको गले से लगा लिया। सहसा उस बंदी ने कहा-"यह क्या? तुम स्त्री हो?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है?" - अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहां है - तुम्हारा नाम?"

"चंपा।"

तारक-खचित नील अंबर और समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अंधकार से मिलकर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आंदोलन था। नौका लहरों में विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकालकर, फिर लुढ़कते हुए, बन्दी के समीप पहुंच गई। सहसा पोत से पथ-प्रदर्शक ने चिल्लाकर कहा - "आंधी!"

आपत्ति-सूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। बंदी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर युवक बंदी ढुलककर उस रज्जु के पास पहुंचा, जो पोत से संलग्न थी। तारे ढंक गए। तरंगे

उद्वेलित हुई, समुद्र गरजने लगा। भीषण आंधी, पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कंदुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतंत्र थी। उस संकट में भी दोनों बंदी खिलखिला कर हंस पड़े। आंधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

अनंत जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शांत था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बंदी मुक्त हैं।

नायक ने कहा - "बुधगुप्त! तुमको मुक्त किसने किया?"

कृपाण दिखाकर बुधगुप्त ने कहा - "इसने।"

नायक ने कहा - "तो तुम्हें फिर बंदी बनाऊँगा।"

"किसके लिए? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा - नायक! अब इस नौका का स्वामी मैं हूं।"

"तुम? जलदस्यु बुधगुप्त? कदापि नहीं।" - चौंककर नायक ने कहा और अपना कृपाण टटोलने लगा! चंपा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था। वह कोध से उछल पड़ा।

"तो तुम द्वंद्वयुद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ; जो विजयी होगा, वह स्वामी होगा।" - इतना कहकर बुधगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया। चंपा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया।

भीषण घात-प्रतिघात आरंभ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित गतिवाले थे। बड़ी निपुणता से बुधगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़कर अपने दोनों हाथ स्वतंत्र कर लिए। चंपा भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गए। परंतु बुधगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि में डाल, उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुधगुप्त का विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा। नायक की कातर आँखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं।

बुधगुप्त ने कहा - "बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं?"

"मैं अनुचर हूं, वरूणदेव की शपथ। मैं विश्वासघात नहीं करूँगा।" बुधगुप्त ने उसे छोड़ दिया।

चंपा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुधगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त-बिंदु विजय-तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुधगुप्त ने पूछा,"हम लोग कहाँ होंगे?"

"बालीद्वीप सें बहुत दूर, संभवतः एक नवीन द्वीप के पास, जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम आना-जाना होता है। सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है।"

"कितने दिनों में हम लोग वहाँ पहुँचेंगे?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिए खाद्य का अभाव न होगा।"

सहसा नायक ने नाविकों को डाँड लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार पकड़कर बैठ गया। बुधगुप्त के पूछने पर उसने कहा – "यहाँ एक जलमग्न शैलखंड है। सावधान न रहने से नाव टकराने का भय है।"

"तुम्हें इन लोगों ने बंदी क्यों बनाया?"

"वाणिक् मणिभद्र की पाप-वासना ने।"

"तुम्हारा घर कहाँ है?"

"जाह्नवी के तट पर। चंपा-नगरी की एक क्षत्रिय बालिका हूँ। पिता इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जल-समाधि ली। एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनंतता में निस्सहाय हूँ -अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाई। उसी दिन से बंदी बना दी गई।" – चंपा रोष से जल रही थी।

'मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ, चंपा! परंतु दुर्भाग्य से जलदस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी?"

'मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाए।" – चंपा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरूद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपांगों में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में एक संभ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र-वृक्ष पर विलंबमयी राग-रंजित संध्या थिरकने लगी। चंपा के असंयत कुंतल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दांत दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक तरूण बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला। वह थी – कोमलता!

उसी समय नायक ने कहा – "हम लोग द्वीप के पास पहुँच गए।"

बेला से नाव टकराई। चंपा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी उतरे। बुधगुप्त ने कहा – "जब इसका कोई नाम नहीं है, तो हम लोग इसे चंपा-द्वीप कहेंगे।"

चंपा हँस पड़ी।

पाँच बरस बाद –

शरद के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चंद्र की उज्ज्वल विजय पर अंतरिक्ष में शरदलक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चंपा के एक उच्चसौध पर बैठी हुई तरूणी चंपा दीपक जला रही थी।

बड़े यत्न से अभ्रक की मंजुषा में दीप धर कर उसने अपनी सुकुमार ऊँगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर चढ़ने लगा। भोली-भोाली आँखें उसे ऊपर चढ़ते हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गई। चंपा की कामना थी कि उसका आकाशदीप नक्षत्रों से हिलमिल जाए; किंतु वैसा होना असंभव था। उसने आशाभरी आँखें फिरा लीं।

सामने जल-राशी का रजत श्रृंगार था। वरूण बालिकाओं के लिए लहरों से हीरे
और नीलम की क्रीड़ा शैल-मालाएँ बन रही थीं - और वे मायाविनी छलनाएँ -
अपनी हँसी का कलनाद छोड़कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों का
वंशी-झनकार उनके संगीत-सा मुखरित होता था। चंपा ने देखा कि तरल संकुल जलराशि में उसके कंदील का प्रतिबिंब अस्तव्यस्त था! वह अपनी पूर्णता के लिए सैंकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा - "जया!"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील नभोमंडल - से मुख में शुद्ध नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चंपा को रानी कहती; बुधगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आयेंगे, बाहर पूछो तो।" चंपा ने कहा। जया चली गई।

दूरागत पवन चंपा के अंचल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थी। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरूष ने उसकी पीठ पर हाथ रख चमत्कृत कर दिया। उसने फिर कर कहा - "बुधगुप्त!"

"बावली हो क्या? यहाँ बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है?"

"क्षीरनिधिशायी अनंत की प्रसन्नता के लिए क्या दासियों से आकाशदीप जलवाऊँ?"

"हँसी आती है। तुम किसको दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो? उसको, जिसको तुमने भगवान मान लिया है?"

"हाँ, वह भी कभी भटकते हैं, भूलते हैं; नहीं तो, बुधगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चंपारानी!"

"मुझे इस बंदीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक! परंतु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चंपा के उपकूल में पण्य लाद कर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे - इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में तारिकाओं की मधुर ज्योति में - थिरकती थी। बुधगुप्त! उस विजन अनंत में जब माँझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम-तुम परिश्रम से थककर पालों में शरीर लपेटकर एक-दूसरे का मुँह क्यों देखते थे? वह नक्षत्रों की मधुर छाया ... "

"तो चंपा! अब उससे भी अच्छे ढंग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"

"नहीं - नहीं, तुमने दस्युवृत्ति छोड़ दी परंतु हृदय वैसा ही अकरूण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान के नाम पर हँसी उड़ाते हो। मेरे आकाशदीप पर व्यंग कर रहे हो। नाविक! उस प्रचंड आँधी में प्रकाश की एक-एक किरण के लिए हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, जब मैं छोटी थी, मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे - मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती - "भगवान्! मेरे पथ-भ्रष्ट नाविक को अंधकार में ठीक पथ पर ले चलना।" और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते

– "साध्वी! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने संकटों में मेरी रक्षा की है।" वह गद्गद हो जाती। मेरी माँ? आह नाविक! यह उसी की पुण्य-स्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण, जल-दस्यु! हट जाओ।" – सहसा चंपा का मुख क्रोध से भीषण होकर रंग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था। वह ठठाकर हँस पड़ा।

"यह क्या, चंपा? तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो।" – कहता हुआ चला गया। चंपा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

निर्जन समुद्र के उपकूल में वेला से टकरा कर लहरें बिखर जाती थीं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया। अपनी शांत गंभीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन्मलिन किरणों से विरक्त था।

चंपा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गई। तरंग से उठते हुए पवन ने उनके वसन को अस्त-व्यस्त कर दिया। जया के संकेत से एक छोटी-सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चंपा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी।

"इतना जल! इतनी शीतलता! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी? नहीं! तो जैसे वेला में चोट खाकर सिंधु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ?

या जलते हुए स्वर्ण-गोलक सदृश अनंत जल में डूबकर बुझ जाऊँ?" – चंपा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिंब धीरे-धीरे सिंधु में चौथाई-आधा, फिर संपूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निश्वास लेकर चंपा ने मुँह फेर लिया। देखा, तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुधगुप्त ने झुककर हाथ बढ़ाया। चंपा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास-पास बैठ गए।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जलमग्न शैलखंड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चंपा तो?"

"अच्छा होता, बुधगुप्त! जल में बंदी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है।"

"आह चंपा, तुम कितनी निर्दय हो! बुधगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिए नए द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नए राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो. ।कहो, चंपा! वह कृपाण से अपना हृदय-पिंड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे।" – महानाविक – जिसके नाम से बाली, जावा और चंपा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था – घुटनों के बल चंपा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर हरियाली में विस्तृत जल-देश में नील पिंगल संध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी।उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों में भर उठी। उस सौरभ से पागल चंपा ने बुधगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिए। वहाँ एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिंधु का। किंतु उस परिरंभ में सहसा चैतन्य होकर चंपा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुधगुप्त! आज मैं अपने प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!" – चमककर वह कृपाण समुद्र का हृदय वेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज से मैं विश्वास करूँ, क्षमा कर दिया गया?" – आश्चर्य-कंपित कंठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास? कदापि नहीं, बुधगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ? मैं तुम्हें घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अंधेर है जलदस्यु। तुम्हें प्यार करती हूँ।" – चंपा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन संध्या, तम से अपनी आँखें बंद करने लगी थी। दीर्घ निश्वास लेकर महानाविक ने कहा – "इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊंगा, चंपा! यहीं उस पहाड़ी पर। संभव है कि मेरे जीवन की धुँधली संध्या उससे आलोकपूर्ण हो जाए!"

चंपा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैलमाला थी। वह बहुत दूर तक सिंधु-जल में निमग्न थी। सागर का चंचल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाए था। आज उसी शैलमाला पर चंपा के आदि-निवासियों का समारोह था। उन सबों ने चंपा को वनदेवी-सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत-से सैनिक नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चंपा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चंपा के नाविकों को सावधान करने के लिए सुदृढ़ दीप-स्तंभ बनवाया गया था। आज उसी का महोत्सव है। बुधगुप्त स्तंभ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चंपा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढ़ोल बजने लगे। पंक्तियों में कुसुम-भूषण से सजी वन-बालाएँ फूल उछालती हुई नाचने लगी।

दीप-स्तंभ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चंपा ने जया से पूछा – "यह क्या है जया? इतनी बालिकाएँ कहाँ से बटोर लाई?"

"आज रानी का ब्याह है न?" – कहकर जया ने हँस दिया।

बुधगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसे झकझोरकर चंपा ने पूछा – "क्या यह सच है?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो यह सच भी हो सकता है, चंपा! कितने वर्षो से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती में दबाए हूँ।"

"चुप रहो, महानाविक! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ, चंपा! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे!"

"यदि मैं इसका विश्वास कर सकती। बुधगुप्त, वह दिन कितना सुंदर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय! आह! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते!"

जया नीचे चली गई थी। स्तंभ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुधगुप्त और चंपा एकांत में एक-दूसरे के सामने बैठे थे।

बुधगुप्त ने चंपा के पैर पकड़ लिए। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा – "चंपा, हम लोग जन्मभूमि- भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इंद्र और शची के समान पूजित हैं। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश! वह महिमा की प्रतिमा! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है; परंतु मैं क्यों नहीं जाता? जानती हो, इतना महत्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूँ! मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चंद्रकांत मणि ही तरह द्रवित हुआ।

"चंपा! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़तम में मुस्कुराने लगी। पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शांत और एकांत कामना की हँसी खिलखिलाने लगी; पर मैं न हँस सका!

"चलोगी चंपा? पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राजरानी-सी जन्मभूमि के अंक में? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिए प्रस्थान करें। महानाविक बुधगुप्त की आज्ञा सिंधु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोत-पुंज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चंपा! चलो।"

चंपा ने उसके हाथ पकड़ लिए। किसी आकस्मिक झटके ने एक पलभर के लिए दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चंपा ने कहा - "बुधगुप्त! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है; सब जल तरल है; सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए, और मुझे, छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्रणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए।"

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा, चंपा! यहाँ रहकर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँ - इसमें संदेह है। आह! उन लहरों में मेरा विनाश हो जाए।" - महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा - "तुम अकेली यहाँ क्या करोगी?"

"पहले विचार था कि कभी-कभी इस दीप-स्तंभ पर से आलोक जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल से अन्वेषण करूँगी। किन्तु देखती हूँ , मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाशदीप।"

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चंपा ने अपने दीप-स्तंभ पर से देखा - सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़कर पश्चिम-उत्तर की ओर महाजल-व्याल के समान संतरण कर रही है। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चंपा आजीवन उस दीप-स्तंभ में आलोक जलाती रही। किंतु उसके बाद भी बहुत दिन, द्वीपनिवासी, उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश पूजा करते थे।

एक दिन काल के कठोर हाथों ने उसे भी अपनी चंचलता से गिरा दिया।

## आखिरवीं विदा    सूर्यबाला

सुबह से तीन बार रपट चुकी थीं वे।
एक बार, किचेन में टँगी जाली की आलमारी से खीर के लिए इलायची की डिब्बी निकालते हुए।

दूसरी बार, पूजा वाले ताख से भभूती उतारते हुए। और तीसरी बार — बाथरूम में गीला तौलिया टाँगते हुए।

न, कुछ खास नहीं, बस जरा-सी कूल्हे में चिलक... थोड़ी छिली, रक्ताभ कोहनी और कनपटी पर आलमारी के कोने की खरोंच....

लेकिन चोट के दंश और घाव की पीड़ा सहलाने का होश और फुरसत कहाँ?

पति पर इस समय ' पिता' हावी है। उनकी चोट से ज्यादा, एयरपोर्ट पहुँचने में होती देर से चिंतित।

चिंताकुल ' पिता' ने घड़ी देखते हुए, और हड़बड़ाई उन्होंने एक हल्की कराह के साथ मुस्कुराकर खड़ी होते हुए, एक ही वाक्य दुहराया है --
"पौने आठ तक एयरपोर्ट पहुँच जाना है।"
उसने लिखा तो बार-बार है कि आप लोगों को एयरपोर्ट आने की बिल्कुल जरूरत नहीं। मेरे साथ कुछ और लोग भी हैं। आराम से पहुँच जाऊँगा।

पर यह भी कोई बात हुई कि अपनी धरती पर उसके पैर पड़ने के बाद भी पूरे पौने दो घंटे वे दोनों बिना उसे देखे रह जायें!

और उसके घर आने के बाद भी अगर वे रसोई में घुसी, खीर-पूरी, सूखी-गीली सब्जियाँ और किशमिश-छुहारे की चटनी बनाती रहीं तो उसके पास कैसे बैठ पायेंगी?

पूरे सात सालों से तिलतिल कर काटते पल और तलफलाती उतावली का एक अनवरत सिलसिला....

पिता हो गए पति ने मौन तोड़ा —
"मेरा खयाल है कि अब हमें एकदम निकल लेना चाहिए। अरे थोड़ा-बहुत उसके आने पर भी कर लोगी तो क्या.... कोई मेहमान है....अपना बेटा ही तो है।"
"हाँ, उनका बहुत अच्छा बेटा।"

सोचकर ही भीगी किशमिशें जैसे और मीठी हो आई। निकालकर छुहारे की चटनी में मिलाई और उठ लीं।

हाँ, यह एयरपोर्ट गवाह है। इसमें समाये समय के प्रवाह को उलीचकर देखें तो सब कुछ बह जाने के बाद भी उन जैसी माँओं की आँखों की कुछ डबडबी बूँदें थमी रह जायेंगी, अपने-अपने समंदरों के सच की बानगी के रूप में।

हाँ, यह एयरपोर्ट गवाह हैं। सब कुछ जुटापुटाकर उसे लैस कर दिया था, सूटकेस से लेकर अचार बड़ियाँ तक।

आखिरी बार, आँखों से ओझल होने के पहले कुछ पल खड़ा रहा था। थम कर भरी आँखों से देखा था फिर पलटकर चला गया था। सिक्योरिटी में। कितनी देर लुटेपिटे-से खड़े रहे थे दोनों.... फिर अचानक जमीन थर्राई और एयरपोर्ट के काँच के दरवाजे कँपकँपाये.... अंदर की प्राणवायु को ही जैसे चीरते हुए उड़ गया हवाई जहाज.... चलो लौटो... कंधे पर पति हो आये पिता का हाथ पड़ा था।
वे ही इस बार नन्हें बच्चे-से किलके.... "आ गया प्लेन।"
भीड़ पर भीड़, चेहरे पर चेहरे, लेकिन बीचो-बीच से टकटोर लायी दृष्टि।
उचक-उचककर बच्चों की तरह देखते-देखते अचानक — "वह, वह रहा।... "
वैसा ही संजीदा-शांत.... थोड़ा और निखर आया सा।
उसने जरा बाद में देखा। हाथ हिलाकर मुस्कुराया लेकिन परेशान भी हुआ —
"अरे, मना तो किया था। खुद टैक्सी लेके आ जाता न।" और एक विनम्र लाचारी.... "थोड़ा टाइम लगेगा।"

तो क्या.... हुलसे दोनों। निहाल, बेहाल उसे देखते रहे.... इस खिड़की से उस खिड़की जाते, कागज बढ़ाते, क्लियर कराते। अंत में आ गया। एक अपनत्व-भरी मुस्कान से दोनों को तृप्त करता। बेहद धीमे से.... साथ आये लड़कों को, आँखों में समझाया गया... (माता-पिता की तरफ इशारा करके) सॉरी, (अंग्रेजी में) मैं साथ नहीं आ पा रहा।.... ओ•के•!

लड़के जिन्दादिली से हाथ हिलाते पलट लिये... वह इन लोगों के साथ टैक्सी में आ बैठा। माँ की बगल में।
".... कैसी हो मम्मी!"
मगन, गदगद, रोमांच, विकल... खुशी का अतिरेक जैसे सीना फाड़कर निकल जाने को आतुर।
"और आप पापा!"
"मैं?" अचकचा कर आधे शर्माये, आधे पुलकित.... "मैं तो बेटा एकदम फिट्ट हूँ। ये तुम्हारी मम्मी ही दिन-रात, कैसे होगा, कहाँ होगा, कैसे खुद बनाके खाता-पीता होगा... कह-कहकर बिसूरती रहती थी... सोते, जागते बस एक ही रट... "

वह हँस दिया उसी संजीदगी से। लेकिन तत्क्षण एक सतर्क, एलर्टनेस....उधेड़-बुन-सी, इस, इतने प्यार के अतिरेक को कैसे सँभाला जाये... क्या कुछ और कैसे कहा जाये!
तब तक माँ ही पूछ रही थी —
"तू बता, कैसा है... "
"मैं?" अटपटा-सा हो आया वह, फिर हँसकर, "अच्छा हूँ... एकदम तुम्हारे सामने... "
इतना छोटा-सा उत्तर!... जैसे बहुत बड़ी थाली में एक नन्हा-सा कौर! लेकिन इससे बड़ा जवाब आखिर हो भी क्या सकता था!

अच्छा हुआ जो पिता ने तब तक इनफ्लेशन के बारे में पूछ लिया। वह इनफ्लेशन के साथ टेररिज्म, सेफ्टी, सिक्योरिटी, कस्टम सिस्टम.... आदि के बारे में बताता रहा।

समझती हैं वे भी तो यह सब। फिर भी थोड़ी ईर्ष्या हुई पितृत्व से। दुर....वे और पति क्या कोई दो हैं!

आ गया, आ गया घर। भर भी गया, बैगों, सूटकेसों और पैकेटों से। सब कुछ के बीचों-बीच वे अचानक किंतर्त व्यविमूढ़-सी खड़ी रह गयी हैं। क्या दें सबसे पहले खाने को? खीर? दही? या फिर दूध में भींगे पुए। अमावट -- अमावट उसे बहुत पसंद हैं.... गजक भी तो... उसकी सारी पसंद की चीजें घर में ला-लाकर जमायी हुई हैं। लेकिन वह खायेगा क्या? कैसे मालूम हो?

बावली-सी उसके सामने ढेर सारी खाने की चीजों की सूची दुहरा गयीं। थोड़ी खिसियाहट भी लगी। वह उसी तरह बेहद नरमी से मुस्कुराया, "कुछ भी दे दो पर जरा-सा ही... प्लेन में खाया है... "

कुछ भी... कुछ भी आखिर क्या! इतनी सारी चीजों में, जो उसने सात सालों में एक बार भी नहीं चखीं और उसे बहुत पसंद हैं, लेकिन अब दुबारा नहीं पूछेंगी।

दौड़ी-दौड़ी जाकर, थोड़ी-थोड़ी सारी चीजें ही एक प्लेट में सजा लायीं। खुद पर खीझीं भी... इतना कुछ एक साथ देखकर तो वह अभी ही ऊब जायेगा....शायद कुछ भी न खा पाये। वही हूआ।
"अरे... इतनी सारी चीजें!" हँस गया वह जैसे किसी बच्चे ने प्लेट थमाई हो। थोड़ा-सा कुछ लेकर प्लेट वापस कर दी। वे लजायीं, खिसियायी-सी प्लेट वापस लेकर चली गयीं।

मन न माना।
"चाय बना दूँ?"
"रहने दो अभी... कुछ खास मन नहीं।"

पति ने भी आँखों में बरजा –– तुम तो एकदम पीछे ही पड़ गयीं। सो चुप हो लीं।

सब तरफ एक शांत, संजीदी चुप्पी पसरी हुई–सी। अचानक घर और बड़ा, और खाली लगने लगा। कुछ इस तरह जैसे वे सब उस बहुत फैले खालीपन को भरने के लिए एक–दूसरे से बचा–बचाकर जी–जान से कोशिश किये जा रहे हैं। साथ–साथ ही डर भी कि कहीं उनमें से कोई यह सूनापन, भाँप न ले। लगातार यह सोचते हुए कि अब क्या पूछा जाए, क्या कहा जाए... क्या किया जाए!
तब तक उसे याद आया, ठहरो, मैं सूटकेस खोलता हूँ। और उसने विदेशी लेबलों से लैस शर्ट, साड़ियाँ, घड़ी, पैंट जैसी तमाम चीजों के पैकेट निकाल लिये। फिर उन्हें दो हिस्सों में कर, उन दोनों के सामने बढ़ा दिया... "ये पापा आपके लिए.. और ये तुम्हारे लिए मम्मी... " फिर थोड़ी–सी बची चीजें उनकी ओर बढ़ाता बोला... "ये सब जिसे–जिसे ठीक समझना दे देना... "

अब? जैसे एक और रास्ता बंद! फिर से बात खत्म!

इतने दिनों से जो कुछ एक तेज बहाव के साथ बह जाना चाहता था, वह सब वहीं का वहीं दीवालों में चिन गया हो जैसे।

उफ! क्यों नहीं पूछतीं, क्यों नहीं कहती वह सब जिसके लिए पूरे सात सालों से तरस रही थीं... समेट लें उसका माथ अपनी गोदी में, दुलार लें जी भर कर....या फिर रो ही लें हिलककर... कि कैसे आधी–आधी रातों, अचानक बढ़ी धड़कनों के बीच नींद खुल जाती... एकदम से हौंस उठती कि तू क्या कर रहा होगा। रात का दिन, दिन की रात होता है न वहाँ, तो जागा कि सोया... कैसा लगता होगा... और फिर एकदम से उसे देखने की बेकली तलफला उठती....तकिया भीग जाता। पिता भी न जान पाते...

लेकिन कहा सिर्फ इतना —
"नहायेगा तू?"
"ऊँ? नहा लूँ?"
"न मन हो तो रहने दे... "
"हाँ, थोड़ी सुस्ती–सी लग रही है... नींद भी।" ओह... कितनी स्वार्थी हैं वे भी — उसके जैट–लैग वाली बात तो एकदम भूल गई थीं। डेढ़ दिनों के रात–दिन का उलटफेर....उसे बुरी तरह थकान और नींद से बोझिल कर रहा होगा।

हड़बड़ी मच गयी उनके अंदर–बाहर। जल्दी से जल्दी खाना गर्म कर लगाने की उतावली।

(या फिर उस सनाके से उबरकर अति व्यस्त हो जाने की तृप्ति!)

डोंगे पोंछे, सजाए। रसे का नमक दुबारा आँखें बचाकर चखा। हड़बड़ी में दो बार जलीं। दो बार जलते–जलते बचीं। तीन बार ऐनक रख–रखकर भूली। बिना ऐनक काम करने की कोशिश में एकाध चीजें डोंगे से छलकीं भी।

सात साल पहले भी तो ये ही सारी चीजें बनायी थीं पर कुछ भी जला, छलका नहीं था। रूआँसी–सी हो आयीं। पति को बुलाया।
वह भी दौड़ा आया। क्या? क्या हुआ? लाओ, मैं ले चलता हूँ। लेकिन तुमने इतना सब क्यों बनाया... सब कुछ एक साथ ही... उसके कहे में प्यार ज्यादा था या परेशानी और खीझ... पर तुरंत के तुरंत वह सब छुपा, बुजुर्गियत से भरी

एक समझदार सहानुभूति झलकी उसके चेहरे पर।

सँभाल–सँभालकर वह मेज पर माँ को परसने में मदद करता रहा। ज्यादातर चीज तो उनके भरपूर परसने के पहले ही लपककर... "लाओ मैं खुद ले लेता हूँ
न!"... यानी अपनी जरूरत मुताबिक, बहुत जरा–सा।
"अच्छा, बहुत अच्छा बना है सब कुछ। खीर रख देना, शाम को भी खाऊँगा लेकिन अभी बस दो चम्मच।"
उन्होंने लक्ष्य किया, वह मुश्किल से खा पा रहा था, थकान, नींद से बोझिल। "जा, सो रह।".... तीन रातों का उलटफेर ... सो गया वह। पति भी।

वे टेबिल, किचन सलटाती रहीं। पोंछना–पाछना, बचा–खुचा समेटना। बीच–बीच में जाकर हौले से कमरे में झाँक आना। कहीं उठा तो नहीं वह! कहीं जागा तो नहीं! उसे कुछ चाहिए तो नहीं! शरीर थकान से लस्त लेकिन मन बौड़ियाया पाखी। घूमफिर वही।

खीझकर खुद को ही फटकारा। अब जब मुहलत मिली है तो क्यों नहीं दो घड़ी हाथ–पैर सीधे कर लेतीं? पहर बीतते न बीतते फिर शाम के चरखे शुरू हो जायेंगे। सोचकर पड़ रहती हैं चटाई डाल... वही उसके कमरे के आसपास। कहीं उसे कुछ चाहिए हुआ तो? संकोच के मारे उन्हें जगायेगा नहीं, जानती हैं।

पर पड़े–पड़े भी आँखें कहाँ झपीं। दृष्टि पंखे से बल्ब, बल्ब से रोशनदान और रोशनदान से धूप के फूल टटकोरती रही। बचपन में दो के पहाड़े से भी पहले अद्धे, पौने के पहाड़े रटाये गये थे। समय बिल्कुल उन्हीं अद्धे–पौने के बीच से गुजर रहा था। एक–एक घड़ी जरूरत से ज्यादा टिकती हुई। समय जैसे एक गुफा हो और वे घुट रही हों उसमें। शापित हो, रोशनदान, घड़ी, पंखे और छनकर आते धूप के फूल टटकोरने के लिए। अचानक रोशनदान पर नज़र पड़ते ही चिहुँक–सी गई। कहीं धूप की चौंध तो नहीं आ रही उसके बिस्तर पर! बिस्तर पर, तो आँखों पर भी। उसे पर्दे खींचने को कह देना था।

चलो खिड़की या पर्दा बंद कर दूँ बहुत आहिस्ते से...

और जग गया वह। कुनकुनाकर उठा। अपराधिनी–सी पकड़ी गई वे। कोसने लगीं खुद को ही... जाने मुझे क्या सूझी पर्दा खिसकाने की... लेकिन वह संयत भाव से उठ जाता है... "कोई बात नहीं, फिर सो लूँगा... "
"चाय लाऊँ?"
"हाँ... लाओ... "
उनके जाने पर वह नींद से बोझिल आँखों पर पानी डालता रहा।
वे उमगती हुई, चाय के साथ वापस ढेर सारी चीजें सजा लाती है।
"ओह मम्मी... " वह परेशान–सा हँसता रहता है, "अभी इतना तो खाया न... बस चाय... "
उनके चेहरे की अकुलाहट लक्ष्य करता वह खुद ही चुप्पियों के बीच बड़े यत्न से पूछता है... "और मम्मी... कैसे हैं सब लोग... "

बवंडर, तूफान, आँधी... कैसी हलकोर–सी मचाता है यह सवाल! यहीं एक वाक्य जब वह महीने पंद्रह दिनों पर फोन पर पूछता था तो उनका रोम–रोम तृप्त हो जाता था...सवाल अपने आप में एक खुशखबरी हुआ करता था। उतनी दूर से वह सबकी कुशल–क्षेम के लिए अधीर है... आधे मिनट में, वे जल्दी से सभी के कुशल–क्षेम, आशीष पहुँचाती... विभोर, गद्‌गद यह भी, कि वह चिंता न करे, अच्छे से रहे... 'ओ• के• मम्मी... "

लाइन कट जाती थी। उसकी आवाज का छोर हाथ से छूट जाता था। तब भरपूर तृप्ति के बीच भी अंदर एक बेबसी निचुड़ती थी। वह कितना कुछ पूछना चाहती हैं! वे कितना कुछ बताना चाहती हैं... लेकिन!

लेकिन आज जब वह एकदम उनके पास आ गया और पूरे इत्मीनान से चाय की चुस्कियों के साथ पूरा समय देता, उनसे पूछ रहा है... "और मम्मी कैसे हैं सब लोग!" तो वे एकदम चुप-सी हो रही हैं। उन्हें लगने लगता है जैसे इस सवाल के साथ जुड़े सारे सरोकार खत्म हो चुके हैं।

नहीं... छिः! यह बात नहीं। असल में उनकी समझ में नहीं आ रहा कि इस सवाल के जवाब के सिलसिले को कहाँ से शुरू करें। फोन पर अच्छा रहता था, एकदम हड़बड़ी में जल्दी से काटकर थमाया, समय का एक छोटा टुकड़ा भर ही... लेकिन अब? समय तो इफरात है फिर भी... फिर क्यों नहीं निश्चय कर पा रहीं कि कितना बड़ा या कितना छोटा जवाब उसे चाहिए...

हठात उन्हें लगता है, सारे अंतहीन सिलसिले एकदम से खत्म होने को आ गए।

समझ रहा है। शायद वह भी। इसलिए मन-मन कुछ ठीक-ठाक, ज्यादा विश्वसनीय सवालों के जुगाड़ कर रहा है... आत्मीयता और सरोकार भरे।
"बिजनौर वाली मामी कैसी है मम्मी?... और रचना की शादी..."
"बात तो चल रही थी कई जगहों पर। जो भी लड़के अच्छे मिलते हैं, उनकी उम्र रचना से कम ही ठहरती है... दद्दा के गुजरने के बाद खुद भी इधर बीमार ही चल रही हैं... "
"ओह... एक दिन जाकर आऊँगा... और अविनाश चाचा? रतलाम वाले फूफा जी? उनके भाई... उनकी लड़की... उनके देवर... "

गढ़ी हुई जिज्ञासाओं का एक समूचा सिलसिला। सवाल ऐसे चल रहे हैं जैसे रूक-रूककर किसी तरह मरम्मत करके चलाने के लायक बनाए गए कलपुर्जे नहीं साहब... ठीक-ठाक तो हैं... बढ़िया से काम ले दे रहे हें कलपुर्जे...

एक अजीब-सी घबराहट पसर रही है। अब इसके बाद? क्या सचमुच सारे सिलसिले खत्म!... क्या इन्हें वापस उस छोर से नहीं बाँधा जा सकता, जहाँ ऊदे स्वेटर पर सफेद ऊन से उसके नाम का पहला अक्षर बुन दिये जाने पर उसके आँखों की खुशी छुपाये नही छुपती थी... डर भी तो नहीं छुपता था, जब 'अगिया-बैताल' का डरावना सपना देखकर उनकी बाहों में दुबक जाता था। या फिर दवात सहित पूरी स्याही उलट जाने पर, पापा तक बात न पहुँच पाने का वायदा... इन जैसे या इसके अलावा भी, कही भी जाने, कुछ भी पाने की आश्वस्ति। सीधा हठ, सीधा आक्रोश और सीधा प्यार पाना या जताना भी इतना कठिन-सा क्यों हो उठा है?...

कहीं ये सिलसिले एकतरफा तो नहीं हो गए हैं? मात्र उनकी भावनात्मक तृप्ति के लिए जुटायी जाने वाली समिधा! अन्यथा जो कुछ है, जितना भी, वह खुलकर सामने क्यों नहीं आता!...

अचानक उन्हें लगा, इतना आसान नहीं है किसी रिश्ते को एकदम पोटली की तरह खोल देना... खोलकर भर हाथों चारों ओर छितरा देना खुद वे ही क्या कर पा रही हैं! शायद कुछ रिश्ते जिंदगी की नींव का काम देते हैं। फिर नींव चिनती चली जाती है और ऊपर पुख्ता दीवारें उठती चली जाती हैं। एक नई इमारत, एक नई दुनिया आपसे आप। एक विकास यात्रा, उम्र के पड़ावों पर ठहर-ठहरकर चलती हुई।

एक तरफ केंचुल-सी छूटती जाती उम्र और दूसरी तरफ अतीत की गली में भटकते माँ-बाप...

सात वर्ष का लंबा समय उसे भी बहुत आगे ले जा चुका है। अब उसे बहुत झुककर बहुत पीछे मुड़कर छूनी पड़ती है, एक-एक छूटी चीज, रिश्ते, प्राथमिकताएँ...और वह किस कदर बेइंतहा कोशिश कर रहा है...

हठात दया–सी हो आई उस पर। एक अन्याय–सा होता लगा।
टटोला...
"तू...थक गया होगा न!"
"न...नहीं तो...बल्कि तुम ज्यादा थकी लग रही हो...मैं तो अभी कितनी भी देर बातें कर सकता हूँ तुमसे..."
उफ! कितनी जद्दोजहद के बीच से की गई एक ईमानदार कोशिश। "तुझे सब कुछ बदला–सा लग रहा होगा न!" वह झिझका, सहमा..."अँ? हँ ऽऽ आँ....थोड़ा–थोड़ा। बहुत दिनों बाद लौटा हूँ न।"

उन्हें लगा, पूछ पाता तो शायद यह भी पूछता और कितने पीछे लौटा ले जाना चाहती हो तुम मुझे...आगे–पीछे एक साथ चलने में मुश्किल भी तो पड़ती है...तुम्हारे लिए आसान हैं माँ, निरंतर पीछे की अतीतगामी यात्राएँ...क्योंकि वर्तमान और सामने आते भविष्य का अकेलापन और सन्नाटा तुम्हें आतंकित करता है...इसलिए तुम निरंतर चहल–पहल भरे अतीत में ही पनाह ढूँढ़ती हो।...लेकिन मैं...मैं तो सिर्फ अतीत या वर्तमान में नहीं रूक सकता न! मेरे लिए तो समय और उम्र चढ़ते हुए सूरज की सीढ़ियाँ हैं।

बेल बजी –– सिर्फ पिता रह गए पति लौट आये थे।...एक छुटकारे की सी साँस, हल्की हो आई। लेकिन तत्क्षण अपने आप से कोई चोरी–सी करते पकड़ जाने का अहसास!
हल्कापन यानी छुटकारा? ––
अपने बहुत अच्छे बेटे के पास से हट आने पर!

वह साढ़े तीन दिन रहा।

वे चिमटे, कलछी से हाथ जलाती, पुए तलती रहीं। बादाम की कतलियाँ बुरकती रहीं। उससे कपड़े बाथरूम में छोड़ देने की जिद करती रहीं।

उसे, सात साल से छूटी कपड़े की आलमारी में कपड़े टाँगते, शीशे में कंघी करते देखती रही...देख–देखकर निहाल होती रहीं। जगते में ही नहीं सोते में भी....बीच–बीच में कमरे में झाँक, देख जाती रहीं।

लेकिन अंतिम दिन, आधी रात जब उद्विग्न पिता ने डूबी–सी आवाज में उनके कंधे पर हाथ धर कर कहा –– "...कैसा लगता है न...कल चला जाएगा वह..."

तो उनकी आँखों में जो दो भरपूर आँसू डबडबा आये, उन्हें पिता ने शायद नहीं समझा। पिता ने समझा, यह तो होना ही था। बेटा जाता है सुबह, फिर न जाने कितने सालों के लिए!

इसलिए दिलासे की थपकी दी...घबराओ नहीं, फिर से कुछ ही सालों में लौटकर आयेगा न, जैसे इस...

छाती पर जैसे कोई समंदर हरहरा उठा। पछाड़ खा–खाके लहरें चकनाचूर होती रहीं...बोल पातीं तो कहतीं...नहीं...और कितनी बार लौटायेंगे हम उसे और कहाँ तक ...

## आर्द्रा   मोहन राकेश

बचन को थोड़ी ऊंघ आ गई थी, पर खटका सुनकर वह चौंक गई। इरावती डयोढ़ी का दरवाजा खोल रही थी। चपरासी गणेशन आ गया था। इसका मतलब था कि छः बज चुके होंगे। बचन के शरीर में ऊब और झुंझलाहट की झुरझुरी भर गई। बिन्नी न रात को घर आया था, न सुबह से अब तक उसने दर्शन दिये थे। इस लड़के की वजह से ही वह परदेस में पड़ी हुई थी, जहां न कोई उसकी जबान समझता था, न वह किसी की जबान समझती थी। एक इरावती थी, जिससे वह टूटी-फूटी हिन्दी बोल लेती थी, हालांकि उसकी पंजाबी हिन्दी और इरावती की कोंकणी हिन्दी में जमीन-आसमान का अन्तर था। जब इरावती भी उसकी सीधे-सादे शब्दों में कही हुई साधारण-सी बात को न समझ पाती, तो वह बुरी तरह अपनी विवशता के खेद से दब जाती थी और इस लड़के को रत्ती-भर चिन्ता नहीं थी कि मां किस मुश्किल से दिन काटती है और किस बेसब्री से मेरा इन्तजार करती है। आये तो घर आ गए, नहीं तो जहां हुआ पड़े रहे।

एक मादा सुअर अपने छः बच्चों के साथ, जो अभी नौ-नौ इंच से उंचे नहीं हुए थे, कुएं की तरफ से आ रही थी। तूते के बुड्ढ़े पेड़ के पास पहुंचकर उसने हुंफ्-हुंफ् करते हुए दो-तीन बार नाली को सुंघा और पेड़ के नीचे कीचड़ में लोटने लगी। उसके नन्हें आत्मज उसके उठने की राह देखते हुए वहीं आस-पास मंडराने लगे।

दिन-भर गली में यही सिलसिला चलता था। आसपास सभी घरों ने सुअर पाल रखे थे। बस्ती में लोगों के दो ही धन्धे थे — सुअर पालना और नाजायज शराब निकालना। ये दोनों चीजें उनके दैनिक आहार में सम्मिलित थीं। बस्ती सांटाकुज के हवाई अड्डे से केवल आधा मील के फासले पर थी, पर पुलिस की आंख वहां नहीं पहुंचती थी। मोनिका का बाप जेकब गली में ही भट्ठी लगाता था। वह गली का सबसे बड़ा पियक्कड़ माना जाता था और अक्सर पी कर गली में गाता हुआ चक्कर लगाया करता था, ' ओ दॅट आई हैड विंग्ज ऑफ एंजल्स, हियर टू स्प्रेड एण्ड हैवन वर्ड फ्लाऽऽऽई...... ।'

उस समय वह रोज की तरह कुएं के मोड़ के पास से लड़खड़ाता आ रहा था। उसके शब्द बचन की समझ के बाहर थे, परन्तु उसका स्वर उसके हृदय में दहशत पैदा करने के लिए काफी था, 'ओ दॅट आई हैड विंग्ज ऑफ एन्जल्स, हियर टु स्प्रेड एण्ड हैवनवर्ड फ्लाऽऽऽई! होई-हो! हो-हो-होऽऽऽ! ओ दॅट आई हैड विंग्ज ऑफ एन्जल्स.'

उसका चौडा-चौकोर चेहरा वैसे ही भयानक था, अपने ढीले-ढाले काले सूट में वह और भयानक दिखाई देता था। चेचक के दागों और झुर्रियों से भरा उसका चेहरा दीमक खाई लकड़ी की याद दिलाता था। दूर से ही उस आदमी की आवाज सुनकर बचन का दिल धड़कने लगता था और वह अपना दरवाज़ा बन्द कर लेती थी। उसने कितनी ही बार बिन्नी से कहा था कि वह उस बस्ती से मकान बदल ले, पर वह हर बार यह कहकर टाल देता कि बम्बई की ओर किसी बस्ती में बीस रूपये महिने में उतना अच्छा मकान नहीं मिल सकता। बचन डर के मारे बिन्नी के आने तक लालटेन की लौ भी ज्यादा ऊंची नहीं करती थी। अंधेरा बहुत बोझिल प्रतीत होता था पर वह मन मार कर बैठी रहती थी।

लालटेन की चिमनी नीचे से आधी काली हो रही थी। बचन को उसे साफ करने का उत्साह नहीं हुआ। अंधेरा होने लगा तो उसने जैसे कर्तव्य पूरा करने के लिए उसे जला दिया और अज्ञात देवता के आगे हाथ जोड़ने की प्रकिया पूरी करके घुटनों पर बाहें रखकर बैठ रही। सामने मोढ़े के नीचे लाली का कार्ड रखा था। वह उन अक्षरों की बनावट जानती थी, पर हजार आंखें गड़ाकर भी उनका अर्थ नहीं जान सकती थी। बिन्नी के सिवा हिन्दी की चिट्ठी पढ़ने वाला वहां कोई न था। बिन्नी से चिट्ठी पढ़वाकर भी उसे सुख नहीं मिलता था। वह लाली की चिट्ठी इस तरह पढ़ कर सुनाता था, जैसे वह उसके बड़े भाई की चिट्ठी न हो कर गली से किसी गैर आदमी के नाम आई किसी नावाकिफ़ आदमी की चिट्ठी हो। दो मिनट में वह पहली सतर से लेकर आखिरी सतर तक सारी चिट्ठी बांच देता था और फिर उसे कोने में फेंक कर अपनी इधर-उधर की हांकने लगता था। हर बार उससे चिट्ठी सुनकर वह कुढ़ जाती थी, पर बिन्नी उसे नाराज़ देखता तो तरह-तरह की बातें बनाकर उसे खुश कर लिया करता था।

उसे खुश होते देर नहीं लगती थी। बिन्नी इतना बड़ा हो कर भी जब–तब उससे बच्चों की तरह लाड़ करने लगता था। कभी उसकी गोद में सिर रखकर लेट जाता और कभी उसके घुटनों से गाल सहलाने लगता। ऐसे क्षणों में उसका हृदय पिघल जाता और वह उसके बालों पर हाथ फेरती हुई उसे छाती से लगा लेती।
"मां, तेरा छोटा लड़का कपूत है न!" बिन्नी कहता।
"हां–हां" वह हटकने के स्वर में कहती, "तू कपूत है? तू मेरे चन्ना..... ?" और वह उसका माथा चूम लेती ।

लेकिन अक्सर वह बहुत तंग पड़ जाती थी। अनेक रातें ऐसी गुजरती थीं जब वह घर आता ही नहीं था। अंधेरे घर की छत उसे दबाने को आती थी और यह सारी रातें करवटें बदलती रहती थी। ज़रा आंख झपकने पर बुरे–बुरे सपने दिखाई देने लगते थे। इसलिए कई बार वह प्रयत्न करके आंखें खुली रखती थी।
और वह आता था तो अपने में ही उलझा हुआ व्यस्त–सा।

वह नहीं समझ पाती थी कि उसे किस चीज की व्यस्तता रहती है। जहां तक कमाने का सवाल था, वह महीने में कठिनता से साठ–सत्तर रूपये घर लाता था। कभी दस रूपये अधिक ले आता तो साथ ही अपनी पचास मांगें उसके सामने रख देता —"इस बार मां, दो कमीज़ें सिल जाएं और एक बढ़िया–सा जूता आ जाए।" उसकी बातों से बचन के होठों पर रूखी सी मुस्कुराहट आ जाती थी। दस रूपये में उसे घर–भर का सामान चाहिए। और जब वह साठ से भी कम रूपये लाता, तो महिने भर की बड़ी आसान योजना उसके सामने प्रस्तुत कर देता –– 'दूध–दही का नागा, दाल, प्याज खुश्क फुलके और बस ..... !'

वह जानती थी कि ये रूपये भी वह टयुशन–वुशन करके ले आता है, वरना सही अर्थ में वह बेकार है। उसके दिल में बड़े–बड़े मनसूबे अवश्य थे और उनका बखान करते समय वह छोटा–मोटा भाषण दे डालता था; परन्तु उन मनसूबों को पूरा करने के लिए जिस दुनिया की जरूरत थी, वह दुनिया अभी बननी रहती थी और वह जोश से उंगलियां नचा–नचा कर कहा करता था कि मां, वह दुनिया बन जायेगी तो तुझे पता चलेगा कि तेरा नालायक बेटा कितना लायक है!
'चुप रह खतम रखना!' वह प्रशंसा की दृष्टि से उसे देखती हुई कहती, 'बड़ा लायक एक तू ही है।'
'मां, मेरी लियाकत मेरे पेट में बन्द हैं।' वह हंसता। 'जिस तरह हिरन के पेट में कस्तूरी बन्द होती है न, उसी तरह। जिस दिन वह खुल कर सामने आएगी उस दिन तू अचम्भे से देखती रह जायेगी।'

उसे उसकी बातें सुनकर गर्व होता था। पर कई बार वह बहुत गुम–सुम और बन्द–बन्द सा रहता था, तो उसे उलझन होने लगती थी। और उसके साथ उसके अजीब–अजीब दोस्त घर आया करते थे। उन लोगों का शायद कोई ठोर–ठिकाना नहीं था, क्योंकि वे आते तो दो–दो दिन वहीं पड़े रहते थे और खाने–पीने में निहायत बेतकल्लुफ़ी से काम लेते थे। चूल्हे से उतरती हुई रोटी के लिए जब वे आपस में छीना–झपटी करने लगते, तो उसे आन्तरिक प्रसन्नता का अनुभव होता था। परन्तु प्रायः उसकी दाल की पतीली खाली हो जाती थी और यह देखकर कि उन लोगों की खाने की कामना अभी बनी हुई है, उसे घर का अभाव अपना अपराध प्रतीत होता था। ऐसे समय उसकी आंखों में नमी छा जाती और वह ध्यान बंटाने के लिए अन्य काम करने लगती। वे लोग रूखी नमकीन रोटियों की फरमाइश करते तो वह चुपचाप बना देती, परन्तु उन्हें खिलाने का उसका सारा उत्साह समाप्त हो चुका होता।

और उन लोगों के बहस–मुबाहिसे कभी शान्त नहीं होते थे। वे सब जोर–जोर से बोलते थे और इस तरह आपस में उलझ जाते थे; जैसे उनकी बहस पर धरती और ईश्वर की सत्ता का दारोमदार हो। कई बार वे इतने गरम हो जाते थे कि लगता था, अभी एक–दूसरे को नोंच डालेंगे; मगर सहसा उस उत्तेजना के बीच से एक कहकहा फूट पड़ता और वे उठ–उठ कर एक–दूसरे से बगलगीर होने लगते। बिन्नी बचपनमें बहुत खामोश लड़का था। अब उसे इस तरह हुड़दंग करते देखकर उसे आश्चर्य होता था। कई–कई घण्टे घर में तूफान मचा रहता था। उसके बाद फिर नीरवता छा जाती, जो बहुत ही अस्वाभाविक और दम घोटने–वाली प्रतीत होती थी। जब बिन्नी दो–दो दिन घर नहीं आता, तो उस नीरवता के ओर–छोर गुम हो जाते और वह अपने को सदा से गहरे शून्य एकान्त में पड़ी हुई महसूस करती।

अंधेरा गहरा होने लगा और मोनिका का बाप जा कर अपने कमरे में बन्द हो गया, तो उसने दरवाजा खोल दिया। मादा सूअर और उसके बच्चे सामने घर के आहते में डेरा जमाए थे और एक मोटा सुअर नाली के पास हुंफ्-हुंफ् कर रहा था। हवा तेज हो गई थी और तूत के बुढ्ढे पेड़ की डालियां बुरी तरह हिल रही थीं। आसमान का जो छोर दिखाई देता था, वहां रह-रहकर बिजली चमक जाती थी। दो महिने से प्रायः रोज ही वर्षा हो रही थी। घर से कुएं तक गली में कीचड़-कीचड़ भरा रहता था।

इस कीचड़ के लिए बचन को लड़के-लडकियों की उन टोलियों से गिला था, जो वर्षा आरम्भ होने से पूर्व आधी-आधी रात तक गली में घूमती हुई तार-स्वर में ईश्वर से पानी बरसाने का अनुरोध किया करती थी। अब जैसे उन्हीं की वजह से सारा दिन गली में चिपड़-चिपड़ होती रहती थीं।

डयोढ़ी के दरवाजे पर फिर दस्तक हुई। इरावती ने दरवाजा खोल दिया और बिन्नी उधर से मुस्कुराता हुआ अन्दर आ गया।

"आगे की तरफ बहुत कीचड़ है; भाभी, माफ करना," कहता हुआ वह अपने कमरे में आ गया। इरावती ने उस पर एक शिकायत की नज़र डालकर दरवाजा बन्द कर लिया। उसके सिर के बाल बुरी तरह उलझे हुए थे और कुर्ता पाजामा बहुत मुचड़े हुए थे। यह स्पष्ट था कि वह सुबह जिस हाल में सो कर उठा था, अभी तक उसी हाल में था और अब तक उसे मुंह-हाथ धोने का समय भी नहीं मिला था।

"मां, जल्दी से रोटी डाल दे, भूख लगी है।" उसने आते ही चारपाई पर पैर फैलाते हुए आदेश दिया। बचन चुपचाप अपनी जगह पर बैठी रही। न उठी और न ही उसने मुंह से कुछ कहा। कुछ क्षण प्रतिक्षा करने के बाद बिन्नी ने सिर उठाया और कहा, "मां, रोटी .... !"

"रोटी आज नहीं बनी है," बचन बोली, "मुझे क्या पता था कि लाट साहब आज भी घर आयेंगे कि नहीं? रात की रोटी मैंने सबेरे खाई, सबेरे की अब खाई। मैं किस तरह रोज-रोज बासी रोटी खाती रहूं? किसी तन्दूर पर जा कर खा आ।"

बिन्नी हंसता हुआ उठ बैठा और मां के मोढ़े के पास चला गया।

"यहां तंदूर हैं कहां, जहां जा कर खा लूं?" वह बोला, "मेरे हिस्से की जो बासी रोटी रखी थी, वह तूने क्यों खाई? मेरी वाली रोटी दे ..... ।" और वह मां का घुटना पकड़कर बैठ गया।

"मेरे पेट से निकाल ले अपनी बासी रोटी!" बचन ने वाक्य आरम्भ किया था मीठी झिड़की के रूप में, पर समाप्त करते-करते उसकी आंखें गीली हो गई।

बिन्नी ने उसकी गीली आंखें नहीं देखीं। वह उठ कर रोटी वाले डिब्बे के पास चला गया और बोला, "डिब्बे में रखी होंगी, जरूर होंगी ।"

बचन ने उसकी नजर बचाकर अपनी आंखें पोंछ लीं। बिन्नी रोटी वाला डिब्बा लिये हुए उसके सामने आ बैठा। डिब्बे में कटोरा-भर दाल के साथ चार रोटियां एक कपड़े में लपेटकर रखीं थीं। बिन्नी ने जल्दी से एक रोटी तोड़ ली!

"यह तो ताजी रोटी है! " वह ग्रास मुंह में ठूंसे हुए बोला।
"बांसी रोटी खाने को मां जो है! " कहकर बचन उठ खड़ी हुई।
उसने पानी का गिलास भरकर उसके पास रख दिया। बिन्नी ने एक घूंट में गटागट गिलास खाली कर दिया और बोला,

"और!"
बचन ने गिलास उठा लिया और सुराही से उसमें पानी उंडेलती हुई बोली, "लाली का कार्ड आया है।"

"अच्छा!" कहकर बिन्नी रोटी खाता रहा। उसने कार्ड के सम्बन्ध में जरा जिज्ञासा प्रकट नहीं की। बचन का दिल दुख गया। वह गिलास बिन्नी के आगे रखकर बिना एक शब्द कहे अहाते में चली गई और चारपाई पर दरी डाल कर पड़ गई उसका दिल उछलकर आंखों में बह आने को हो रहा था, पर वह किसी तरह चेहरा सख्त करके अपने को रोके रही। थोड़ी देर में बिन्नी जूठे पानी से हाथ धोकर, मुंह पोंछता हुआ अन्दर आ गया।
"कहां है कार्ड?" उसने पूछा।
"कहीं नहीं है।" बचन ने रूंधे हुए स्वर में कहा और करवट बदल ली।
"अब बता भी दे न, जल्दी से सब समाचार पढ़ दूं।"
"सो जा, मुझे कोई समाचार नहीं पढ़वाना है।"
"पढ़वाने क्यों नहीं हैं, मैं अभी सब सुनाता हूं," कहकर बिन्नी अन्दर चला गया और कार्ड ढूंढकर ले आया। साथ लालटेन भी उठा लाया।
आधे मिनट में उसने सरसरी नज़र से सारा कार्ड पढ़ डाला।

"भैय्या की तबीयत ठीक नहीं हैं," वह लालटेन जमीन पर रखकर मां की चारपाई के पैताने बैठ गया। बचन सहसा उठकर बैठ गई। बिन्नी ने गुन-गुन कर के पहली डेढ़ पंक्ति पढ़ी और फिर से सुनाने लगा। लाली ने लिखा था कि उसका ब्लडप्रेशर फिर बढ़ गया था, डॉक्टरने उसे आराम करने की सलाह दी है। कुसुम का स्वास्थ्य अब ठिक है और उसका रंग लाली पर आ रहा है। उन्होंने मकान बदल लिया है, क्योंकि पहला घर हवादार नहीं था। और बच्चों को वहां से स्कूल जाने में भी दिक्कत होती थी। अब दीवाली पास आ रही है इसलिए बच्चे मां को बहुत याद करते हैं। मां को गये छः महिने से ऊपर हो गए हैं, इसलिए सबका दिल मां के लिए उदास है।

"इस के बाद सब की नमस्ते हैं।" कहकर बिन्नी ने कार्ड रख दिया।
"यह नहीं लिखा कि किस डॉक्टर का इलाज चल रहा है?"
"तू जैसे वहां के सब डॉक्टरों को जानती है।"
बिन्नी ने बात अनायास कह दी थी, पर बचन का हृदय छिल गया। उसके चेहरे पर फिर कठिनता आ गई।
"मैं कल वहां चली जाती हूं" उसने कहा।
"तू चली जायेगी तो मैं अकेला कैसे रहूंगा? मेरी रोटी .... ?"

बचन ने वितृष्णा से उसके चेहरे को देखा, जिसका अर्थ था कि क्या तेरी रोटी उसकी जान से ज्यादा प्यारी है?
"तू कौन घर की रोटी पर रहता है," मुंह से उसने इतना ही कहा।
"भैय्या का ब्लडप्रेशर कोई नया तो नहीं ..... " बिन्नी फिर कहने लगा।
"तू रहने दे, मैं कल जा रहीं हूं," बचन ने उसे बीच में ही काट दिया। कई क्षण दोनों खामोश रहे। फिर बिन्नी 'अच्छा' कहकर उठ गया।

अगले दिन सुबह ही वह 'अभी थोड़ी देर में आऊंगा' कहकर गया और दोपहर तक लौटकर नहीं आया। बचन का किसी काम में दिल नहीं लग रहा था। फिर भी उसने खाना बनाया और घर के सभी छोटे-मोटे काम पूरे किए। बिन्नी की चारों-पाचों कमीजें ले कर उनके टूटे हुए बटन लगा दिए। फिर उसने अपनी दरी और कपड़े एक जगह इकट्ठे कर लिये। यह निश्चित नहीं था कि वह उस दिन वहां से जा पाएगी या नहीं। बिन्नी सुबह उसे निश्चित कुछ बता कर नहीं गया था। यह भी सम्भव था कि बिन्नी के पास किराये के लिए पैसे हों ही नहीं। महिने की उन्नीस तारीख थी और उन्नीस तारीख को उसके पास कभी पैसे नहीं रहते थे। उस स्थिति में उसे तीन-चार तारीख तक अपना जाना स्थगित करना होगा। वह यह भी नहीं जानती थी कि दीवाली कौन तारीख को पड़ेगी। वह सोचने लगी कि इस बीच लाली की

तबीयत ज्यादा खराब न हो जाए। उसे ज्यादा ही तकलीफ होगी, जो उसने चिट्ठी में लिखा है, नहीं वह चिट्ठी में कभी न लिखता। यह पंद्रह–बीस दिन यहां से न जा सकी तो .... ?

तभी बिन्नी आ गया। उसके साथ उसका लम्बे बालों वाला दोस्त शशि भी था, जिसकी गरदन बात करते हुए तोते की तरह हिलती थी। वह उसकी दाल का सबसे बड़ा प्रशंसक था। आते ही दाल की फरमाइश करता था। सदा की तरह वे गली से ही उंचे स्वर में बातें करते हुए आये।

"टिकट ले आया हूं, " बिन्नी ने आते ही कहा। "मंगलवाडी से शशि को साथ लिया और वहीं से टिकट भी ले लिया। परन्तु तू अभी तैयार ही नहीं हुई .....! "
"तैयार क्या होती? तू मुझसे कहकर गया था .... ?"

"जब रात को तय हो गया था, तो सुबह कहने की क्या जरूरत थी? अब जल्दी तैयार हो जा। दो घंटे में गाड़ी जायेगी। नकद सवा बीस खर्च करके आया हूं और वे भी उधार के। "बचन को बुरा लगा कि वह बाहर के आदमी के सामने ऐसी बात कह रहा है।

वह नहीं जानती थी कि टिकट के लिये उसे रूपये उधार लेने पड़े होंगे। वह कब चाहती थी कि उसकी वजह से उस पर उधार चढ़े। वह कह देता तो वह बारह–चौदह दिन बाद चली जाती।
वह कुछ न कहकर कपड़े लपेटने लगी।
"हट मां, तुझे बिस्तर बांधना आता भी है? " बिन्नी आगे बढ़ आया।
"उल्टी–सीधी रस्सी बांधेगी, कहीं से मोटा कर देगी, कहीं से पतली। हट जा, मैं एक मिनट में बांध देता हूं। ऐसा बिस्तर बंधेगा कि रास्ता–भर तेरा खोलने को भी जी नहीं चाहेगा।"
"तू रोटी खा ले, मैं बांध लेती हूं, " बचन की आंखें भर आई।

" रोटी खानेवाला आदमी साथ लाया हूं, " वह मां के लपेटे हुए कपड़ों को फिरसे फैलाता हुआ बोला, "यह इसलिए आया है कि तू चली जाएगी तो तेरे हाथ की दाल फिर कहां मिलेगी?"
बचन की गीली आंखों में हल्की–सी मुस्कुराहट भर गई।
"यह भी खा ले, "वह बोली, "मैं अभी दो फुलके और बना देती हूं।"
"और बनाने की जरूरत नहीं। जो है वही खा लेंगे।"
"पहले मैं खा लूं, फिर बचें वो इसे दे देना।" कहकर शशि गरदन उठाकर हंस दिया। बिन्नी बिस्तर बांधता रहा। वह उन दोनों के लिए रोटी डाल लाई।

"तैयार! " बिन्नी ने हाथ झाड़े और शशि के साथ खाना खाने डट गया।
"मां अपने लिए रख लेना और जितना बचे वह हमें ला देना।"
शशि दाल सुडकता हुआ बोला। वे दोनों खा चुके तो बचन ने जल्दी से बरतन समेट दिए।
"अब मां, तू भी जल्दी से खा ले, " बिन्नी ने कुल्ला करके हाथ पोंछते हुए कहा।
"मैंने खा लिया है।"
"कब? " किसी ने पास जाकर उसके कन्धे पकड़ लिए।
"तेरे आने से पहले। "
"झूठी! "
"सच मैंने खा लिया है। "
"आगे तो कभी इतनी जल्दी नही खाती। "
"आज खा लिया है।...... घर से जाना था न। तुम दोनों तो भूखे नहीं रहे? "
"एक चौथाई भूखे रह गए। " शशि ने डकार लेकर तौलिये से मुंह पोंछा और खूंटी पर टांग कर हंसने लगा।

स्टेशन पर उसे गाड़ी में बिठाकर वे दोनों प्लेटफार्म पर टहलने लगे। रात को भी बचन ने ठीक से नहीं खाया था, इसलिए भूख के मारे उसका सिर चकरा रहा था। वह जानती थी कि बिन्नी को पता है उसने कुछ नहीं खाया। इसलिए उसके मना करने पर भी वह आधा दर्जन केले रख गया था। वह एक बार मना कर चुकी थी, इसलिए नहीं खा रही थी। मगर बिन्नी और शशि टहलते हुए दूर चले गये थे और शायद अब भी उनमें बहस जारी थी। उसकी समझ में नहीं आता था कि ये लोग कोई इतनी बहस क्यों करते हैं! हर वक्त बहस, बहस, बहस! बहस का कोई अन्त भी होता है। जैसे सारी दुनिया के झगड़े उन्हीं को निपटाने हों। फटे हाल रहेंगे, सेहत का जरा ध्यान नहीं रखेंगे और बातें, जैसे संसार की सम्पत्ति के यही स्वामी हों और उसे बांटने की समस्या इन्हीं के सिर पर आ पड़ी हो।

वे दोनों प्लेटफार्म के उस सिरे तक हो कर वापस आ रहे थे। वह उनके चेहरे देख रही थी।
माथे पर सलवटें डालें वे हाथ हिला-हिला कर बातें कर रहे थे, फिर भी बच्चे-से दीखते थे। उस समय शायद वे यह भी भूल गए थे कि वे उसे गाड़ी पर चढ़ाने आये हैं। सहसा गार्ड की सीटी सुन कर वे उसके डिब्बे के पास आ गये परन्तु वहां आ कर भी उनकी बहस चलती रही — करघे का काम रूक जायेगा तो लाखों आदमी बेकार हो जाएंगे और जैसे कोमल रोएं हाथ के कपड़े के होते हैं, वैसे मशीनी कपड़े नहीं हो सकते .... !

बचन सोचने लगी कि ये लोग कभी अपने कपड़े क्यों नहीं देखते? इन्हें अपनी बेकारी की चिन्ता क्यों नहीं होती?
गाड़ी चलने लगी तो जैसे बिन्नी को होश हुआ और उसने उसका हाथ पकड़ कर कहा, "अच्छा मां .... !"
बचन के होठों पर रूखी-सी मुस्कुराहट आ गई। उसने उसके सिर पर हाथ फेर दिया।
"अब कब आयेगी?"
"जब तू बुलायेगा।"
गाड़ी ने रफ्तार पकड़ ली। वह देर तक खिड़की से सिर निकाल कर उन्हें देखती रही। वे हाथ-में-हाथ डाले गेट की ओर जा रहे थे। उनकी बहस शायद अब भी चल रही थी।

बचन को घर आये पन्द्रह दिन हो गए थे। "बिन्नी की चिट्ठी नहीं आई?" उसने लाली के कमरे के बाहर रूक कर पूछा। लाली से सवाल पूछने में उसके स्वर में शासित-का सा भाव आ जाता था। वह बेटा बड़ा होते-होते इतना बड़ा हो गया था कि वह अपने को उससे छोटी महसूस करने लगी थी।
"आ जा मां," लाली ने कागजों से आंखे उठा कर कहा।
"चिट्ठी उसकी आज भी नहीं आई। न जाने इस लड़के को क्या हो गया है?"
"तू काम कर, मैं जा रही हूं, " वह बोली। "सिर्फ चिट्ठी पूछने ही आई थी।"

वह बरामदे से हो कर अपने कमरे में आ गई। वह जानती थी कि लाली का समय कीमती है। वह आधी-आधी रात तक बैठ कर दूसरे दिन का केस तैयार करता है। मुवक्किलों की वजह से उसका खाने-पीने का भी समय निश्चित नहीं रहता। छः महीने में उसकी व्यस्तता पहले से कहीं बढ़ गयी थी। नये घर में आ जाने से जगह का आराम अवश्य हो गया था, पर कचहरी पहले से भी दूर हो गई थी। उसकी व्यस्तता के कारण वह कई बार सारा-सारा दिन उससे बात नहीं कर पाती थी। रात को जब वह बैठक से उठ कर जाता, तो सीधा सोने के कमरे में चला जाता। दिन-भर की थकान के बाद वह उसके आराम में विघ्न नहीं डालना चाहती थी। सबेरे वह कुसुम से पूछ लेता कि रात को उसकी तबीयत कैसी रही है? कुसुम संक्षेप में उसे हाल बता देती।
"सोने से पहले उसके सिर में बादामरोगन डाल दिया करो, " वह कहती।
"मैं कई बार कहती हूं, पर वे डलवाते ही नहीं, " कुसुम जैसे रटा-रटाया उत्तर देती।
"मुझे बुला लिया करो, मैं आ कर डाल दूंगी।"
"डालने को नौकर है मगर वे डलवाते ही नहीं।"

वह जानती थी कि सिर में बादामरोगन डलवाने के लिए लाली को किस तरह मनाया जा सकता है। मगर कुसुम अपने को

अधिक अन्तरंग समझती थी। और उसके सुझावों से सहमति प्रकट करती हुई भी करती वही थी जो उसके मन में होता था। वह जिस शिष्टता और कोमलता से बात करती थी उससे बचन को लगता था कि वह उस घर में केवल मेहमान है। दिनभर उसके करने के लिए वहां कोई काम नहीं होता था। खाना बनाने के लिए एक नोकर था और उपर का काम करने के लिए दूसरा। उसके काम की देखभाल के लिए कुसुम थी। जब भी बचन कोई काम करने के लिए कहती तो कुसुम नौकर का जिक कर देती –– नोकर के रहते अपने हाथ से काम करने की क्या जरूरत है? यही बात लाली भी कह देता है — "मां, तू काम करेगी तो घर में दो–दो नौकर किस लिए हैं? "

बचन सोचती थी कि काम करने के लिए नोकर है और देखभाल के लिए कुसुम है, फिर घर में उसका होना किस लिए है? सबेरे पांच बजे से रात के दस बजे तक वह क्या करे? पन्द्रह दिन पहले वह आई ही थी, तो बच्चे उसके गिर्द हुए रहते थे। उन्हें दादी से हजारों बातें कहनी और शिकायतें करनी थीं। मगर चार दिन में ही उनके लिए उसकी नवीनता समाप्त हो गई थी। उनकी अपनी छोटी–छोटी व्यस्तताएं थी, जिनमें उनका समय बंटा हुआ था।

कुमुद कभी–कभी जरूर उसके पास आ जाती थी और उसके कमरे में खामोश खेलती रहती थी। उसे दादी शायद इसलिए अच्छी लगती थी कि मां दोनो भाइयों से अधिक स्नेह करती थी।

बचन कमरे में आ कर चारपाई पर लेट गई। मन ताने–बाने बुनने लगा। बिन्नी ने अभी तक चिट्ठी क्यों नहीं लिखी? अंधेरे घर में इस समय वह अकेला सोया होगा। रोटी का जाने उसने क्या डौल किया है? उसने चलते समय उससे पूछा तक नहीं कि वह पीछे कैसे रहेगा, कहां रोटी खाएगा? उसके रहते वह तन–बदन की होश भूला रहता था, अब जाने उसकी क्या हालत होगी? चिट्ठी ही लिख देता तो कुछ तसल्ली हो जाती। मगर उसे चिट्ठी लिखने की होश आएगी?

कमरे में खिड़की खुली थी और दूर तक खुला आकाश दिखाई देते हुए उन नक्षत्रों के विन्यास से वह परिचित थी। वही नक्षत्र, वह बम्बई की उस मनहूस बस्ती में ऊपर भी झिलमिलते देखा करती थी। यहां से वे उसे तिरछे कोण से दिखाई देते थे, वहां वह अहाते में लेटकर उन्हें ठीक अपने ऊपर देखा करती थी। उसी तरह लेटे हुए वह बिन्नी की आहट की प्रतीक्षा करती थी। हुंफ्–हुंफ् की ध्वनियां पास आती और दूर चली जाती थीं। फिर दूर से फटे हुए गले की बेहूदा आवाज सुनाई देने लगती थी, 'ओ डैडाई है ड्विजो फेंजल..... ।' उस आवाज से वह कितना घृणा करती थी! यहां इस एकान्त बंगले में आसपास मे कोई आवाज नहीं आती थी। नौ–साढ़े नौ बजे बच्चों के सो जाने के बाद निस्तब्धता छा जाती थी। केवल रंगीलाल के बरतन मलने या चौका धोने की ही आवाज सुनाई देती थी।

उसने करवट बदल ली कि किसी तरह नींद आ जाए! नींद न आना रोज की बात हो गई थी। कहां दस बजे से ही उसकी आंखों में नींद भर जाती थी और कहां अब वह ग्यारह, बारह और एक के घण्टे गिनती रहती थी। 'जाने क्यों ? ' वह सोचती रह जाती।

रात को वह देर से सोई मगर सुबह जल्दी उठ गई। उठने पर उसका हृदय रात से अधिक अस्थिर और अशान्त था। इतना बड़ा पहाड़–सा दिन और उसके बाद फिर वैसी ही रात! लम्बी निष्क्रियता की कल्पना से एक बड़ा शून्य उसके अन्तर को घेरे था। आकाश में चिडियों के गिरोह उड़ रहे थे। रसोईघर में रंगी स्टोव में हवा भर रहा था। उसे साहब के लिए बिस्तर पर चाय पहुंचानी थी। बम्बई में सुबह जब वह कमरे में बाल्टी रखकर नहा रही होती, तो बिन्नी बाहर से चाय की मांग करने लगता था। उससे उसके भजन में बाधा पड़ती थी और उसे उलझन होती थी, पर वह चुपचाप उसके लिए चाय बना देती थी।..... परन्तु आज उसे इस बात की उलझन हो रही थी कि उसका भजन में मन क्यों नहीं लगता? अब जब कि भजन के लिए पूरा अवकाश था, उसकी प्रवृत्ति उसकी ओर क्यों नहीं होती थी?

वह कुछ देर बरामदे में खड़ी हो कर सूर्योदय के स्वर्णिम रंग को देखती रही। क्षितिज के एक कोने से दूसरे कोने तक झिलमिलाती हुई स्वर्णिम आभा धीरे–धीरे बिखर रही थी। लगता था, जैसे गोलक में बन्द उजाला फूटकर बाहर निकलने

के लिए संघर्ष कर रहा हो। उजाले की बढ़ती हुई झलक से हर क्षण ऐसी प्रतीति होती थी। उसने बरामदे से उतर कर पूजा के लिए गेंदे के कुछ फूल चुन लिए और रसोईघर में चली गई।

रंगी स्टोव से केतली उतार कर चायदानी में पानी डाल रहा था। उसने अपने आंचल के फूल आले में डाल दिए। रंगी ट्रे उठा कर चलने लगा, तो उसने ट्रे उसके हाथ से ले ली।
"रहने दे, मैं ले जाती हूं।" और वह ट्रे लिए हुए लाली के कमरे की ओर चल दी।
"मां जी, आप न ले जाइये, साहब मुझपर नाराज होंगे। " रंगी ने पीछे से संकोच के साथ कहा।
"इसमें नाराज होने की क्या बात? मैं तेरे कहने से थोड़े ही ले जा रही हूं? " और वह थोड़ी खांस कर लाली के कमरे में चली गई।

लाली कम्बल ओढ़कर बिस्तर पर बैठा था। कुसुम सोई हुई थी।
लाली के हाथ में कुछ कागज थे, जिन्हें वह ध्यान से पढ़ रहा था। उसने यह लक्षित नहीं किया कि चाय ले कर मां आई है। बचन ने ट्रे मेज पर रख प्याली में चाय बनाई और उसके पास ले गई। लाली ने चाय के लिए हाथ बढ़ाया तो देखा कि प्याली लिए मां खड़ी है।

"मां, तू? " उसने आश्चर्य के साथ कहा।
बचन ने प्याली उसके हाथ में दे दी। उसने पहली बार लक्षित किया कि लाली के बाल कनपटियों के पास से सफेद हो गए हैं। चश्मा उतार देने से उसकी आंखों के नीचे गहरे गड्ढ़े नजर आ रहे थे। लाली ने कागज रख कर चश्मा लगा लिया।
"रंगी और नारायण क्या कर रहे हैं? " उसने पूछा।
"नारायण दूध लाने गया है, " वह बोली, "रंगी रसोईघर में हैं। "
"तो उससे नहीं आया जाता था? तू सुबह-सुबह उठकर चाय लाए, वाह इससे अच्छा है मैं आप ही बनाकर पी लूं।"

"तू बनाकर पी लेगा, जिसे यह नहीं पता कि दूध कौन-सा है और चीनी कौन-सी! " वह थोडा हंस दी। तभी कुसुम करवट बदल कर उठ बैठी।
"मां जी, आप.... ?" उसने भी आंख मलते हुए उसी आश्चर्य के साथ कहा। फिर झट से कम्बल उतार कर वह बिस्तर से निकल आई।
"आप रहने दीजिए मांजी, मैं बनाती हूं। "
कुसुम दूसरी प्याली में चाय बनाने लगी। बनाकर प्याली उसने बचन की ओर बढ़ा दी।
"मैं अभी नहाई नहीं। अभी से चाय पी लूं? "
"पी भी ले मां! " लाली बोला, "कभी तो धरम-करम को छोड़ दिया कर। "
"नहीं, मैं ऐसे नहीं पीती। तुम्हीं लोग पियो।"

कुसुम प्याली लेकर अपने बिस्तर पर चली गई। बचन लाली के पैताने बैठ गई। लाली और कुसुम खामोश चाय पीते रहे!
कमरे में हर चीज व्यवस्थित ढंग से रखी थी। अंगीठी पर नीले रंग का कपड़ा बिछा था, जिस पर कुसुम ने सफेद डोरे से कढ़ाई की थी। वही एक ओर अखरोट की लकड़ी का बना गौतम बुद्ध का बस्ट पड़ा था और दूसरी ओर हाथी-दांत की हंसों की जोड़ी रखी थी। सन्दूकों पर गद्दे बिछाकर उन्हें लाल कपड़े से ढंक दिया गया था। कोने में कुसुम की सिलाई की मशीन पड़ी थी और वहां पास ही लाली की अधसिली कमीज़ के टुकड़े बंधे रखे थे। मेज पर छोटे-से शेल्फ़ में लाली की किताबें पड़ी थीं और पास ही टेबल-लैंप रखा था। दूसरे कमरे में खुलने वाले दरवाजे के पर्दे पर भी कुसुम ने अपने हाथ से कढ़ाई कर रखी थी। उधर से करवटें बदलने की आवाज आ रही थी। बच्चों की भी नींद खुल गई थी।

"लाली ने चाय पीकर प्याली मेज पर रख दी। कुसुम अर्थपूर्ण दृष्टि से उसके चेहरे को देख रही थी। बचन उठ खड़ी

हुई।
"चल दी मां? " कहते-कहते लाली ने कागज उठा लिए।
"हां, तू अपना काम कर। मैं जा कर नहा-धो लूं। " "कोई खास बात तो नहीं थी? "
"नहीं, कोई खास बात तो नहीं थी। नौकर चाय ला रहा था, मैंने कहा, मैं ले जाती हूं। "
लाली की आंखें कागजों पर झुक गई। कुसुम चाय के हलके-हलके घूंट भर रही थी। बचन चलने के लिए उद्यत हो कर भी खड़ी रही।
"एक बात सोचती हूं" वह कहने लगी।
लाली ने कागज फिर से रख दिये।
"हां-हां।"
"इतने दिन हो गए, बिन्नी की चिट्ठी नहीं आई ... ।"
"मैं अब उससे कोई गिला नहीं करता, " लाली चिढ़े हुए स्वर में बोला। "गफलत की भी हद् होती है। इस लड़के का घरवालों से जैसे कोई रिश्ता-नाता ही नहीं है। "
बचन चुप रही।

"यहां रहकर बी.ए. कर लेता तो कुछ बन-बना जाता। अब साहब जिन्दगी भर आवारागर्दी करेंगे।"
बचन की आंखें भर आई। उसने चेष्टा की कि आंसू आंखों में ही रूक जाएं पर यह सम्भव नहीं हुआ तो उसने पल्ले से आंखें पोंछ ली।

"यह लड़का न जाने कब अपना होश रखना सीखेगा।..... अपनी जान की भी तो फिक्र नहीं करता। वहां रहकर मैं ही जो थोड़ा-बहुत देख लेती थी, सो देख लेती थी। कभी-कभी सोचती हूं कि मैं वहां उसके पास ही रहूं तो ठीक है। " और वह निर्णय सुनने के ढंग से लाली की ओर देखने लगी। लाली गम्भीर हो गया, बोला नहीं।

"मैं कहती हूं मेरी आंखों के सामने रहेगा तो मुझे पता तो चलता रहेगा कि क्या करता है, क्या नहीं करता... "उसके स्वर में थोड़ी याचना भी आ गई।
"मां जी का यहां दिल नहीं लगा। " कुसुम ने प्याली रखते हुए कहा। पलभर लाली की आंखें उससे मिली रहीं।

"अभी तो मां तू आई ही है, " वह बोला, "दस-पंद्रह रोज में दीवाली है..... ।"
"मेरा बच्चों को छोड़ कर जाने को मन करता है क्या? मैं वैसे ही बात कर रही थी।" वह फिर से चलने के लिए तैयार हो कर बोली, "पता नहीं रोटी भी ठीक से खाता है या नहीं। "
कुसुम उठ कर रंगी को आवाज देती हुई बाहर चली गई।
"तू जाना चाहे तो और बात है। " लाली के चेहरे पर कुछ अन्यमनस्कता आ गई।
"जाने की बात नहीं है, मैं तो वैसे ही सोचती थी... ।"
"जाना है, चली जा। नहीं खामखाह चिन्ता से परेशान रहेगी।"

बचन कुछ क्षण खामोश रही। लाली अपनी उंगलियां मसलता रहा।
"किस गाड़ी से चली जाऊं?"
"रात की गाड़ी ठीक रहती है। उसमें भीड़ कम होती है। "
"तेरी तबीयत की चिन्ता रहेगी... ।"
"मेरी तबीयत ठीक ही है।"
"तू चिट्ठी लिखता रहेगा न? "
"हां, मैं नहीं लिखूंगा तो कुसुम लिख देगी। "
"अच्छा... ! "

रात की गाड़ीमें उसे अच्छी जगह मिल गई। जनाने डिब्बे में उसके अतिरिक्त दो ही सवारियां थीं। कुसुम नारायण को ले कर उसे छोड़ने के लिए आई थी। लाली मुवक्किलों की वजह से नहीं आ पाया था। कुसुम गाड़ी चलने तक उसके पास बैठ कर बातें करती रही कि दादी के पीछे बच्चे फिर उदास हो जाएंगे, तीन चार दिन घर सूना-सूना लगेगा और कहा कि रास्ते के लिए खाना बनवाकर ले जाती तो अच्छा था। गाड़ी ने सीटी दी तो कुसुम प्लेटफार्म पर उतर गई।
"जाते ही चिट्ठी लिखिएगा," उसने कहा।
"तुम लाली की तबीयत का पता देती रहना," बचन ने कहा।
सहसा उसे लाली के सफेद बालों का ध्यान हो आया।
"रात को उसे देर-देर तक न पढ़ने देना और उससे कहना कि सिर में बादामरोगन डलवा लिया करे।"
कुसुम ने सिर हिला दिया। गाड़ी चल दी तो उसने हाथ जोड़ दिए।

प्लेटफार्म पीछे रह गया तो बचन आकाश की ओर देखने लगी। उसके अन्तरमें फिर एक शून्य-सा भरने लगा। क्षितिज के पास वही नक्षत्र चमक रहे थे। बचन अपलक दृष्टि से उन्हें देखती रही। वह जहां जा रही थी उस घर का नक्शा धीरे-धीरे उसकी आंखों के आगे घूमने लगा। नीची छत वाला वह टूटा-फूटा कमरा, मादा सुअर और उसके बच्चों की हुंफ्-हुंफ् और कुएं की तरफ से आती हुई मोटी, भद्दी फटी हुई आवाज -- ओ डैडाई है डिवंजो - फेंसल,.... अंधेरा, एकान्त, बिन्नी, शशि और उसके दोस्त, बहसें और दाल रोटी के लिए उन लोगों की छीना-झपटी.... ।
उसकी आंखें भर आई। क्षितिज के पास चमकते हुए नक्षत्र धुंधले पड़ गए।
उसने आंखें पोंछ लीं। नक्षत्र फिर चमकने लगे

## आवारे भगवती चरण वर्मा

कुछ लोग दार्शनिक होते हैं, कुछ लोग दार्शनिक दिखते हैं। यह जरूरी नहीं कि जो दार्शनिक हो वह दार्शनिक न दिखे, या जो दार्शनिक दिखे वह दार्शनिक न हो, लेकिन आमतौर से होता यही है कि जो दार्शनिक होता है वह दार्शनिक दिखता नहीं है, और जो दार्शनिक दिखता है वह दार्शनिक होता नहीं हैं।

रामगोपाल जिस समय बंबई नगर के दादर मुहल्ले के एक ईरानी होटल में गरमी की दोपहरी में बिजली के पंखे के नीचे एक प्याला चाय के साथ पावरोटी का टुकड़ा गले के नीचे उतारकर अपनी भूख शांत करने की कोशिश कर रहा था उस समय एक अच्छा-खासा दार्शनिक दिख रहा था।

बाल बिखरे हुए मत्थे पर शिकन, आँखों में चिंता की झलक, और बैठने के ढंग में एक विवशता से भरी लापरवाही। लेकिन अगर कोई उस समय रामगोपाल से कह देता कि वह दार्शनिक है तो यकीनी तौर से झुँझलाहट के साथ यही कहता, "आपकी बला से!" और फिर वह बिना दूसरा शब्द कहे अपने काम पर जुट जाता।

पावरोटी को गले के नीचे उतारने में रामगोपाल को मेहनत पड़ रही थी, और शायद सुस्ताने के ख्याल से उसने अपना पर्स निकाला। दस-दस रूपए के पंद्रह नोट, गिलट के सात रूपए और एक अठन्नी और तीन इकन्नियाँ - इतनी जमा-पूँजी अभी उस पर्स में मौजूद थी। इसके अलावा कुछ सिफारिशी चिट्ठियाँ जिन्हें निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाने के लिए उसने बंबई के कई फिल्म स्टूडियो के दर्जनों चक्कर लगाए लेकिन फाटक के पठान दरबानों ने उसे किसी हालत में अंदर न घुसने दिया और इसलिए अभी तक वे चिट्ठियाँ उन स्थानों में न पहुँच सकीं, कुछ पते जो उसने रास्ते चलते हुए कुछ खास महत्वपूर्ण

आदमियों की मुलाकात की यादगार में दर्ज कर लिए थे और छपे हुए करीब दस–बारह विजिटिंग कार्ड।

रामगोपाल ने अपने पर्स की हरएक चीज को निकाला। जो गिनने की थीं उन्हें गिना, जो देखने की थीं, उन्हें देखा और जिन पर उसे सोचना था उन पर सोचना भी आरंभ कर दिया।

लेकिन सोचने का अभ्यास न होने के कारण उसने पर्स अपनी जेब के हवाले करके फिर पावरोटी को गले के नीचे उतारने की कोशिश आरंभ कर दी।

"अरे, यह तो रामगोपाल मालूम होते हैं।"
"हम लोगों को क्यों देखेंगे – अकेले –अकेले चाय पी रहे हैं।"
रामगोपाल ने घूमकर देखा, सिंह और पांडे रामगोपाल की मेज की ही तरफ बढ़ रहे थे। रामगोपाल को मुस्कुराना पड़ा, "आओ भाई!" और यह कहकर उसने होटल ब्वॉय को आवाज दी, "दो प्याले चाय!"
"कहो भाई, बहुत दिनों से दिखे नहीं, कहो कोई काम–वाम मिल गया है क्या?" बैठते हुए सिंह ने पूछा।
"नहीं यार – अभी तक तो नहीं मिला, लेकिन उम्मीद पूरी है!" रामगोपाल ने जरा रूककर कहा, "वहाशमा कंपनी के डाइरेक्टर को तो जानते हो – अरे वही मिस्टर कमानी! कल शाम को उनसे मुलाकात हो गई थी – बड़ी तपाक के साथ मिले, गले में हाथ डाल दिया, बोले, "तुम्हें अगली पिक्चर में विलेन का काम दूँगा। वादा कर लिया है!"

पांडे हँस पड़ा, "तुम्हें विलेन और मुझे हीरो। मुझसे भी वादा किया था!"
रामगोपाल चौंक पड़ा। उसे बड़ी आसानी से विलेन का पार्ट मिल सकता है, यही नहीं अगर कोई समझदार डायरेक्टर हो तो वह हीरो भी बना सकता है– इसका उसे पूरा यकीन था, लेकिन पांडे को जो आदमी हीरो बनाने की सोचे वह या तो पागल है या मजाक कर रहा है। उसने पांडे को फिर एक दफा गौर से देखकर कहा, "तुम्हें हीरो बनाने का वादा किया है सच कह रहो हो?"
"अरे छोड़ो भी – गए हुए लोगों के वादों पर लड़ना-झगड़ना बेकार है!" सिंह ने इन दोनों की बात अधिक न बढ़े इसलिए कहा।

रामगोपाल का चेहरा उतर गया। सिंह की बात में तथ्य है, इस बात को उसने महसूस किया; एक बँधती हुई उम्मीद छूट गई।
पांडे ने रामगोपाल के चेहरे की निराशा देख ली, उसने जरा मुलायमियत के साथ कहा, "इतना अफसोस करने की जरूरत नहीं। मुझे देखो, बंबई आए दो साल हो गए हैं लेकिन अभी तक सफलता नहीं मिली। पड़ा हूँ, बस उम्मीद पर।"

रामगोपाल ने एक ठंडी साँस ली, "कब तक – कब तक इस तरह चलेगा।
पास की रकम करीब–करीब खत्म हो चुकी थी, होटलवाले का बिल चढ़ रहा है – समझ में नहीं आता क्या करूँ।"
पांडे ने कहा, "अगर मेरी सलाह मानो तो होटल छोड़ दो और एक कमरा किराए पर ले लो। जब तक कमरा न मिले तुम मेरे कमरे में रह सकते हो – अभी चार आदमी है, अब पाँच हो जाएँगे। वहाँ जी लग जाएगा, खर्चे की बचत हो जाएगी।"

रामगोपाल ने कुछ सोचा, "यार कहते तो ठीक हो। अभी होटल का तीन रूपया रोज दे रहा हूँ – नब्बे रूपए महीने की बचत बहुत काफी होती है।"
"नब्बे की नहीं बल्कि अस्सी की, क्योंकि पांडे के कमरे में रहने पर तुम्हारा हिस्सा दस रूपए महीना आवेगा।"
"अस्सी ही क्या कम है!" रामगोपाल ने मुस्कुराते हुए कहा। दिनभर के बाद उसके मुख पर यह पहली मुस्कराहट थी।

•••

पांडे का पूरा नाम था रविशंकर पांडे । लखनऊ से बी•ए• पास करने के बाद जब उसके पिता एक जमींदार की लड़की के साथ दस हजार के लंबे दहेज पर उसकी शादी तै करा रहे थे, वह बिना कहे-सुने एक दिन बंबई के लिए रवाना हो गया इसलिए कि वह लड़की जिसके साथ उसकी शादी तै कराई जा रही थी, गँवार होने के साथ-साथ बदशक्ल थी। पांडे ने फिल्म काफी देखी थीं; और फिल्मों की सुंदरियों से मिलकर उनमें से किसी एक को अपनाकर अपने जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करना चाहता था। पांडे देखने-सुनने में बुरा न था, पैसे की भी उसके पिता के पास कोई खास कमी नहीं थी, और अपनी निजी योग्यता तथा प्रतिभा पर उसे विश्वास था।

बंबई आकर धीरे-धीरे उसे निराशाओं का सामना करना पड़ा और प्रत्येक निराशा के साथ उसका जोश ठंडा पड़ने लगा। न उसे प्रेमिका मिली और न उसे प्रतिभा और योग्यता के प्रदर्शन का मौका मिला।पास की रकम घटने लगी पिता ने अधिक पैसा देने से इन्कार कर दिया। इस उम्मीद पर कि हारकर पांडे को घर आना ही पड़ेगा। पर पिता शायद अपने पुत्र के जिद्दी स्वभाव को नहीं जानते थे। कदम उठकर पीछे नहीं पड़ता – सूरमा आगे बढ़ेगा नहीं तो मोर्चे पर खड़ा होकर अपनी जान दे देगा। पांडे भी कुछ ऐसे ही विचारों का था। बहुत दौड़-धूप करने पर एक फिल्म कंपनी में एक्स्ट्रा का काम मिल भी गया था, गोकि पैसे बहुत कम मिले थे। लिहाजा खर्च पूरा करने के लिए पांडे ने अपने कमरे में किराएदारों को बसा लिया था।

सिंह का पूरा नाम था जसवंतसिंह और वह आगरा जिले का रहनेवाला था। सिंह को गाने का बड़ा शौक था और उससे अधिक उसके आगरावाले मित्रों को विश्वास था कि अगर वह किसी फिल्म कंपनी में पहुँच जाए तो उसकी प्रतिभा चमक उठेगी और उसका भाग्य खुल जाएगा। रोज-रोज मित्रों की राय सुनते-सुनते सिंह की भी कुछ ऐसी ही राय हो गई थी। बाईस-तेईस साल का नवयुवक, दुनिया का उसे तजुर्बा न था। मित्रों ने दम-दिलासा देकर उसे बंबई लाद दिया। लेकिन बंबई आकर उसने देखा कि यहाँ हर जगह सिफारिश चलती है। कई जगह गया, अपने गाने सुनाए, लोगों ने उसकी तारीफ की लेकिन फिल्म कंपनी में जो काम न मिला सो न मिला। हाँ, एक-आध ट्यूशन उसे जरूर मिल गए और इस उम्मीद पर कि निकट भविष्य में उसे काम जरूर मिलेगा, उसे ट्यूशन से ही संतोष करना पड़ा। सिंह घर का खुशहाल न था। एक दिन जब वह एक फिल्म कंपनी के दरबान से गिड़गिड़ाकर भीतर घुसने का प्रयत्न कर रहा था, उसकी मुलाकात पांडे से हो गई। पांडे ने उसकी कहानी सुनी। कहानी सुनकर उसे दया आई उसने फुटपाथ पर या बरामदों में सोनेवाले उस युवक को अपने कमरे में आश्रय दिया। बाद में जब सिंह को कुछ कामकाज मिला तब सिंह पांडे के कमरे के किराए का एक भाग देने लगा।

रामगोपाल को साथ लेकर जब पांडे और सिंह कमरे में पहुँचे, उस समय मिस्टर परमेश्वरीदयाल वर्मा अपनी हजामत बना रहे थे। एक ट्रंक और एक बिस्तर के साथ एक नए आदमी का कमरे में प्रवेश देखकर मिस्टर वर्मा चौंके, घूरकर उन्होंने रामगोपाल को देखा। पांडे ने उसी समय मिस्टर वर्मा से रामगोपाल का परिचय कराया, "यह हैं मिस्टर रामगोपाल – आज से हम लोगों के साथ रहेंगे। आपके किराए का हिस्सा साढ़े बारह रूपए से घटकर दस रूपए रह गए।" लेकिन ढाई रूपए की बचत से मिस्टर वर्मा को कोई खास प्रसन्नता न हुई। उनका ख्याल था कि एक कमरे में सिर्फ एक आदमी रहना चाहिए, जरूरत के वक्त दो रह सकते हैं, मजबूरी से तीन और जब गले आ पड़े तब चार।

उन्होंने गंभीरतापूर्वक कहा, "एक कमरे में पाँच आदमी – नान्सेंस – मैं किसी हालत में बर्दाश्त नहीं कर सकता।"
"तो फिर आप यह कमरा छोड़ सकते हैं।" सिंह ने जरा रूखाई से कहा।
"आप कौन होते हैं हमारे बीच में बोलनेवाले – कमरा पांडे का है। इन्हें जो कुछ कहना हो कहें।"
"मैं बोलनेवाला इसलिए होता हूँ कि मैं भी कमरे का किराया देता हूँ हर महीना। आपकी तरह नहीं कि तीन महीने से आजकल में टरका रहे हैं।"
"तो इसमें तुम्हारे बाप का क्या जाता है? नहीं है इसलिए नहीं देता, होगा तो एक-एक पैसा पांडे के पास पहुँच जाएगा।"

इस बातचीत में बाप का घसीटा जाना सिंह को अच्छा नहीं लगा, उसने अपनी चप्पल उतारी, "क्या कहा बे – सुअर कहीं का, मेरे बाप का फिर से तो नाम ले –"
पांडे ने सिंह का हाथ पकड़कर बीच–बचाव किया। मिस्टर वर्मा शांत भाव से दाढ़ी बनाते रहे।
मिस्टर वर्मा तीस साल के कद्दावर से आदमी थे। करीब पाँच साल पहले बंबई आए थे एक अंग्रेजी कंपनी में असिस्टेंट मैनेजर होकर। यारबास आदमी थे – किसी कदर दबंग थे। एक दिन उन्होंने और उनके अंग्रेज मैनेजर ने साथ–साथ पी और जी खोलकर पी। पीने के बाद इनमें और इनके मैनेजर में बातचीत आरंभ हुई, बातचीत ने वाद–विवाद का रूप धारण किया और वाद–विवाद ने जूते–लात का। मिस्टर वर्मा हाथ–पैर में अपने मैनेजर से तगड़े थे, उन्होंने मैनेजर को अधमरा कर दिया। दूसरे दिन वे नौकरी से बर्खास्त कर दिए गए।

नौकरी से निकाले जाने के बाद मिस्टर वर्मा को यह अनुभव हुआ कि नौकरी के माने होते हैं गुलामी – और उसमें कुछ राजनीतिक चेतना भी जाग्रत हुई। जो कुछ रकम उनके पास थी उसे बीवी–बच्चों को देकर उन्होंने उन्हें अपने देश रवाना किया, अकेले वे व्यापार करने के लिए बंबई में रह गए। फोर्ट एरिया में अपने एक मुलाकाती के दफ्तर में उन्होंने एक मेज अपनी डलवा ली और कमीशन एजेंसी का कारोबार शुरू कर दिया। पास की सारी रकम उन्होंने बीवी के हवाले कर दी थी, अपनी हैसियत बनाए रखकर ही वे कारोबार चला सकते थे और हैसियत के माने होते हैं अच्छे सूट, कीमती सिगरेट और मौके–बेमौके टैक्सी की सवारी। लिहाजा हैसियत बनाए रखने के लिए उन्हें खाने और रहने में किफायत करनी पड़ी। पांडे को मिस्टर वर्मा लखनऊ से ही जानते थे, इसलिए वे पांडे के साथ रहने लगे। कारोबार शूरू किए हुए उन्हें अभी कुल छह महीने हुए थे– और अब जाकर कहीं उन्हें इतना मिलने लगा था कि कर्ज लेकर काम न चलाना पाड़े।

शेव करके मिस्टर वर्मा ने एक अच्छा –सा रेशमी सूट निकाला। सूट पहनते हुए उन्होंने कहा, "सिंह, कल, जो मेरी टाई ले गए थे वह कहाँ हैं?"
"वहीं तुम्हारी खूँटी पर टाँग दी थी।" सिंह ने, जो उस समय एक जासूसी उपन्यास पढ़ने में व्यस्त हो गया था, बिना मिस्टर वर्मा की ओर देखे उत्तर दिया।
"तुमने मुझे क्यों नहीं वापस की? जरूरत के वक्त तो गिड़गिड़ाकर माँग ले जाते हैं और फिर नवाब साहब की तरह चीज फेंके देते हैं – कमीने कहीं के।"
सिंह पढ़ने में इतना व्यस्त था कि उसने मिस्टर वर्मा को उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं समझी।

सिंह के मौन से मिस्टर वर्मा का पारा और भी चढ़ गया, "इन सालों से इतना कहा कि अगर तुम्हारे पास नहीं है तो मत पहनो, लेकिन जब शराफत हो तब मानें। माँगेंगे – नहीं दोगे तो आँख बचाकर उठा ले जाएँगे – अगर अबकी दफे यह हरकत हुई तो मैं कहे देता हूँ ठीक न होगा।"
"क्या ठीक नहीं होगा?" एक कर्कश आवाज ने कहा।
मिस्टर वर्मा ने घूमकर देखा कि छबीलदास गुप्ता कमरे के दरवाजे पर तने खड़े हैं– सिंह का सूट और वर्मा की टाई डाले हुए।
"मुझसे बिना पूछे मेरी टाई क्यों ली?" कड़ककर वर्मा ने कहा।
"तबीयत – " मुँह बनाते हुए गुप्ता ने जवाब दिया।

हद हो गई। अब मिस्टर वर्मा से न रहा गया। लपककर उन्होंने छबीलदास का गला पकड़ा– " तो फिर मेरी तबीयत यह है कि आज तुम्हारी अच्छी तरह मरम्मत कर दूँ।"
"हाँ – हाँ। यह गजब मत करना।" सिंह डिटेक्टिव नावेल छोड़कर बीचबचाव करने दौड़ा, इस डर से कि कहीं इस हाथपाई में उसका सूट न फट जाए।

छबीलदास ने टाई गले से उतारकर वर्मा को दे दी और मिस्टर वर्मा सज–धजकर तैयार हो गए। अपने ट्रंक से उन्होंने स्टेट एक्सप्रेस का एक टिन निकाला और दस सिगरेटें जो वास्तव में स्टेट एक्सप्रेस की थीं, उन्होंने एक ओर हटाकर बाकी

नंबर टेन सिगरेटों में से एक-एक उन्होंने कमरे में सब लोगों को दीं। इसके बाद वे अपने कारोबार के लिए रवाना हो गए।

छबीलदास टाई के हाथ से निकल जाने पर उदास हो गए थे। उस दिन उनका भाग्य खुलनेवाला था। बात यह थी कि पिछले दिन उन्हें सुशीला का पत्र मिला था और सुशीला ने उन्हें दूसरे दिन सुबह के समय अपने यहाँ मिलने के लिए बुलाया था। सुशीला छबीलदास के नगर बनारस की वेश्या की पुत्री थी। छबीलदास अचानक एक दिन उसके प्रेम में पड़ गए। उन दिनों छबीलदास हिंदू विश्वविद्यालय में एम•ए• में पढ़ते थे। उत्साही नवयुवक थे, राजनीतिक अभिरूचि के थे। काँग्रेस के पक्के कार्यकर्ता थे। विश्वविद्यालय में उनके व्याख्यानों की, उनके चरित्र-बल की, उनके व्यक्तित्व की धाक थी।

सुशीला की माता ने सुशीला को उच्च्य शिक्षा दिलाई। मैट्रिकुलेशन पास करके वह भी विश्वविद्यालय में भरती हुई थी। लेकिन सुशीला की माँ की संगिन-साथियों ने, उनके मेली-मुलाकातियों ने उसे समझाना शुरू किया कि वेश्या की लड़की को समाज में कोई स्थान नहीं मिलेगा। ऐसी हालत में उसे उच्च्य शिक्षा देना उसकी जिंदगी बरबाद कर देना था, और धीरे-धीरे सुशीला की माता को यह विश्वास होने लगा था कि सुशीला को कालेज से हटाकर उसे पेशे में लगा देने में ही सुशीला का कल्याण है। सुशीला को इन बातों की भनक पड़ गई थी, और लगातार कई दिनों तक इस नई समस्या पर सोच-विचार के बाद सुशीला इस निर्णय पर पहुँची कि उसी दिन शाम को उसे किसी योग्य, समझदार और नेक आदमी की सलाह लेनी चाहिए। उस दिन छबीलदास का एक महत्वपूर्ण व्याख्यान राजनीति और समाज पर हुआ था और उस व्याख्यान से सुशीला प्रभावित हुई थी।

हिम्मत करके सुशीला ने छबीलदास को अपनी दास्तान सुनाई और उसकी सलाह माँगी। सत्याग्रही किस्म के युवक छबीलदास ने सुशीला को दृढ़ता, चरित्र और सत्य पर कुर्बान हो जाने का संदेश दिया; सुशीला को ऐसा लगा मानो उसे एक पथ-प्रदर्शक, एक देवता, एक आराध्य मिल गया।

सुशीला और छबीलदास की दोस्ती बढ़ी, और यह दोस्ती लोगों की नजर में खटकी। इस दोस्ती की चर्चा छबीलदास के चचा लाला मलकूदास के कानों तक पहुँची। लाला मलकूदास की चौक में परचून की एक बहुत बड़ी दुकान थी और उनकी गणना नाकवालों में होती थी। उन्होंने इस विषय पर छबीलदास से जिरह-बहस की और जिरह-बहस के बाद इस नतीजे पर पहुँचे कि अगर जल्दी ही रोक-थाम नहीं की जाती तो लड़का वेश्या की लड़की से शादी करके सारे घर की नाक कटवा देगा। उन्होंने बलिया जाकर जहाँ उनके बड़े भाई, छबीलदास के पिता साह बुलाकीदास रहते थे, उस मामले में बातचीत की। साह बुलाकीदास बलिया जिले के महाजन, जमींदार और न जाने क्या-क्या थे। उन्होंने बीमारी का तार देकर छबीलदास को घर बुलाया और उनके हाथ-पैर बाँधकर जबर्दस्ती छबीलदास की शादी पास के एक जमींदार की लड़की से करा दी। दहेज में रूपए-पैसे, चीज वस्तु के साथ छबीलदास के ससूर ने, जिनके डाकू होने का लोगों को शक था, छबीलदास को एक धमकी भी दी कि अगर भविष्य में छबीलदास और सुशीला के संबंध में कोई शिकायत सुनी गई तो बनारस के बीच चौक में छबीलदास की जूतों से मरम्मत की जाएगी।

छबीलदास के चचा को शायद इस बात का पता नहीं था कि काँग्रेस का सत्याग्रही कार्यकर्ता बला का जिद्दी होता है। एक तो छबीलदास इस जबर्दस्तीवाली शादी से ही नाराज था, उस पर श्वसुर के इस नए किस्म के दहेज ने आग में घी का काम किया।

बनारस लौटकर छबीलदास को सुशीला ने बतलाया कि अब उसकी माँ बिना उससे पेशा कराए न मानेगी। छबीलदास ने सुशीला को अपनी कहानी सुनाई। दोनों में तय हुआ कि बंबई चला जाए। मोरारजी देसाई, कन्हैयालाल मुंशी आदि बड़े बड़े नेता वहाँ पर हैं ही, उन नेताओं के आश्रय में रहकर दोनों देश का काम करेंगे। उसी रात दोनों बंबई के लिए रवाना हो गए।

बंबई जाने पर सुशीला और छबीलदास दोनों को यह पता चला कि वास्तविकता कल्पना से कहीं अधिक कुरूप होती है। बड़े-बड़े नेताओं के पास इतना समय नहीं था कि इन लोगों से मिलें, छोटे नेताओं ने दरपरदा छबीलदास को ठुकराकर सुशीला को हथियाने की कोशिश की। और एक दिन छबीलदास को पता चला कि सुशीला एक करोड़पति सेठ के यहाँ, जो काँग्रेस का एक छोटा - मोटा कार्यकर्ता था, बैठ गई।

और जिस दिन सुशीला उसके यहाँ चली गई उस दिन छबीलदास को पता चला कि वह सुशीला से बहुत अधिक प्रेम करने लगा था। सुशीला को इस प्रकार करोड़पति के रूपयों के लोभ में पड़कर उसके प्रेम को ठुकरा देने से छबीलदास के हृदय को एक गहरी ठेस लगी। उसने चार-छह बार सुशीला से मिलने की कोशिश की, लेकिन सुशीला ने कोई-न-कोई बहाना बनाकर मिलने से इनकार कर दिया। उसने सुशीला को कई पत्र लिखे लेकिन उसे किसी भी पत्र का उत्तर न मिला। उसे काँग्रेस से और काँग्रेसी नेताओं से घृणा हो गई। एक बार सुशीला से मिलकर वह बतला देना चाहता था कि किस प्रकार उसने उसकी जिंदगी को बरबाद कर दिया। घर जाने की हिम्मत न होती थी क्योंकि डाकू ससुर की खौफनाक मूर्ति उसकी आँखों के आगे नाच उठती थी। पागल-सा वह बंबई की सड़कों की धूल छानता फिरता था।

एक दिन सिंह उसी पार्क में सोया था जिसमें छबीलदास सो रहा था। माली ने जब रात के समय दोनों को पार्क से निकाला तब इन दोनों का परिचय हुआ। सिंह ने पांडे के यहाँ जगह पाकर छबीलदास को भी अपने साथ बुला लिया। इसके बाद छबीलदास ने एक दफ्तर में क्लर्की कर ली।

•••

"कहो भाई मुलाकात हुई?" पांडे ने पूछा।
"हुई भी और नहीं भी हुई।" छबीलदास ने सिगरेट का एक गहरा कश खींचकर उत्तर दिया।
"यह तो पहेली बुझा रहे हो।" सिंह हँस पड़ा।

"बात यह है कि जब मैंने उसके मकान में घंटी बजाई तो वह दरवाजे पर खुद आई। मुझे देखते ही चौंक उठी, बहुत धीमे स्वर में उसने कहा, "अभी जरा दो-एक आदमियों से कुछ जरूरी बातें हो रही हैं, शाम को पाँच-साढ़े पाँच बजे के बीच में चर्चगेट स्टेशन पर मिलना।"

शाम के समय छबीलदास चर्चगेट पहुँचा। सुशीला वहाँ पहले से ही मौजूद थी। उस समय वह बनारसी सिल्क की एक साड़ी पहने थी, शरीर पर गहने लदे थे, पर उसका चेहरा उतरा हुआ था और उसकी आँखें लाल थीं- मानो दिन-भर वह रोती रही हो। छबीलदास को देखते ही वह फूट पड़ी। उसन कहा, "छबील! मैं लुट गई।"

सुशीला के आँसू देखकर छबीलदास एकबारगी पिघल गया। उस समय वह यह भूल गया कि उसके सामने खड़ी स्त्री ने उसे धोखा दिया था। उसने कहा, "क्या बात है - इतना अधीर होने की कोई बात नहीं - मैं हूँ। बतलाओ तो क्या हुआ?"

"हीरालाल ने (उस सेठ का नाम था) मेरे जाली दस्तखत बनाकर बैंक से सब रूपए निकाल लिए - उसका दीवाला निकल गया है। मकान का किराया तीन महीने से नहीं दिया गया है, मकानवाले का नोटिस आया है। मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ।"
"मकान का कितना किराया है?" छबीलदास ने पूछा।
"डेढ़ सौ रूपया महीना - साढ़े चार सौ देने हैं। पास में एक पैसा नहीं।"

यह कहकर सुशीला ने एक सोने की अँगूठी निकालकर छबीलदास को दी, "कल के लिए घर में अनाज नहीं है – इसे बेचकर कल कुछ रूपया ला देना।"

छबीलदास के नेत्रों में करूणा छलछला पड़ी; उसने कहा, "सुशीला, मुझे अफसोस है कि मेरे पास रूपए नहीं है और तुम्हें यह दिन देखना पड़ा कि अपने गहने बेचो – भगवान की जैसी मरजी! कल सुबह मैं रूपये ले आऊँगा।"

छबीलदास सुशीला को एक पास के होटल में ले गया। वह कितना खुश था – एक साल बाद सुशीला उसके पास लौट आई। उस समय सुशीला के प्रति उसका क्रोध, उसके कर्मो के प्रति उसकी घृणा – वह सब लोप हो चुके थे।

छबीलदास की जेब में जो ग्यारह आने पैसे थे उनका ईरानी होटल में जैसा–तैसा नाश्ता करके छबीलदास ने सुशीला को विदा दी। वह खुद बिना टिकट गाड़ी पर बैठकर घर आया।

•••

जिस समय छबीलदास घर लौटा वह प्रसन्न भी था, चिंतित भी था। उस समय कमरे में मिस्टर वर्मा बिस्तर पर लेटे हुए सुस्ता रहे थे और रामगोपाल एक उपन्यास पढ़कर समय काटने की कोशिश कर रहा था। सिंह और पांडे भोजन करने के लिए होटल चले गए थे।

सुशीला की अँगूठी बिके और वह भी छबीलदास के हाथों–छबीलदास का हृदय रो रहा था। आज उसे अपनी गरीबी, विवशता – यह सब बुरी तरह अखर रही थी। उसने वर्मा के चेहरे को देखा, शांत, गंभीर, निश्ंचित उसकी हिम्मत बढ़ी, "वर्मा – कुछ बिजनेस बढ़ा?"

वर्मा ने सिगरेट का धुआँ छोड़ते हुए कहा, "बढ़ेगा क्यों नहीं। आज ही एक पार्टी फँसी है – एक सौदे में करीब दो हजार मिल जाएँगे।"

छबीलदास के हृदय की गति थोड़ी–सी तेज हुई, "यार – पच्चीस रूपए की सख्त जरूरत है – अगले हफ्ते वापस कर दूँगा।"

वर्मा ने छबीलदास को गौर से देखा। वे मौन भाव से छबीलदास को उसी तरह कुछ देर तक देखते रहे। छबीलदास का हृदय अब जोरों के साथ धड़कने लगा था। वर्मा ने आखिर अपनी खामोशी तोड़ी, "पचीस रूपए! ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी?"

छबीलदास की आशा और बढ़ी। "भाई जीवन–मरण का प्रश्न है। कल सुबह तक पचीस रूपए मुझे किसी तरह चाहिए ही।"

वर्मा ने उसी प्रकार गंभीरता से उत्तर दिया, "जीवन–मरण का प्रश्न है – तब तो तुम्हें किसी – न – किसी प्रकार रूपयों का इंतजाम करना ही होगा। मेरे पास तो इस समय एक पैसा नहीं है और अगर एक हफ्ता ठहर सकते तो पच्चीस–पचास–सौ जितना माँगते दे सकता था।"

छबीलदास को ऐसा लगा मानो उसका हृदय बैठा जा रहा है; वह अपने दिल को सम्हालने में व्यस्त हो गया और वर्मा कह रहे थे, "देखो, मुझे कल पंद्रह रूपए की सख्त जरूरत है। एक सेठ को मैंने लंच के लिए बुलाया है – उससे बहुत बड़े बिजनेस की उम्मीद है। पच्चीस रूपए का तुम्हें इंतजाम करना ही है क्योंकि यह तुम्हारे जीवन–मरण का प्रश्न है, तो जैसे

पच्चीस वैसे चालीस। कल सुबह तक पंद्रह रूपए मुझे दे देना – एक हफ्ते में मैं तुम्हें पंद्रह की जगह डेढ़ सौ रूपए वापस कर दूँगा।"
रामगोपाल, वर्मा की यह बात सुनकर ठहाका मारकर हँस पड़ा।

वर्मा ने रामगोपाल के हँसने पर कोई ध्यान नहीं दिया। छबीलदास रामगोपाल की ओर घूमा, "आपका परिचय?" छबीलदास ने पूछा।
छबीलदास से रामगोपाल का कोई परिचय न कराया गया था क्योंकि छबीलदास उस दिन सुबह से ही अपने मामलों में बुरी तरह उलझा हुआ था।
"जी –मैं भी इसी कमरे में आज से रहने लगा हूँ – और आपका पड़ोसी हुआ। मैंने पांडे जी से आपकी दास्तान सुनी– काफी दिलचस्प थी।"
"आपकी बला से।" छबीलदास ने रूखाई से उत्तर दिया।
छबीलदास की रूखाई का रामगोपाल पर कोई खास असर नहीं पड़ा। इस समय वह छबीलदास से मित्रता बढ़ाने की कोशिश कर रहा था।

रामगोपाल सुलझे हुए दिमाग का आदमी था। एक साधारण कुल में बहुत बड़ी आकांक्षाएँ लेकर वह पैदा हुआ था, और उसके जीवन में नेकी, सत्य, ईमानदारी यह सब उसकी सुविधाओं पर अवलंबित थे। शायद इतना अधिक महत्वाकांक्षी और अवसरवादी होने के कारण वह आज तक न अपना कोई मित्र बना सका था और न कहीं टिक सका था। उसके रिश्तेदार उससे घबराते थे, जो स्पष्ट वक्ता थे और निर्भीक थे उन्होंने साफ–साफ उससे उनके घर में न आने को कह दिया था, जो शरीफ और मुहब्बतवाले थे वे ऐसी परिस्थिति पैदा कर देते थे कि रामगोपाल को जबर्दस्ती उनका घर छोड़ना पड़े।

ऐसा नहीं कि रामगोपाल को घर में पैसे की कोई तंगी रही हो। उसके पिता ने उसे नौकरी कर लेने को बहुत जोर दिया, मैट्रिकुलेशन–पास रामगोपाल को सौ–सवा सौ की नौकरी –बड़ी बात थी ; लेकिन रामगोपाल की निगाह लाखों पर थी। उसने सुन रखा था कि सिनेमा लाइन एक ऐसी लाइन हैं जहाँ आदमी आसानी से लखपति या करोड़पति बन सकता है; और इसलिए पिता से अनुनय–विनय करके तथा एक लंबी रकम लेकर वह बंबई के लिए रवाना हो गया था।

बंबई में काफी चक्कर काटने के बाद एक बात उसकी समझ में और आई। अगर किसी युवक के साथ एक सुंदरी स्त्री है तो उसे आसानी से सफलता प्राप्त हो सकती है। लेकिन रामगोपाल को सुंदरी स्त्री कहाँ से मिलती।

और आज छबीलदास की कहानी सुनकर एकाएक उनके दिमाग में यह बात आई – "क्या भगवान ने मुझे अनायास इस कमरे में इन लोगों के साथ मेरी सहायता करने के लिए भेज दिया है?"

रामगोपाल ने कहा, "अजीब दुनिया हैं! दूसरों से हमदर्दी करो, उनकी सहायता करने की सोचो – लेकिन लोग इंसानियत से बात तक नहीं करते – जाने दीजिए, गलती हो गई।"

तीर निशाने पर पड़ा; छबीलदास रामगोपाल के बिस्तर पर बैठ गया, "माफ कीजिएगा! – बात यह है कि तबीयत अजीब उलझन में हैं, और वर्मा साहब जिस बेहूदेपन से पेश आए उससे दिमाग का पारा एकाएक बहुत चढ़ गया था।"
"खैर, कोई बात नहीं। तो अगर आप बुरा न मानें तो एक बात पूछूँ।"
"हाँ, हाँ!"
"सुशीला ने क्यों बुलाया था? क्या किसी मुसीबत में है?"
छबीलदास ने कहा, "हाँ, बहुत बड़ी मुसीबत में हैं। इस सेठ ने उसे छोड़ दिया है। घर में खाने तक के लिए पैसा नहीं है।" यह कहकर उसने सुशीला की अँगूठी निकाली, "उसने यह अँगूठी बेचने को दी है, लेकिन मैं अँगूठी बेचना नहीं चाहता।"

"अँगूठी बेचना तो बुरा होगा।"
"लेकिन मैं क्या करूँ – मेरे पास रूपए नही हैं।" छबीलदास ने जरा रूककर कहा, "अगर तुम मुझे पच्चीस रूपए उधार दे सको तो मेरी इज्जत बच जाए।"

रामगोपाल ने पच्चीस रूपए निकालकर छबीलदास को देकर कहा, "लेकिन इस पच्चीस रूपए से तो सुशीला का काम न चलेगा। आगे चलकर क्या करना होगा – तुमने यह भी सोचा?"

छबीलदास ने देखा कि उसके सामने एक देवता पुरूष बैठा है। चंद मिनटों की मुलाकात में उसने छबीलदास को पच्चीस रूपए दे दिए। उसन कहा, "यह तो नहीं सोचा! तुम इसमें कुछ मदद कर सकते हो?"

रामगोपाल ने जरा हिचकिचाहट के साथ कहा, "आप मेरी सलाह मानो तो सुशीला को किसी फिल्म कंपनी में नौकर रखवा दो। मैं कई डायरेक्टरों को जानता हूँ – अगर तुम चाहो तो मैं दौड़ – धूप कर दूँगा। हजार – पाँच सौ रूपए की नौकरी आसानी से मिल जाएगी।"

बात छबीलदास की समझ में आ गई। उन्होंने रामगोपाल से हाथ मिलाया, "बात तुमने लाख रूपए की कही। मैं एक दिन तुम्हें सुशीला से मिलवा दूँगा। इस बीच में तुम अपने डायरेक्टर दोस्तों से बात कर लो।"

छबीलदास ने रामगोपाल का सुशीला से परिचय करा दिया।
रामगोपाल सुशीला को लेकर सेवा फिल्म कंपनी को डायरेक्टर मिस्टर व्रती के यहाँ पहुँचा।

मिस्टर व्रती फिल्म लाइन में मशहूर आदमी थे। ना जाने कितनी फिल्में उन्होंने बनाई, न जाने कितनी फिल्में उन्होंने अधबनी छोड़ दी। बड़े ठाठ से रहते थे। उनके मकान में ही उनका दफ्तर था।

मिस्टर व्रती को एक नई हीरोइन की जरूरत थी क्योंकि उनके नए सेठ ने उनसे कह दिया था कि फर्स्ट क्लास नई–हीरोइन चाहिए, जिस तनख्वाह पर भी हो। मिस्टर व्रती के मकान पर हीरोइनों का ताँता लगा रहता था जिनमें कुछ व्रती साहब नामंजूर कर देते थे और कुछ को उनके नए सेठ।

सुशीला को देखते ही व्रती साहब प्रसन्न हो गए; उनके दिल ने साफ कह दिया कि सेठ जी इस हीरोइन को पसंद कर लेंगे।

उन्होंने बजाय रामगोपाल के सुशीला से कहा, "मैंने आज से ही आपको हजार रूपए पर रख लिया – एक पिक्चर बनाने पर मैं आपकी तनख्वाह डेढ़ हजार रूपये महीने कर दूँगा।"

रामगोपाल ने उसी समय कहा, "वह तो ठीक है, लेकिन जब तक आप मुझे अपनी पिक्चर में रोल नहीं देंगे तब तक यह काम न करेंगी।"

सुशीला ने आश्चर्य से रामगोपाल को देखा। रामगोपाल ने सुशीला से कह रखा था कि वह लखपती आदमी है, उसने सुशीला को बताया कि वे पच्चीस रूपए जो छबीलदास ने उसे दिए थे, रामगोपाल से लेकर दिए थे। और अब उसने देखा कि रामगोपाल उसकी नौकरी के कमीशन में खुद नौकरी माँग रहा है। लेकिन उसने उससे कुछ कहा नहीं, मिस्टर व्रती की ओर से आँखें हटा लीं।

"अच्छी बात है – आपको भी मैं एक पार्ट दे दूँगा; लेकिन तन्ख्वाह ज्यादा न दे सकूँगा।"

और उसी समय रामगोपाल को सेवा फिल्म कंपनी में ढाई सौ रूपए महीने की जगह मिल गई।
सेवा फिल्म कंपनी से निकलकर रामगोपाल ने सुशीला से कहा, "बहुत बड़ा काम हो गया – इसकी खुशी में आज ताजमहल होटल में खाना खाया जाए।"
पिछले कुछ दिनों से सुशीला बहुत अधिक परेशान रही थी, आज उसकी परेशानियाँ दूर हो गई थीं। उसका जी हल्का था, और वह हँसना चाहती थी, घूमना चाहती थी। सेठ हीरालाल के साथ वह एकाध दफा ताजमहल होटल गई थी और वहाँ की चहल-पहल, वहाँ के वैभव से वह प्रभावित हुई थी। उसने कहा, "अच्छी बात है।"

सुशीला को लेकर रामगोपाल ताजमहल होटल पहुँचा। वहाँ उसने सुशीला से प्रेमालाप प्रारंभ किया। सुशीला उस दिन प्रसन्न थी। यह प्रेमालाप उसे बुरा नहीं लगा। वह रामगोपाल को प्रेमालाप में बढ़ावा दे रही थी।

लेकिन उन दोनों को यह पता न था कि होटल के एक कोने में एक आदमी बैठा हुआ इन दोनों की गतिविधि को बड़े ध्यान से देख रहा था।

उस दिन मिस्टर वर्मा ने पंजाब के एक बहुत बड़े व्यापारी को फाँसा था और उसे वे ताजमहल होटल में डिनर खिलाने को ले गए थे। रामगोपाल को एक स्त्री के साथ ताजमहल होटल में बैठा देखकर स्वाभाविक रूप से मिस्टर वर्मा को कौतूहल हुआ; लेकिन उस कौतूहल को उन्हें जबर्दस्ती दबाना पड़ा। पर मिस्टर वर्मा साधारण ही चीजों को छोड़ देनेवाले जीव नहीं थे। जब मिस्टर वर्मा अपने कमरे में पहुँचे तो वे काफी खुश थे – दो हजार के फायदे का काम उन्होंने तय कर लिया था।

सुशीला को उसके घर पहुँचाकर रामगोपाल उस समय तक अपने कमरे में लौट आया था और छबीलदास से वह सुशीला की तथा अपनी सफलता की बात बतला रहा था। लेकिन इस बातचीत में वह ताजमहल होटल जाने की बात तथा सुशीला से अपनी प्रेम-वार्ता को दबा गया था। पांडे और सिंह को रामगोपाल के सौभाग्य पर ईर्ष्या हो रही थी। उसी समय मिस्टर वर्मा ने "मार लिया मैदान बंदे – मार लिया मैदान," गाना गुनगुनाते हुए कमरे में प्रवेश किया। आते ही तपाक से उन्होंने रामगोपाल से पूछा, "वाह भाई – बड़े छुपे रूस्तम निकले! किस खूबसूरत बला को ताजमहल होटल में फाँस ले गए थे?"

रामगोपाल पकड़ा गया, फिर भी उसने बचने की कोशिश की, "मेरी क्लास-फेलो थी, बंबई घूमने आई है।"
"क्यों बनते हो यार – शक्ल से तो ऐक्ट्रेस मालूम होती है – मैं भी ताजमहल होटल में मौजूद था – और तुम दोनों किसी फिल्म कंपनी की बात भी कर रहे थे।"
सिंह की ईर्ष्या रामगोपाल के सौभाग्य से काफी भड़क चुकी थी, उसने छूटते ही कहा, "सुशीला रही होगी। आज इन्हें और सुशीला, दोनों को नौकरी मिली है न! जश्न मनाने गए थे।"
छबीलदास के चेहरे से सारी खुशी गायब हो गई, उसने जरा गंभीर स्वर में कहा, "तुम इतने कमीने निकलोगे – यह मुझे न मालूम था।"

वर्मा हँस पड़े। "इसमें कमीनेपन की क्या बात – कहा है न रंडी किसकी बीवी और भँडुआ किसका यार।"
वर्मा की इस हँसी ने आग में घी का काम किया। छबीलदास ने रामगोपाल से कड़क कर कहा, "क्या जवाब देते हो?"
रामगोपाल भी तन गया, "तुम मुझसे जवाब माँगनेवाले कौन होते हो? जवाब माँगना है तो सुशीला से माँगो जाकर।"
पांडे ने किसी तरह मामला शांत करवाया।

•••

मिस्टर व्रती ने सुशीला से कहा, "यह आदमी रामगोपाल, इसके सामने मैंने पूरी बात कहना ठीक नहीं समझा। अब मैं एक सवाल पूछना चाहता हूँ – यह रामगोपाल कौन है और इससे आपका क्या रिश्ता है?"

सुशीला ने उत्तर दिया, "मैं इसे बिलकुल नहीं जानती। मेरे एक मुलाकाती ने कहा था कि ये आपकी फिल्म कंपनी में मुझे पहुँचा देंगे।"

मिस्टर व्रती ने संतोष की एक गहरी साँस ली, " अगर मैं इसे अपनी कंपनी में न लूँ तो आपको कोई आपत्ति नहीं होगी , क्योंकि यह किसी काम का आदमी नहीं है।"
"इसमें मुझे क्या आपत्ति हो सकती है।" सुशीला ने शांत भाव से उत्तर दिया।
"एक बात और ।मेरी कंपनी में रहकर आप बिना मेरी इजाजत किसी भी आदमी से नहीं मिल सकेंगी – मेरी कंपनी की यह पहली शर्त है।"
"अच्छी बात है।" सुशीला ने कहा।

मिस्टर व्रती उठ खड़े हुए, "आज शाम को पूना चलना है – वहाँ सेठजी से बातें करनी हैं। आप शाम तक तैयार हो जाइए, टिकट मँगवाए लेता हूँ।"

मिस्टर व्रती ने उसी समय कंपनी के दरबान को आज्ञा दी कि रामगोपाल को आफिस में घुसने न दिया जाए और उससे कह दिया जाए कि उसे नौकरी नहीं मिली।

जिस समय सुशीला अपना असबाब ठीक करने अपने घर पहुँची, छबीलदास फुटपाथ के चक्कर लगा रहा था।सुशीला ने छबीलदास को अंदर बुलाया।

छबीलदास भरा हुआ था, उसने कहा, "मैं तुम्हारे सर्विस पा जाने पर बधाई देने आया हूँ।"
सुशीला मुस्कुराकर अपना असबाब ठीक करने लगी।
"और इस बात पर भी कि तुम्हें एक नया मित्र मिल गया है जो तुम्हें ताजमहल होटल में खाना खिला सकता है, वहाँ तुमसे प्रेमालाप कर सकता है।"
सुशीला ने सूटकेस में कपड़े रखते हुए कहा, "तो क्या तुम मुझसे कैफियत तलब करने आए हो?"
छबीलदासहँस पड़ा, "मैं कैफियत तलब करनेवाला कौन होता हूँ।मैं तो वह साधन मात्र हूँ जो तुम्हारी मुसीबत पर काम आए।"
छबीलदास के इस स्वर से सुशीला को बुरा लगा, "आपका वह फर्ज था क्योंकि आप ही मुझको बनारस से बहका लाए थे। आगे से मैं आपसे इस तरह की न कोई सहायता माँगूँगी न आपसे कोई वास्ता रखूँगी।"

छबीलदास उठ खड़ा हुआ – तैश में।आज उसे अपने ऊपर ग्लानि हो रही थी।
उसने कहा, "बहुत अच्छा। लेकिन याद रखना तुम्हें फिर मेरी जरूरत पड़ेगी – और उस दिन मैं तुम्हारे ये शब्द याद रखूँगा – आगे चलकर मुझसे किसी तरह की उम्मीद न रखना।" और वह चला आया।

•••

उस छोटे–से कमरे में पाँच बिस्तर पड़े थे और पाँच आदमी लेटे थे। पांडे एक फिल्म मैगजीन उलट–पुलट रहा था, सिंह एक फिल्मी गाना गुनगुना रहा था। वर्मा सिगरेट के कश–के–कश ले रहा था। छबीलदास एक कोने में पड़ा सिसकियाँ ले रहा था। वह अपने विगत पर सोच रहा था, और वर्तमान की उस विगत से तुलना कर रहा था। और रामगोपाल दूसरे

कोने में मौन अपने भविष्य पर चिंता कर रहा था।

रामगोपाल को एक दिन नौकरी मिली, दूसरे दिन उसकी नौकरी छूट गई। कल एक हीरोइन मिली जिसके साथ में रहकर उसने लखपती होने के सपने बनाए थे, आज वह हीरोइन हाथ से निकल गई।
उसने जेब से अपना पर्स निकाला – अब उसमें कुल जमा–पूँजी पैंतीस रूपए रह गई थी।

पांडे ने मैगजीन रख दी। उसने रामगोपाल से पूछा, "क्यों, बड़े चुप हो? क्या बात है?"
सिंह ने उत्तर दिया, "आज इनकी नौकरी छूट गई।"
छबीलदास, जो अभी तक सिसकियाँ भर रहा था, चौंककर बैठ गया, "अच्छा हुआ। इन साले दगाबाजों के साथ होगा ही क्या? इस हाथ ले, उस हाथ दे।" और यकीनी तौर से छबीलदास का क्रोध और दुःख **75** प्रतिशत गायब हो गया था।

रामगोपाल से अब न रहा गया, वह उठ बैठा और उसने कहा, "अब जो किसी साले ने गाली दी तो मैं उसका मुँह तोड़ दूँगा।"

मामला संगीन हो रहा था – वर्मा ने यह देखा और उठ बैठा। "आखिर मामला क्या है?"

सिंह ने कहा, "आज रामगोपाल को सेवा फिल्म कंपनी से जवाब मिल गया – सो ये झल्लाए हुए हैं। लेकिन छबीलदास आज क्यों इतने क्रोधित हो गए – यह समझ में नहीं आता।"

"वह मैं बतला दूँ।" वर्मा ने मुस्कुराते हुए कहा, "वह औरत – वही – क्या नाम है उसका – वह आज एक आदमी के साथ – शायद उसका नाम व्रती है – पूना गई है, साथ में मेरे पंजाबवाले सेठ भी थे जो उस कंपनी में रूपया लगा रहे हैं।"

अब वर्मा से न रहा गया, वह खिलखिलाकर हँस पड़ा। "पंजाबवाले सेठ के पास पैसा है – वह पैसा खर्च तो होना ही चाहिए।"

पांडे उठा – उसने छबीलदास से कहा, "इसी बात पर नाराज हो गए? अरे भाई, एक दफा तुम्हें छोड़कर चली गई तो फिर अब वह फिर से तुम्हारी कैसे हो सकती थी – भूल जाओ उसे।"

उधर सिंह रामगोपाल से कह रहा था, "ऐसी नौकरियाँ मिलेंगी और छूटेंगी – इस पर अफसोस करने की क्या बात है?" और पांडे और सिंह ने मिलकर छबीलदास और रामगोपाल से हाथ मिलवा दिया।

वर्मा ने एक-एक सिगरेट उन लोगों को दी – कमरे में सिगरेट का धुआँ भर गया। उस एक छोटे-से कमरे में भेड़ों की तरह रहनेवाले वे पाँचों युवक लेटे थे और सिगरेट पी रहे थे जैसे कुछ हुआ ही नहीं। भावना और चेतना से शून्य। और धीरे – धीरे वह पाँचो युवक सो गए सुबह उठकर फिर नित्य की तरह बेकारी, गैर–जिम्मेदारी की जिंदगी बिताने के लिए।

## उड़ान कृष्ण बलदेव वैद

और एक दिन वह सब काम-धन्धे छोड़ कर घर से निकल पड़ी। कोई निश्चित प्रोग्राम नहीं था, कोई सम्बन्धी बीमार नहीं था, किसी का लड़का पास नहीं हुआ था, किसी परिचित का देहान्त नहीं हुआ था, किसी की लड़की की सगाई नहीं हुई थी, कहीं कोई सन्त-महात्मा नहीं आया था, कोई त्योहार नहीं था — कोई बहाना नहीं था।

वास्तव में हुआ यह कि बरतन माँजते-माँजते अचानक जाने कहाँ से और कैसे शीला के मन में एक अनजानी तरंग-सी उठी और हाथ में पकड़े हुए बरतन को पटक कर हाथ धोये बिना वह जैसी की तैसी कमरे से बाहर आयी और पुकारने लगी -- "रानी ओ रानी.... ।" रानी का कमरा अहाते की दूसरी छत पर था।

आवाज़ देते-देते शीला की दृष्टि शून्य को चीर कर आकाश पर छाये हुए बादलों से टकरायी और पानी का एक कतरा उसकी दायीं आँख में आन गिरा। शीला ने एकदम आँख मींच ली और फिर जोर से आवाज देने लगी — "रानी ओ रानी।"

और जब रानी ने जँगले से नीचे झाँकते हुए पूछा, "क्यों री, क्या हुआ जो मुँह अँधेरे बाँगे दे रही हो।" तो शीला जवाब देने के बजाए खिलखिला कर हँसने लगी और रानी सवाल दोहराने के बदले, धम-धम करती नीचे आँगन में आ गयी और आते ही शीला की चुटिया पकड़ कर खींचने लगी। शीला ने हँसते हुए धमकी दी, "छोड़ दो, नहीं मुँह काला कर दूँगी।" रानी ने हँसकर जवाब दिया, "किसका..... अपना।"

और फिर दोनों हँसने लगीं और हँसते-हँसते ही शीला ने रानी के कान में कुछ कहा जिसे सुनते ही रानी ताली पीट कर चिल्लाने लगी..... "वन्ती....... ओ वीराँ.... ओ वन्ती.... ।"

वन्ती और वीराँ उसी मकान की निचली मंजिल के दो कमरों में रहती थीं और सब शोर सुन चुकी थीं। वन्ती अपने कमरे के एक कोने में नहा रही थी और वीराँ पिछले प्रहर के लिए थोड़ा-सा आटा गूँध रही थी। रानी की आवाज सुनते ही वन्ती ने तुरन्त एक-दो गिलास पानी के इधर-उधर फेंके और एक मैला दुपट्टा बदन पर लपेट कर कमरे से बाहर निकल आयी। वीराँ ने आटा अध-साना छोड़ दिया था और पहले से ही शीला और रानी के साथ खड़ी न जाने किस बात पर हँस रही थी। वन्ती को देखते ही तीनों बिलकुल बच्चों की तरह चिल्लाने लगीं। "वन्ती नंगी होय.... वन्ती नंगी... ।" वन्ती खिसिया कर अपने कमरे में लौट गयी और जल्दी-जल्दी पेटीकोट और कुर्ती पहन कर कुर्ती के बटन बन्द करती-करती फिर बाहर दौड़ आयी। रानी ने आगे बढ़कर कहा — "अरी दौड़ो नहीं, तुम्हारे हिस्से का तुम्हें मिल जाएगा।" वन्ती ने जरा आश्चर्य से पूछा — "क्या?" तो तीनों ने एक ही स्वर में कहा, "प्रसाद" और फिर चारो खिलखिला कर हँस पड़ीं।

उनकी इस खिलाखिलट से अहाते का घुटा हुआ वातावरण मानो चिढ़-सा गया और इस चिड़चिड़ेपन का स्पष्ट प्रमाण था अहाते की मालकिन का कुपित चेहरा जो अपने पोर्शन के सामनेवाली गली में खड़ी इन गँवार स्त्रियों के गँवारपन पर दाँत पीस रही थी, लेकिन जब इन चारों ने आपस में कुछ खुसर-फुसर करने के पश्चात् अपनी छोटी-सी कान्फ्रेन्स का अन्त एक चीखते हुए ठहाके पर किया तो अहाते का वातावरण बदल-सा गया। यद्यपि उसकी मालकिन का पारा कुछ दर्जे और ऊपर चढ़ गया।

हँसती-चीखती, बल खाती चारों अपने-अपने कमरे में दौड़ गयीं। शीला ने राख भरे हाथ जल्दी से धोये। बरतनों का ढेर जहाँ का तहाँ पड़ा रहा और वह अपनी फूलों वाली शलवार को ठीक करने लगी।

रानी ने झाड़ू उठाकर एक कोने में फेंक दिया। और पानी भरी बाल्टी फर्श पर उड़ेल कर उसे एक ओर खिसका दिया और हाथ पेटीकोट से पोंछ कर आँखों में सुरमा डालने लगी। वन्ती पहले से ही सब काम समाप्त कर चुकी थी, केवल आग बुझानी बाकी थी। उसने खड़े-खड़े ही दो-तीन गिलास पानी चूल्हे में फेंक दिया और एक क्षण के लिए सोचा कि सारा चूल्हा गीला हो गया और फिर नये दुपट्टे में सिलवटें डालने लगी। वीरा ने आटे की परात को एक कोने में धकेल

दिया, उसके कमरे में चप्पे-चप्पे पर जूठे बरतन पड़े हुए थे, क्योंकि उसके बच्चे अभी-अभी खा-पी कर बाहर निकले थे। उसने एक-दो गिलास उठा कर ठिकाने लगाए, फिर हाथ-मुँह धोने लगी।

कुछ ही देर में चारों सहेलियाँ अपने-अपने कमरे को ताला लगा कर अहाते से बाहर निकल गयीं ओर अहाते की क्रोधित मालकिन आश्चर्य से उँगली दाँतों में दबाए देखती की देखती रह गयी। उन्होंने जाती बार आँख उठाकर उसकी ओर देखा तक न था, "नीच घराने की" अहाते की मालकिन बड़बड़ायी और उसी समय उसके पति ने अन्दर से आवाज दी। "अरी कहाँ चली गयी तू नीच घराने को, यह क्या कर दिया है तूने?" और वह अन्दर जा कर पति से झगड़ने लगी।

इधर वे चारों सड़क पर एक-दूसरे के पीछे ऐसे भाग रही थीं जैसे प्राइमरी स्कूल की लड़कियाँ। रानी ने तो हद ही कर दी। दुपट्टा उसने कमर पर बाँध लिया और चोटी को सर पर पगड़ी की भाँति लपेट कर यों चलने लगी जैसे रानी खाँ की छोटी साली वही हो। वह अब गली से गुजर कर सड़क पर पहुँच चुकी थी। शीला कह रही थी रूक जाओ, रानी ठहरो.. .. इधर कहाँ चल पड़ी हो... इधर तो कुछ भी नहीं... जंगल में जावोगी... । वह इतने जोर से बोल रही थी कि नवाबगंज रोड पर जाने वाले कुछ विद्यार्थी मुड़-मुड़कर देख रहे थे। शीला के कई बार चिल्लाने पर आखिर रानी रूकी और कुछ सलाह के बाद उन्होंने निश्चय किया कि उन्हें सब्जी मंडी से ट्राम पकड़नी चाहिए और जब वन्ती ने पूछा.. .जाओगी कहाँ? तो तीनों ने हँस कर जवाब दिया जहाँ तू ले जाए। इस पर वन्ती भी हँस पड़ी और वह सब्जी-मंडी की तरफ चल पड़ी।

एक ट्राम खड़ी थी। वे दौड़ कर उसमें बैठ गयीं और जब कन्डक्टर ने शीला से पूछा — "कहाँ जाओगी जी?" तो शीला ने हँस कर जवाब दिया, "उससे पूछो।" कन्डक्टर इस अकारण हँसी पर खीज-सा गया और उसने तुनककर कहा, "किससे पूछूँ।" शीला ने फिर हँस कर कहा — "नाराज क्यों होते हो उससे .... रानी से पूछो।"
"मुझे सपना आएगा कि रानी कौन है" कन्डक्टर ने बिगड़ कर कहा। "मैं हूँ रानी।" रानी ने चलती ट्राम में उठ कर आगे बढ़ते हुए कहा और दूसरे ही क्षण में लड़खड़ा कर एक वृद्ध की गोद में जा गिरी।

शीला, वन्ती और वीरा खिलखिला कर हँस उठीं और रानी उस वृद्ध की गोद में से उठती हुई बोली, "हँसती क्यों हो, अपने पिता के समान है।" इस पर ट्राम में बैठे सभी लोग हँस पड़े और वह वृद्ध बगलें झाँकने लगा। रानी उठ कर गिरती-पड़ती फिर अपनी सीट पर बैठ चुकी थी।

कुतुब रोड के अड्डे पर जब वह ट्राम से उतर गयीं तो कन्डक्टर ने न जाने किसे सम्बोधित करते हुए कहा, "अजीब वाहियात औरतें थीं" और ट्राम में बैठे एक आदमी ने अपनी पत्नी से कहा, "लाज-शर्म तो रही नहीं" और वह वृद्ध बगल में बैठे एक युवक से कह रहा था, "साली क्या धम्म से आकर गोद में गिर पड़ी" और युवक यह समझने की कोशिश कर रहा था कि बूढ़ा उस औरत की हरकत की बुराई कर रहा है या वैसे ही चटखारा ले रहा है।

ट्राम से उतरते ही उन्होंने फिर सोचने की आवश्यकता समझी कि वे कहाँ जाएँ। जब रानी ने अपने मुँह पर अँगुली रखते हुए कहा, "हाय, हम कहाँ आ गयीं" तो शीला ने भोलेपन से जवाब दिया, "अपनी ससुराल" और इस पर वह सब इस जोर से हँसीं कि आसपास के खड़े सभी लोग उनकी ओर देखने लगे।

हँसी के मारे वे दुहरी-तिहरी हुई जा रही थीं और यह भी भूल गई थीं कि दोनों दिशाओं से एक-एक कार केवल उन्हीं के कारण हार्न पर हार्न बजा रही थी। और जब एक कार ने पीछे से रानी की टाँगों पर हल्का-सा ठहोका दिया तो उसकी हँसी चीख में बदल गयी और उसने मुड़ कर कारवाले को पाँच-छः घरेलू गालियों से विदा किया।

जब वह सड़क के किनारे लग गयीं तो शीला (जिसकी तरंग उन्हें घर से निकाल लायी थी) को जाने क्या सूझी, कहने लगी "कनाट प्लेस चलोगी।" नाम तो सबने सुन रखा था। वन्ती का घर वाला दफ्तर से लौटते समय हर पहली तारीख को कनाट प्लेस से ही फूलों का एक हार उसके लिए ले आया करता था। वीरां का रामदयाल भी अपने काम-काज के

सम्बन्ध में कनाट प्लेस जाया करता था, जहाँ उसके सस्ते बिस्कुटों के पक्के ग्राहक थे। रानी तो स्वयं भी दो बार कनाट प्लेस हो आयी थी — एक बार जब उसके अनुरोध पर उसका पति आजादी का जुलूस दिखाने ले गया और एक बार वह अकेली घूमती–घामती उधर जा निकली थी। शीला का सुझाव हाथों–हाथ लिया गया और वे एक ताँगे में सवार हो गयीं।

घोड़ा पहले ही काफी तेज था, मगर रानी ने जरा नखरे के साथ ताँगेवाले पर चोट करते हुए कहा "लैन, इसी तरह टिचकूँ–टिचकूँ चलेगा क्या?" तो ताँगेवाले ने घोड़े की पिछली टाँगों में छड़ी के साथ कुछ इस शरारत से खुजली की कि घोड़ा हवा से बातें करने लगा। तड़ाख–तड़ाख करने लगा। तड़ाख, तड़ाख के पाँव पक्की सड़क पर पड़ते और ताँगेवाला कभी रानी और कभी शीला की ओर जो उसके बराबर अगली सीट पर बैठी हुई थीं ऐसे देखता जैसे इनाम की माँग कर रहा हो परन्तु रानी और शीला घोड़े से भी अधिक तेज दौड़ रही थीं। रानी का दुपट्टा सिर पर तो पहले ही नहीं था, अब उसके बदन के किसी भी हिस्से पर नहीं था। नीचे गिर गया था... उसके पाँवों में। शीला के बाल उसकी चोटी से भाग–भाग कर इधर–उधर दौड़ रहे थे। पीछे बैठी वन्ती और वीरां बच्चों की तरह सीट पर घुटने टेक कर आगे की ओर देख रही थीं।
रानी कह रही थी, "बल्ले ओ बल्ले।"
शीला कह रही थी, "हाय राम इतना तेज।"
ताँगेवाला कह रहा था, "कहो तो और तेज।"
वन्ती और वीरां पीछे बैठी बोल उठीं, "हाँ भाई और तेज और तेज।"
ताँगेवाला पायदान पर खड़ा ललकार रहा था, "आ हा हा हा.... "
और सड़क पर आने–जाने वाले लोग इस फर्राटे भरते हुए ताँगे पर दृष्टि तो न जमा सकते थे, पर टीका–टिप्पणी सब कर रहे थे। यदि वह किसी तरह सब एक स्थान पर इकट्ठे हो जाते तो सर्वसम्मति से निर्णय हो जाता कि ताँगे पर वेश्याएँ बैठी है, तेज कैसे न दौड़े।

लेकिन चूँकि ताँगा वेश्याओं को न बैठाये था, इसलिए कनाट प्लेस पहुँच कर ताँगेवाले को भी निराशा हुई। इनाम देने की बजाय रानी उससे कह रही थी "भाई हमारे पास तो साढ़े ग्यारह आने है, अब दो पैसे के लिए क्या जान लेगा।"
ताँगेवाले को शायद रानी का यह वाक्य सुन कर ठेस–सी लगी। एकदम बोल उठा "रानी तू यह भी रख ले!"

उसका यह कहना था कि वन्ती, वीरां और शीला खटाक से हँस उठी थीं। जैसे किसी ने तीन फव्वारे छोड़ दिये हों। रानी पहले एक क्षण के लिए भौंचकी सी रह गई, फिर जब बात समझ में आयी तो इतनी हँसी कि खड़ी न रह सकी और वहीं बैठ कर 'उई' ,'उइ' , करने लगी। ताँगेवाले ने अपने आप से कहा, 'पागल होंगी' और कदम–कदम घोड़े को चलाने लगा।

जब जरा दम में दम आया तो अपनी आँखों को पोंछते हुए रानी ने कहा, "मुए को मेरा नाम कैसे पता चल गया?" वन्ती ने जवाब दिया, "भाई तुम्हें कौन नहीं जानता?" और इस पर हँसी का दूसरा दौर शुरू होने वाला ही था कि उसी ताँगेवाले की आवाज फिर आई "क्यों जी कुतुब की सैर करवा लाऊँ।"

ताँगेवाला कुछ दूर जाकर फिर मुड़ आया था।
"कुतुब की सैर करवा अपनी माँ को, अपनी बहन को।" रानी ने विशेष घरेलू औरत के स्वर में कहा और अपनी सहेलियों से बोली, "चलो री यह मुआ तो कुत्ते की तरह पीछे ही पड़ गया है। और वह ओडियन सिनेमा की ओर चल पड़ीं।
रानी बोली, "यह है कनाड प्लेट्स।"
वीरां बोली, "कनाड प्लेट्स नहीं, करनाट पलेस।"
वन्ती ने कहा, "क्या बकती हो, नाम है.... कनास प्लेट।"
शीला ने कहा, "नाम कुछ भी हो स्थान तो यही है न।"
रानी बोली, "पूछ क्यों नहीं लेती किसी से?"
"जाओ न अपने उस ताँगेवाले से.... ।"
ताँगेवाले का नाम सुनते ही रानी एक मुस्कान को दबाते हुए बोली, "मुआ नाम तक जान गया।"

वह ओडियन के सामने रूक कर दूर से तस्वीरें देखती रहीं और फिर झिझकते-झिझकते नजदीक आयीं और फिर धीरे से सिनेमा के पोर्च में दाखिल हो गयीं। फिरती-फिराती पुरूषों के पेशाबघर पर जा रूकीं। कुछ क्षण सोचती रहीं कि अन्दर क्या होगा और फिर रानी ने दरवाजा अन्दर की ओर धकेला और 'उइ माँ' कह कर बाहर की ओर भागने लगी। सबकी सब भागती-फिसलती बाहर आ गयीं और रानी से पूछने लगी कि, "हुआ क्या।" पर रानी हँसती गई, हँसती गई और जब उन्होंने बहुत तंग किया तो बोली "एक आदमी... " और फिर हँसने लगी। "ताँगेवाला याद आ रहा है" वीरां और वन्ती ने कहा। शीला ने बात बदलने के लिए कहा, "यहीं कहीं हनुमानजी का मन्दिर है कहो तो... ।"
"राख डालो हनुमानजी के मन्दिर पर। सैर पर निकली हो कि पूजा को? वहाँ भी कोई मोटा-ताजा पुजारी बैठा घूर रहा होगा।"
"आप बीती सुना रही हो" शीला ने कहा और वह फिर हँसने लगी।

और इसी तरह हँसते-हँसाते, फिरते-फिराते उन्होंने शाम कर दी। हँसते-हँसते उनके गले बैठ गये थे और वैसे भी उन्होंने बहुत कुछ अलम-गलम खा लिया था... गोलगप्पे, आलू की टिकिया, चाट के पत्ते, चनाजोर गर्म याने कनाट प्लेस के बड़े होटलों को छोड़ कर बाहर जो चीजें मिलती थीं, वे सब उन्होंने थोड़ी-थोड़ी चख ली थीं। कनाट प्लेस के बरामदों में कितने ही चक्कर लगाये थे, कितनी ही दुकानों के सामने हक्की-बक्की होकर खड़ी हुई थीं। कितने ही लोगों को अपनी हँसी के कारण भ्रम में डाल चुकी थीं और अब उनकी टाँगों में हल्का-हल्का दर्द होने लगा था तथा उनके दिमागों को कोई जंजीर घर की ओर खींचने लगी थी।
"चलो न वहाँ क्या हरी-हरी घास है थोड़ी देर बैठ कर आराम कर लें।"
पर इसके जवाब में 'हाँ' या 'ना' की बजाय जब वीरां ने धीमे स्वर में कहा, "घर नहीं चलोगी?" तो घर का नाम जैसे घड़े पर रोड़े के समान लगा। चारों के चेहरे एकदम उतर गये।

"घर जाकर क्या करोगी?" रानी ने हिम्मत से काम लेते हुए कहा। लेकिन उसके इस निर्बल से प्रतिवाद का यथार्थ के कड़ुवे बादलों पर कोई प्रभाव न पड़ा, जो शायद आसमान से छट कर अब उनके दिमागों पर छा रहे थे।
"घर में है क्या?" रानी ने फिर कहा जैसे अपने आपको समझा रही हो।
"है खाक।" शील ने जवाब दिया जैसे कह रही हो जानते-बूझते हुए पूछती हो।
और वे चारों सहेलियाँ हरी-हरी घास पर बैठने की बजाए घर की ओर लौट पड़ीं।
"ताँगा कर लो, रानी ने कहा पर किसी को हँसी न आयी।"
"वन्ती और वीरां को मानो साँप सूँघ गया है।" शीला ने कहा।
"सोच रही हूँ रात को सब्जी क्या पकाऊँगी?" वन्ती ने जवाब दिया।
इसका मजाक उड़ाने की बजाए रानी बोली, मेरे से सुबह की दाल ले लेना।"
और वे रास्ता पूछती-पाछती घर की छोटी-छोटी उलझनों को सुलझाती, घरेलू समस्याओं पर बहस करती, पड़ोसिनों की निंदा करती, एक-दूसरे से ईर्ष्या करतीं, पाइयों-आनों का हिसाब करती तेज-तेज घर की ओर चलने लगीं। जब वे गली के पास पहुँचीं तो अँधेरा काफी गहरा हो चुका था।

## उसने कहा था — चंद्रधर शर्मा गुलेरी

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़िवालों की जवान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगायें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ चाबुक से धुनते हुए, इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट-सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं,कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरे को चींघकर अपने-ही को सताया हुआ

बताते हैं, और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियों में, हर-एक लड्ढी वाले के लिए ठहर कर सब्र का समुद्र उमड़ा कर 'बचो खालसाजी।' 'हटो भाईजी।' 'ठहरना भाई जी।' 'आने दो लाला जी।' 'हटो बाछा।' -- कहते हुए सफेद फेटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्नें और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती नहीं; पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी बचनावली के ये नमूने हैं — 'हट जा जीणे जोगिए; हट जा करमा वालिए; हट जा पुतां प्यारिए; बच जा लम्बी वालिए।' समष्टि में इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले।

उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिक्ख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था, और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेसी से गुँथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।
"तेरे घर कहाँ है?"
"मगरे में; और तेरे?"
" माँझे में; यहाँ कहाँ रहती है?"
"अतरसिंह की बैठक में; वे मेरे मामा होते हैं।"
"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ , उनका घर गुरूबाजार में हैं।"

इतने में दुकानदार निबटा, और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जा कर लड़के ने मुसकराकार पूछा, "- तेरी कुड़माई हो गई?"

इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ा कर 'धत्' कह कर दौड़ गई, और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ अकस्मात दोनों मिल जाते। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिये पूछा तो लड़की, लड़के की संभावना के विरूद्ध बोली - "हाँ हो गई।"
"कब?"
"कल, देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।"

लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहा कर आती हुई किसी वैष्णवी से टकरा कर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

(दो)

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है। दिन-रात खन्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाना से दस गुना जाड़ा और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। जमीन कहीं दिखती नहीं; - घंटे-दो-घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है।

इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ' आ जायेगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी मेम के बाग में — मखमल का-सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो , मेरे मुल्क को बचाने आये हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ा कर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मार कर न लौटूँ, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े — संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं, और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था - चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल ने हट जाने का कमान दिया, नहीं तो — "

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते! क्यों?" सूबेदार हजारसिंह ने मुसकराकर कहा -- "लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?"

"सूबेदारजी, सच है," लहनसिंह बोला - "पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय, तो गरमी आ जाय।"

"उदमी, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बालटियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंकों। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदल ले।" — यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला - "मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण !" इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भर कर उसके हाथ में देकर कहा - "अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर में नहीं मिलेगा।"

"हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस धुमा जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।"

"लाड़ी होरा को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फरंगी मेम -"
"चुप कर। यहाँ वालों को शरम नहीं।"
"देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिये लड़ेगा नहीं।"
"अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है?"
"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ ! रात-भर तुम अपने कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है, मौत है, और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सीर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वजीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा — "क्या मरने-मारने की बात लगाई है? मरें जर्मनी और तुरक ! हाँ भाइयों, कैसे …
"

दिल्ली शहर तें पिशोर नुं जांदिए,<br>
कर लेणा लौंगां दा बपार मडिए;<br>
कर लेणा नादेड़ा सौदा अड़िए —<br>
(ओय) लाणा चटाका कदुए नुँ।<br>
कद्द बणाया वे मजेदार गोरिये,<br>
हुण लाणा चटाका कदुए नुँ।।

कौन जानता था कि दाढ़ियावाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे, पर सारी खन्दक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

(तीन)

दोपहर रात गई है। अन्धेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछा कर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट ओढ़ कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है ?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगा कर पूछा — "कहो कैसे हो?" पानी पी कर बोधा बोला - "कँपनी छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"
"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो !"
"और तुम?"
"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है। पसीना आ रहा है।"
"ना, मैं नहीं पहनता। चार दिन से तुम मेरे लिये --"
"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से बुन-बुनकर भेज रही हैं मेमें, गुरू उनका भला करें।" यों कह कर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।
"सच कहते हो?"
"और नहीं झूठ?" यों कह कर नहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहन-कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई – "सूबेदार हजारासिंह।"
"कौन लपटन साहब? हुक्म हुजूर !" – कह कर सूबेदार तन कर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे–नीचे दो खेत काट कर रास्ता है। तीन–चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़ कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीन कर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतार कर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा–बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेर कर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ा कर कहा –– "लो तुम भी पियो।"

आँख मारते–मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपा कर बोला –– "लाओ साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में ही कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों से कटे बाल कहाँ से आ गये?"

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

"क्यों साहब, हमलोग हिन्दुस्तान कब जायेंगे?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसन्द नहीं ?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी जिले में शिकार करने गये थे –

हाँ– हाँ –– वहीं जब आप खोते पर सवार थे और और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ने को रह गया था? बेशक पाजी कहीं का – सामने से वह नील गाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थीं। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नील गाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रेजमेंट की मैस में लगायेंगे। हां पर मैंने वह विलायत भेज दिया – ऐसे बड़े–बड़े सींग! दो–दो फुट के तो होंगे?"

"हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ" — कह कर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अंधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

"कौन ? वजीरसिंह?"

"हां, क्यों लहना? क्या कयामत आ गई? जरा तो आँख लगने दी होती?"

(चार)

"होश में आओ। कयामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है।"

"क्या?"

"लपटन साहब या तो मारे गये है या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की है। सोहरा साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है?"

"तो अब!"

"अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरा, कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते–देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे।

सूबेदार से कहो एकदम लौट आयें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यह है कि यहीं – "

"ऐसी तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम — जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफसर है, उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ है।"

"आठ नहीं, दस लाख। एक–एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह–जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बांध दिया।तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जला कर गुत्थी पर रखने––

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दुक को उठा कर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आँख ! मीन गौट्ट' कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीन कर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीट कर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन–चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँस कर बोला — "क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नील गायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं

और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिन 'डेम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानो जाड़े से बचने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया — "चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिये चार आँखें चाहिये। तीन महिने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव आया था। औरतों को बच्चे होने के ताबीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछा कर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनीवाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़-पढ़ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता कि डाकखाने से रूपया निकाल लो। सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी। और गाँव से बाहर निकल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो —"

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिन के दो फायरों ने साहब की कपाल-किया कर दी। धड़ाका सुन कर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लया -- "क्या है?"

लहनासिंह ने उसे यह कह कर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और, औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधी। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था - वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़ कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनिटों में वे —

अचानक आवाज आई 'वाह गुरूजी की फतह? वाह गुरूजी का खालसा!!' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारसिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और -- 'अकाल सिक्खाँ दी फौज आई ! वाह गुरूजी दी फतह ! वाह गुरूजी दा खालसा ! सत श्री अकालपुरूख !!! ' और लड़ाई खतम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहिने कन्धे में से गोली आरपार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मट्टी से पूर लिया और बाकी का साफा कस कर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव - भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी वाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था

कि कैसे मन–मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी, जब मैं दौड़ा–दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागजात पाकर वे उसकी तुरत–बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाडियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दार–अन्दर आ पहुँची। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते–होते वहाँ पहुँच जायेंगे, इसलिये मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गई। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कह कर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सबेरे देखा जायेगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़ कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा — "तुम्हें बोधा की कसम है, और सूबेदारनीजी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम?"

"मेरे लिये वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना, और जर्मन मुरदों के लिये भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर ––"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिये तो, सूबेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो, तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते–चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा –– "तैने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना, और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते लहना लेट गया। – "वजीरा पानी पिला दे, और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।"

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म–भर की घटनायें एक–एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं। समय की धुन्ध बिल्कुल उन पर से हट जाती है।

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कह कर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा, तो उसने कहा – "हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?' सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

"वजीरासिंह, पानी पिला दे।"

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं. **77** रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न–मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमें की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है, फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार

हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधसिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ ही चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढे में से निकल कर आया। बोला –

"लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं, बुलाती हैं। जा मिल आ।" लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जा कर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।
मुझे पहचाना?"
"नहीं।"
'तेरी कुड़माई हो गई –धत् –कल हो गई– देखते नहीं, रेशमी बूटोंवाला सालू –अमृतसर में – '
भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।
'वजीरा , पानी पिला' – 'उसने कहा था।'

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है – 'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमक–हलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों की एक घँघरिया पल्टन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी। 'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे, आप घोड़े की लातों में चले गये थे, और मुझे उठा–कर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे आँचल पसारती हूँ।'

रोती–रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वजीरासिंह, पानी पिला' –– 'उसने कहा था।'
लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला — "कौन ! कीरतसिंह, ?"
वजीरा ने कुछ समझकर कहा –– "हाँ।"
"भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।" वजीरा ने वैसे ही किया।
"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अब के हाड़ में यह आम खूब फलेगा। चचा–भतीजा दोनों यहीं बैठ कर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वजीरासिंह के आँसू टप–टप टपक रहे थे।

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा — फ्रान्स और बेलजियम — **68** वीं सूची — मैदान में घावों से मरा –– नं. **77** सिख राइफल्स जमादार लहनसिंह।

## 'एक टोकरी भर मिट्टी' माधवराव सप्रे

किसी श्रीमान जमींदार के महल के पास एक गरीब अनाथ विधवा की झोपड़ीं थी। जमींदार साहब को अपने महल का हाता उस झोपड़ी तक बढ़ाने की इच्छा हुई। विधवा से बहुतेरा कहा कि अपनी झोपड़ी हटा ले। पर वह तो कई जमाने से वही बसी थी।

उसका प्रिय पति और इकलौता पुत्र भी उसी झोपड़ी में मर गया था। पतोहू भी एक पांच बरस की कन्या को छोड़कर चल बसी थीं। अब यही उसकी पोती इस वृद्धाकाल में एकमात्र आधार थी। जब कभी उसे अपनी पूर्वस्थिति की याद आ जाती तो मारे दुख के फूट-फूटकर रोने लगती थी। और जबसे उसने अपने श्रीमान पड़ोसी की इच्छा का हाल सुना, तब से वह मृतप्राय हो गयी थी।

उस झोपड़ीं में उसका मन ऐसा लग गया था कि बिना मरे वहां से वह निकलना ही नहीं चाहता थी। श्रीमान के सब प्रयत्न निष्फल हुए। तब वे अपनी जमींदारी चाल चलने लगे। बाल की खाल निकालने वाले वकीलों की थैली गरम कर उन्होंने अदालत से झोपड़ी पर अपना कब्जा कर लिया और विधवा को वहां से निकाल दिया। बिचारी अनाथ तो थी ही, पास पड़ोस में कहीं जाकर रहने लगी।

एक दिन श्रीमान उस झोपड़ी के आसपास टहल रहे थे और लोगों को काम बतला रहे थे कि इतने में वह विधवा हाथ में एक टोकरी लेकर वहां पहुंची। श्रीमान ने उसको देखते ही अपने नौकरों से कहा कि उसे यहां से हटा दो। पर वह गिड़गिड़ाकर बोली कि "महाराज, अब तो यह झोपड़ी तुम्हारी ही हो गयी है। मैं उसे लेने नहीं आयी हूं। महाराज क्षमा करें तो एक बिनती है।" जमींदार साहब के सिर हिलाने पर उसने कहा कि "जब से यह झोपड़ी छूटी है तब से मेरी पोती ने खाना-पीना छोड़ दिया है। मैंने बहुत कुछ समझाया पर वह एक नहीं मानती। यही कहा करती है कि अपने घर चल, वहीं रोटी खाऊंगी। अब मैंने यह सोचा है कि इस झोपड़ी में से एक टोकरी भर मिट्टी लेकर उसी का चूल्हा बनाकर रोटी पकाऊंगी। इससे भरोसा है कि वह रोटी खाने लगेगी। महाराज, कृपा करके आज्ञा दीजिए तो इस टोकरी में मिट्टी ले जाऊं।" श्रीमान ने आज्ञा दे दी।

विधवा झोपड़ी के भीतर गयी। वहां जाते ही उसे पुरानी बातों का स्मरण हुआ और उसकी आंखों से आंसू की धारा बहने लगी। अपने आन्तरिक दुख को किसी तरह सम्हालकर उसने अपनी टोकरी मिट्टी से भर ली और हाथ से उठाकर बाहर ले आयी। फिर हाथ जोड़कर श्रीमान से प्रार्थना करने लगी कि "महाराज, कृपा करके इस टोकरी को जरा हाथ लगाइए जिससे कि मैं उसे अपने सिर पर धर लूं।"

जमींदार साहब पहले तो बहुत नाराज हुए, पर जब वह बार-बार हाथ जोड़ने लगी और पैरों पर गिरने लगी तो उनके भी मन में कुछ दया आ गयी। किसी नौकर से न कहकर आप ही स्वयं टोकरी उठाने आगे बढ़े। ज्योंही टोकरी को हाथ लगाकर ऊपर उठाने लगे त्यों ही देखा कि यह काम उनकी शक्ति के बाहर है। फिर तो उन्होंने अपनी सब ताकत लगाकर टोकरी को उठाना चाहा, पर जिस स्थान पर टोकरी रखी थी वहां से वह एक हाथ-भर ऊंची न हुई। वह लज्जित होकर कहने लगे कि "नहीं, यह टोकरी हमसे न उठायी जावेगी।"

यह सुनकर विधवा ने कहा, "महाराज नाराज न हों, आप से तो एक टोकरी भर मिट्टी नहीं उठायी जाती और इस झोंपड़ी में तो हजारों टोकरियां मिट्टी पड़ी है। उसका भार आप जन्म भर क्यों कर उठा सकेंगे? आप ही इस बात पर विचार कीजिए!"

जमींदार साहब धन-मद से गर्वित हो अपना कर्तव्य भूल गये थे, पर विधवा के उपरोक्त वचन सुनते ही उनकी आँखें खुल गयीं। कृतकर्म का पश्चाताप कर उन्होंने विधवा से क्षमा मांगी और उसकी झोंपड़ी वापस दे दी।

## 'कफन'  प्रेमचंद

झोंपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं और अन्दर बेटे की जवान बीवी बुधिया प्रसव-वेदना से पछाड़ खा रही थी। रह-रह कर उसके मुँह से ऐसी दिल हिला देने वाली आवाज निकलती थी कि दोनों कलेजा थाम लेते थे। जाड़ों की रात थी, प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई। सारा गाँव अंधकार में लय हो गया था।

घीसू ने कहा — "मालूम होता है बचेगी नहीं। सारा दिन दौड़ते ही गया, जा, देख तो आ।"

माधव चिढ़ कर बोला — "मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती, देख कर क्या करूँ?"

"तू बड़ा बेदर्द है बे! साल-भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफाई!"

"तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देखा जाता।"

चमारों का कुनबा था और सारे गाँव में बदनाम। घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम। माधव इतना कामचोर था कि आध घण्टे काम करता तो घण्टे-भर चिलम पीता। इसलिए उन्हें कहीं मजदूरी नहीं मिलती थी। घर में मुट्ठी-भर भी अनाज मौजूद हो, तो उनके लिए काम करने की कसम थी।

जब दो-चार फाके हो जाते, घीसू पेड़ पर चढ़कार लकडियाँ तोड़ लाता और माधव बाजार में बेच आता और जब तक वे पैसे रहते, दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते। जब फाके की नौबत आ जाती, तो फिर लकडियाँ तोड़ते या मजदूरी तलाश करते। गाँव में काम की कमी न थी। किसानों का गाँव था, मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे। मगर इन दोनों को लोग उसी वक्त बुलाते, जब दो आदमियों से एक का काम पाकर भी सन्तोष कर लेने के सिवा और कोई चारा न होता। विचित्र जीवन था इनका! घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवा कोई सम्पत्ति नहीं। फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढाँके हुए जिए जाते थे। संसार की चिन्ताओं से मुक्त। कर्ज से लदे हुए। गालियाँ भी खाते, मार भी खाते, मगर कोई भी गम नहीं। दीन इतने कि वसूली की आशा न रहने पर भी लोग इन्हें कुछ-न-कुछ कर्ज दे देते थे। मटर-आलू की फसल में दूसरों के खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते और भून-भानकर खा लेते, या दस-पाँच ऊस उखाड़ लाते और रात को चूसते। घीसू ने आकाश-वृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही के पदचिन्हों पर चल रहा था, बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था। इस वक्त भी दोनों अलाव के सामने बैठकर आलू भून रहे थे, जो कि किसी के खेत से खोद लाए थे। घीसू की स्त्री का तो बहुत दिन हुए देहान्त हो गय था। माधव का ब्याह पिछले साल हुआ था। जब से यह औरत आई थी, उसने इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी। पिसाई करके या घास छीलकर वह सेर-भर आटे का इन्तजाम कर लेती थी और इन दोनों बेगैरतों का दोज़ख भरती रहती थी। जब से वह आई, ये दोनों और भी आलसी और आरामतलब हो गए थे, बल्कि कुछ अकड़ने भी लगे थे। कोई कार्य करने को बुलाता, तो निर्व्याज भाव से दुगुनी मजदूरी माँगते। वही औरत आज प्रसव-वेदना से मर रही थी और ये दोनों शायद इसी इन्तजार में थे कि वह मर जाय, तो आराम से सोएँ।

घीसू ने आलू निकालकर छीलते हुए कहा — "जाकर देख तो क्या दश है उसकी? चुड़ैल का फ़िसाद होगा,

और क्या? यहाँ तो ओझा भी एक रूपया माँगता है!"

माधव को भय था कि वह कोठरी में गया, तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ कर देगा। बोला -- "मुझे वहाँ जाते डर लगता है।"
"डर किस बात का है, मैं तो यहाँ हूँ ही !"
"तो तुम्हीं जाकर देखो न ?"
"मेरी औरत जब मरी थी, तो में तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं था। और मुझसे लजाएगी कि नहीं ? जिसका कभी मुँह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूँ ! उसे तन की सुध भी तो न होगी। मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पाँव भी न पटक सकेगी।"
"मैं सोचता हूँ कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा ? सोंठ, गुड़, तोल, कुछ भी तो नहीं घर में !"

"सब-कुछ आ जायेगा। भगवान दें तो। जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे है, वे ही कल बुलाकर देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में कभी कुछ न था, मगर भगवान् ने किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया।"

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से बहुत कुछ अच्छी नहीं न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था, जो किसानों के विचार शून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाज़ों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ, उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मण्डली के और गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव अँगुली उठाता था। फिर भी उसे यह तकसीन तो थी कि अगर वह फटेहाल है तो कम-से-कम उसे किसानों की-सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फायदा तो नहीं उठाते।

दोनों आलू निकाल-निकालकर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया। इतना सब्र न था कि उन्हें ठंडा हो जाने दें। कई बार दोनों की जबानें जल गईं। छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा तो बहुत ज्यादा गरम न मालूम होता, लेकिन दाँतों के तले पड़ते ही अन्दर का हिस्सा जबान, हलक और तालू को जला देता था और उस अंगारे को मुँह में रखने से ज्यादा खैरियत इसी में थी कि वह अन्दर पहुँच जाए। वहाँ उसे ठण्डा करने के लिए काफी सामान थे इसलिए दोनों जल्द-जल्द निगल जाते। हालाँकि इस कोशिश में उनकी आँखों से आँसू निकल आते।

घीसू को उस वक्त ठाकुर की बरात याद आई, जिसमें बीस साल पहले वह गया था। उस दावत में उसे जो तृप्ति मिली थी, वह उसके जीवन में एक याद रखने लायक बात थी और आज भी उसकी याद ताजा थी। बोला— "वह भोज नहीं भूलता। तब से फिर उस तरह का खाना और भरपेट नहीं मिला। लड़की वालों ने सबको भरपेट पूरियाँ खिलाई थीं, सबको ! छोटे-बड़े सबने पूरियाँ खाई और असली घी की ! चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, मिठाई। अब क्या बताऊँ कि इस भोज में क्या स्वाद मिला ! कोई रोक-टोक नहीं थी। जो चीज माँगो और जितना चाहो खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया, किसी से पानी न पिया गया। मगर परोसने वाले हैं कि पत्तल में गरम-गरम, गोल-गोाल सुवासित कचौरियाँ डाल देते हैं। मना करते हैं कि नहीं चाहिए, पत्तल पर हाथ रोके हुए हैं, मगर वे हैं कि दिए जाते हैं और जब मुँह धो लिया, तो पान-इलायची भी मिली, मगर मुझे पान लेने की कहाँ सुध थी ! खड़ा न हुआ जाता था। चटपट जाकर अपने कंबल पर लेट गया। ऐसा दिल-दरियाव था वह ठाकुर !"

माधव ने इन पदार्थों का मन -ही-मन मज़ा लेते हुए कहा — "अब हमें कोई ऐसा भोज नहीं खिलाता।"
"अब कोई क्या खिलायेगा? वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफायत सूझती है।

शादी-ब्याह में मत खर्च करो, किया-कर्म में मत खर्च करो ! पूछो, गरीबों का माल बटोर-बटोर कर कहाँ रखोगे

! बटोरने में कमी नहीं हैं। हाँ, खर्च में किफायत सूझती है।"
"तुमने बीस-एक पूरियाँ खाई होंगी?"
"बीस से ज्यादा खाई थीं।"
"मैं पचास खा जाता।"
"पचास से कम मैंने भी न खाई होंगी। अच्छा पट्ठा था। तू तो मेरा आधा भी नहीं है।"

आलू खाकर दोनों ने पानी पिया और वहीं अलाव के सामने अपनी धोतियाँ ओढ़ कर, पाँव पेट में डाले सो रहे। जैसे दो बड़े-बड़े अजगर, गेंडुलियाँ मारे पड़े हों।

और बुधिया अभी तक कराह रही थी।

**ः 2 ः**

सबेरे माधव ने कोठरी में जाकर देखा तो, उसकी स्त्री ठण्डी हो गई थी उसके मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पथराई हुई आँखें ऊपर टँगी हुई थीं। सारी देह धूल से लथपथ हो रही थी। उसके पेट में बच्चा मर गया था।

माधव भागा हुआ घीसू के पास आया। फिर दोनों जोर-जोर से हाय-हाय करने लगे और छाती पीटने लगे। पड़ोस वालों ने यह रोना-धोना सुना तो दौड़े हुए आये और पुरानी मर्यादा के अनुसार इन अभागों को समझाने लगे।

मगर ज्यादा रोने-पीटने का अवसर न था। कफ़न और लकड़ी की फिक्र करनी थी। पर घर में तो पैसा इस तरह गायब था कि जैसे चील के घोंसले में माँस।

बाप-बेटे रोते हुए गाँव के जमींदार के पास गए। वह इन दोनों की सुरत से नफरत करते थे। कई बार इन्हें अपने हाथों पीट चुके थे चोरी करने के लिए, वादे पर काम पर न आने के लिए।

पूछा -- " क्या है बे घिसुआ, रोता क्यों है? अब तो तू कहीं दिखाई भी नहीं देता ! मालूम होता है, इस गाँव में रहना नहीं चाहता।"

घीसू ने जमीन पर सिर रखकर आँखों में आँसू भरे हुए कहा — "सरकार ! बड़ी विपत्ति में हूँ। माधव की घरवाली रात को गुजर गई। रात-भर तड़पती रही, सरकार ! हम दोनों उसके सिरहाने बैठे रहे। दवा-दारू जो कुछ हो सका, सब-कुछ किया, मुदा वह हमें दगा दे गई। अब कोई एक रोटी देने वाला भी न रहा, मालिक ! तबाह हो गए। घर उजड़ गया। आपका ग़ुलाम हूँ। अब आपके सिवा कौन, उसकी मिट्टी उठेगी। आपके सिवा किसके द्वार पर जाऊँ ?"

जमींदार साहब दयालू थे। मगर घीसू पर दया करना काले कंबल पर रंग चढ़ाना था। जी में तो आया, कह दें चल, दूर हो यहाँ से ! यों तो बुलाने से भी नहीं आता, आज जब गरज पड़ी, तो आकर ख़ुशामद कर रहा है। हरामखोर कहीं का, बदमाश ! लेकिन यह क्रोध या दण्ड का अवसर न था। जी में कुढ़ते हुए दो रूपये निकालर फेंक दिए। मगर सान्त्वना का एक शब्द भी मुँह से न निकाला। उसकी तरफ ताका भी नहीं। जैसे सिर का बोझ उतारा हो।

जब जमींदार साहब ने दो रूपये दिये, तो गाँव के बनिये-महाजनों को इन्कार का साहस कैसे होता ? घीसू जमींदार के नाम का ढिंढोरा भी पीटना खूब जानता था। किसी ने दो आने दिए, किसी ने चार आने। एक घण्टे में घीसू के पास पाँच रूपये की अच्छी रकम जमा हो गई। कहीं से अनाज मिल गया, कहीं से लकड़ी। और दोपहर को घीसू और माधव

बाजार से कफ़न लाने चले। इधर लोग बाँस काटने लगे।

गाँव की नरम-दिल स्त्रियाँ आ-आाकर लाश को देखती थीं और उसकी बेकसी पर दो बूँद आँसू गिराकर चली जाती थीं।

"कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते-जी तन ढाँकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर कफन चाहिए।"

"कफ़न लाश के साथ जल ही तो जाता है !"

"और क्या रखा रहता है ? यहीं पाँच रूपये पहले मिलते, तो कुछ दवा-दारू कर लेते।"

दोनों एक-दूसरे के मन की बात ताड़ रहे थे। बाजार में इधर-उधर घूमते रहे। कभी इस बजाज की दूकान पर गये, कभी उसकी दूकान पर। तरह-तरह के कपड़े, रेशमी और सूती देखे, मगर कुछ जँचा नहीं। यहाँ तक कि शाम हो गई । तब दोनों न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने जा पहुँचे और जैसे किसी पूर्व-निश्चित योजन से अन्दर चले गये। वहाँ जरा देर तक दोनों असमंजस में खड़े रहे। फिर घीसू ने गद्दी के सामने जा कर कहा --

"साहूजी, एक बोतल हमें भी देना।"

इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलियाँ आई और दोनों बरामदे में बैठकर शान्तिपूर्वक पीने लगे।

कई कुज्जियाँ ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनों सरूर में आ गए।

घीसू बोला — "कफ़न लगाने से क्या मिलता है ? आखिर जल ही तो जाता, कुछ बहू के साथ तो न जाता।"

माधव आसमान की तरफ देखकर बोला, मानो देवताओं को अपनी निष्पापता का साक्षी बना रहा हो — " दुनिया का दस्तूर है, नहीं लोग बामनों को हजारों रूपए क्यों दे देते हैं ! कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं !"

"बड़े आदमियों के पास धन है, चाहे फूँके। हमारे पास फूँकने को क्या है?"

"लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे? लोग पूछेंगे नहीं, कफन कहाँ है ?"

घीसू हँसा — "अबे कह देंगे कि रूपये कमर से खिसक गए। बहुत ढूँढ़ा मिले नहीं। लोगों को विश्वास तो न आयेगा, लेकिन फिर वही रूपए देंगे।"

माधव भी हँसा, इस अनपेक्षित सौभाग्य पर बोला — "बड़ी अच्छी थी बेचारी ! मरी तो भी खूब खिला-पिलाकर !"

अभी बोतल से ज्यादा उड़ गई। घीसू ने दो सेर पूरियाँ मँगाई। चटनी, अचार, कलेजियाँ। शराबखाने के सामने ही दुकान थी। माधव लपककर दो पत्तलों में सारा सामान ले आया। पूरा डेढ़ रूपया और खर्च हो गया। सिर्फ थोड़े-से पैसे बच रहे।

दोनों इस वक्त शान से बैठे हुए पूरियाँ खा रहे थे, जैसे जंगल में कोई शेर अपना शिकार उड़ा रहा हो। न जवाबदेही का खौफ़ था, न बदनामी की फिक्र। इन भावनाओं को उन्होंने बहुत पहले ही जीत लिया था।

घीसू दार्शनिक भाव से बोला –– ''हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है, तो क्या उसे पुन्न न होगा?''
माधव ने श्रद्धा से सिर झुकाकर तसदीक की — ''जरूर से जरूर होगा। भगवान तुम अन्तर्यामी हो। उसे बैकुण्ठ ले जाना। हम दोनों हृदय से आशीर्वाद दे रहे हैं। आज जो भोजन मिला, वह कभी उम्र भर न मिला था।''

एक क्षण के बाद माधव के मन में एक शंका जागी। भोला — ''क्यों दादा, हम लोग भी तो एक–न–दिन वहाँ जाएँगे ही।''

घीसू ने इस भोले–भाले सवाल का कुछ उत्तर न दिया। वह परलोक की बातें सोचकर इस आनन्द में बाधा न डालना चाहता था।

''जो वहाँ वह हम लोगों से पूछे कि तुमने कफ़न क्यों नहीं दिया तो क्या कहेंगे ?''
''कहेंगे तुम्हारा सिर !''
''पूछेगी तो जरूर !''
''तू जानता है कि उसे कफ़न न मिलेगा? तू मुझे ऐसा गधा समझता है? साठ साल क्या दुनिया में घास खोदता रहा हूँ ! उसको कफ़न मिलेगा और इससे बहुत अच्छा मिलेगा।''

माधव को विश्वास न आया। बोला — ''कौन देगा? रूपये तो तुमने चट कर दिए। वह तो मुझसे पूछेगी। उसकी माँग में सेंदुर तो मैंने ही डाला था।''

घीसू गरम होकर बोला –– ''मैं कहता हूँ, उसे कफ़न मिलेगा ! तू मानता क्यों नहीं ?''
''कौन देगा, बताते क्यों नहीं?''
''वही लोग देंगे, जिन्होंने इस बार दिया। हाँ, अबकी रूपये हमारे हाथ न आयेंगे।''

ज्यों–ज्यों अँधेरा बढ़ता था और सितारों की चमक तेज होती थी, मधुशाला की रौनक भी बढ़ती जाती थी। कोई गाता था, कोई डींग मारता था, कोई अपने संगी के गले लिपटा जाता था। कोई अपने दोस्त के मुँह से कुल्हड़ लगाये देता था।

वहाँ के वातावरण में सरूर था, हवा में नशा। कितने तो यहाँ आकर एक चुल्लू में मस्त हो जाते। शराब से ज्यादा वहाँ की हवा उन पर नशा करती थी। जीवन की बाधाएँ खींच लती थीं, और कुछ देर के लिए वे भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं ! या, न जीते हैं न मरते हैं।

और ये दोनों बाप–बेटा अब भी मजे ले–लेकर चुसकियाँ ले रहे थे। सबकी निगहें इनकी ओर जमी हुई थीं। दोनों कितने भाग्य के बली हैं। पूरी बोतल बीच में हैं।

भरपेट खाकर माधव ने बची हुई पूरियों का पत्तल उठाकर एक भिखरी को दे दिया, जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था। और 'देने' के गौरव, आनन्द और उल्लास का उसने अपने जीवन में पहले बार अनुभव किया।

घीसू ने कहा — ''ले, जा खूब खा और आशिर्वाद दे! जिसकी कमाई है, वह तो मर गई। पर तेरा आशिर्वाद उसे जरूर पहुँचेगा। रोयें–रोयें से आशीर्वाद दे; बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं !''

माधव ने फिर आसमान की तरफ देखकर कहा — ''वह वैकुण्ठ में जायेगी दादा, वह वैकुण्ठ की रानी बनेगी।''

घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला — ''हाँ, बेटा वैकुण्ठ में जायेगी। किसी को सताया

नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी जिन्दगी को सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह न वैकुण्ठ में जायेगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जाएँगे, जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मन्दिरों में जल चढ़ाते हैं !"

श्रद्धालुता का यह रंग तुरन्त ही बदल गया। अस्थिरता नशे की खासियत है। दुःख और निराशा का दौरा हुआ।

माधव बोला — "मगर दादा, बेचारी ने जिन्दगी में बड़ा दुःख भोगा। कितना दुःख झेलकर मरी !"

वह आँखों पर हाथ रखकर रोने लगा, चींखें मार-मारकर।

घीसू ने समझाया — "क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह माया-जाल से मुक्त हो गई। जंजाल से छूट गई। बड़ी भाग्यवान थी जो इतनी जल्द माया-मोह के बन्धन तोड़ दिये।"

और दोनों खड़े होकर गाने लगे —
"ठगिनी क्यों नैना झमकावै? ठगिनी !"

पियक्कड़ों की आँखें इनकी ओर लगी हुई थीं और ये दोनों अपने दिल में मस्त गाते जाते थे।

फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी। गिरे भी, मटके भी। भाव भी बनाये, अभिनय भी किये और आखिर नशे से बदमस्त होकर वहीं गिर पड़े।

## 'कोसी का घटवार' शेखर जोशी

गुसांई का मन चिलम में भी नहीं लगा। मिहल की छांह में उठकर वह फिर एक बार घट (पनचक्की) के अंदर गया। अभी खप्पर में एक-चौथाई से भी अधिक गेहूं शेष था। खप्पर में हाथ डालकर उसने व्यर्थ ही उलटा-पलटा और चक्की के पाटों के वृत्त में फैले हुए आटे को झाड़कर एक ढ़ेर बना दिया। बाहर आते-आते उसने फिर एक बार और खप्पर में झांककर देखा, जैसे यह जानने के लिए कि इतनी देर में कितनी पिसाई हो चुकी हैं, परंतु अंदर की मिकदार में कोई विशेष अंतर नहीं आया था। खस्स-खस्स की ध्वनि के साथ अत्यंत धीमी गति से ऊपर का पाट चल रहा था। घट का प्रवेशद्वार बहुत कम ऊंचा था, खूब नीचे तक झुककर वह बाहर निकला। सर के बालों और बांहों पर आटे की एक हलकी सफेद पर्त बैठ गई थी।

खंभे का सहारा लेकर वह बुदबुदाया, "जा, स्साला! सुबह से अब तक दस पंसेरी भी नहीं हुआ। सूरज कहां का कहां चला गया है। कैसी अनहोनी बात!"

बात अनहोनी तो है ही। जेठ बीत रहा है। आकाश में कहीं बादलों का नाम-निशान ही नहीं। अन्य वर्षो अब तक लोगों की धान-रोपाई पूरी हो जाती थी, पर इस साल नदी-नाले सब सूखे पड़े हैं। खेतों की सिंचाई तो दरकिनार, बीज की क्यारियां सूखी जा रही हैं। छोटे नाले-गूलों के किनारे के घट महीनों से बंद हैं। कोसी के किनारे हैं गुसाई का यह घट। पर इसकी भी चाल ऐसी कि लद्दू घोड़े की चाल को मात देती हैं।

चक्की के निचले खंड में छिच्छर-छिच्छर की आवाज के साथ पानी को काटती हुई मथानी चल रही थी। कितनी धीमी आवाज! अच्छे खाते-पीते ग्वालों के घर में दही की मथानी इससे ज्यादा शोर करती है। इसी मथानी का वह शोर होता था कि आदमी को अपनी बात नहीं सुनाई देती और अब तो भले नदी पार कोई बोले, तो बात यहां सुनाई दे जाय।

छप्प...छप्प...छप्प...पुरानी फौजी पैंट को घुटनों तक मोड़कर गुसांई पानी की गूल के अंदर चलने लगा। कहीं कोई सूराख-निकास हो, तो बंद कर दे। एक बूंद पानी भी बाहर न जाए। बूंद-बूंद की कीमत है इन दिनों। प्रायः आधा फलांग चलकर वह बांध पर पहुंचा। नदी की पूरी चौड़ाई को घेरकर पानी का बहाव घट की गूल की ओर मोड़ दिया गया था। किनारे की मिट्टी-घास लेकर उसने बांध में एक-दो स्थान पर निकास बंद किया और फिर गूल के किनारे-किनारे चलकर घट पर आ गया।

अंदर जाकर उसने फिर पाटों के वृत्त में फैले हुए आटे को बुहारकर ढेरी में मिला दिया। खप्पर में अभी थोड़ा-बहुत गेहूं शेष था। वह उठकर बाहर आया।

दूर रास्ते पर एक आदमी सर पर पिसान रखे उसकी ओर जा रहा था। गुसांई ने उसकी सुविधा का ख्याल कर वहीं से आवाज दे दी, "हैं हो! यहां लंबर देर में आएगा। दो दिन का पिसान अभी जमा है। ऊपर उमेदसिंह के घट में देख लो।"

उस व्यक्ति ने मुड़ने से पहले एक बार और प्रयत्न किया। खूब ऊंचे स्वर में पुकारकर वह बोला,"जरूरी है, जी! पहले हमारा लंबर नहीं लगा दोगे?"

गुसांई होंठों-ही-होठों में मुस्कराया, स्साला कैसे चीखता है, जैसे घट की आवाज इतनी हो कि मैं सुन न सकूं! कुछ कम ऊंची आवाज में उसने हाथ हिलाकर उत्तर दे दिया, "यहां जरूरी का भी बाप रखा है, जी! तुम ऊपर चले जाओ!"

वह आदमी लौट गया।
मिहल की छांव में बैठकर गुसांई ने लकड़ी के जलते कुंदे को खोदकर चिलम सुलगाई और गुड़-गुड़ करता धुआं उड़ाता रहा

खस्सर-खस्सर चक्की का पाट चल रहा था।
किट-किट-किट-किट खप्पर से दाने गिरानेवाली चिड़िया पाट पर टकरा रही थी।

छिच्छर-छिच्छर की आवाज़ के साथ मथानी पानी को काट रही थी। और कहीं कोई आवाज़ नहीं। कोसी के बहाव में भी कोई ध्वनि नहीं। रेती-पाथरों के बीच में टखने-टखने पत्थर भी अपना सर उठाए आकाश को निहार रहे थे। दोपहरी ढलने पर भी इतनी तेज धूप! कहीं चिरैया भी नहीं बोलती। किसी प्राणी का प्रिय-अप्रिय स्वर नहीं।

सूखी नदी के किनारे बैठा गुसांई सोचने लगा, क्यों उस व्यक्ति को लौटा दिया? लौट तो वह जाता ही, घट के अंदर टच्च पड़े पिसान के थैलों को देखकर। दो-चार क्षण की बातचीत का आसरा ही होता।

कभी-कभी गुसांई को यह अकेलापन काटने लगता है। सूखी नदी के किनारे का यह अकेलापन नहीं, जिंदगी-भर साथ देने के लिए जो अकेलापन उसके द्वार पर धरना देकर बैठ गया है, वही। जिसे अपना कह सके, ऐसे किसी प्राणी का स्वर उसके लिए नहीं। पालतू कुत्ते-बिल्ली का स्वर भी नहीं। क्या ठिकाना ऐसे मालिक का, जिसका घर-द्वार नहीं, बीबी-बच्चे नहीं, खाने-पीने का ठिकाना नहीं...

घुटनों तक उठी हुई पुरानी फौजी पैंट के मोड़ को गुसांई ने खोला। गूल में चलते हुए थोड़ा भाग भीग गया था। पर इस गर्मी में उसे भीगी पैंट की यह शीतलता अच्छी लगी। पैंट की सलवटों को ठीक करते-करते गुसांई ने हुक्के की नली से

मुंह हटाया। उसके होठों में बांएं कोने पर हलकी-सी मुस्कान उभर आई। बीती बातों की याद गुसांई सोचने लगा, इसी पैंट की बदौलत यह अकेलापन उसे मिला है... नहीं, याद करने को मन नहीं करता। पुरानी, बहुत पुरानी बातें वह भूल गया है, पर हवालदार साहब की पैंट की बात उसे नहीं भूलती।

ऐसी ही फौजी पैंट पहनकर हवालदार धरमसिंह आया था, लॉन्ड्री की धुली, नोकदार, क्रीजवाली पैंट! वैसी ही पैंट पहनने की महत्वाकांक्षा लेकर गुसांई फौज में गया था। पर फौज से लौटा, तो पैंट के साथ-साथ जिंदगी का अकेलापन भी उसके साथ आ गया।

पैंट के साथ और भी कितनी स्मृतियां संबद्ध हैं। उस बार की छुट्टियों की बात...

कौन महीना? हां, बैसाख ही था। सर पर क्रास खुखरी के क्रेस्ट वाली, काली, किश्तीनुमा टोपी को तिरछा रखकर, फौजी वर्दी वह पहली बार एनुअल-लीव पर घर आया, तो चीड़ वन की आग की तरह खबर इधर-उधर फैल गई थी। बच्चे-बूढ़े, सभी उससे मिलने आए थे। चाचा का गोठ एकदम भर गया था, ठसाठस्स। बिस्तर की नई, एकदम साफ, जगमग, लाल-नीली धारियोंवाली दरी आंगन में बिछानी पड़ी थी लोगों को बिठाने के लिए। खूब याद है, आंगन का गोबर दरी में लग गया था। बच्चे-बूढ़े, सभी आए थे। सिर्फ चना-गुड़ या हल्द्वानी के तंबाकू का लोभ ही नहीं था, कल के शर्मीले गुसांई को इस नए रूप में देखने का कौतूहल भी था। पर गुसांई की आंखें उस भीड़ में जिसे खोज रही थीं, वह वहां नहीं थी।

नाला पार के अपने गांव से भैंस के कट्या को खोजने के बहाने दूसरे दिन लछमा आई थी। पर गुसांई उस दिन उससे मिल न सका। गांव के छोकरे ही गुसांई की जान को बवाल हो गए थे। बुद्ढ़े नरसिंह प्रधान उन दिनों ठीक ही कहते थे, आजकल गुसांई को देखकर सोबनियां का लड़का भी अपनी फटी घेर की टोपी को तिरछी पहनने लग गया है। दिन-रात बिल्ली के बच्चों की तरह छोकरे उसके पीछे लगे रहते थे, सिगरेट-बीड़ी या गपशप के लोभ में।

एक दिन बड़ी मुश्किल से मौका मिला था उसे। लछमा को पात-पतेल के लिए जंगल जाते देखकर वह छोकरों से कांकड़ के शिकार का बहाना बनाकर अकेले जंगल को चल दिया था। गांव की सीमा से बहुत दूर, काफल के पेड़ के नीचे गुसांई के घुटने पर सर रखकर, लेटी-लेटी लछमा काफल खा रही थी। पके, गदराए, गहरे लाल-लाल काफल। खेल-खेल में काफलों की छीना-झपटी करते गुसांई ने लछमा की मुट्ठी भींच दी थी। टप-टप काफलों का गाढ़ा लाल रस उसकी पैंट पर गिर गया था। लछमा ने कहा था, "इसे यहीं रख जाना, मेरी पूरी बांह की कुर्ती इसमें से निकल आएगी।" वह खिलखिलाकर अपनी बात पर स्वयं ही हंस दी थी।

पुरानी बात - क्या कहा था गुसांई ने, याद नहीं पड़ता...तेरे लिए मखमल की कुर्ती ला दूंगा, मेरी सुवा! या कुछ ऐसा ही।

पर लछमा को मखमल की कुर्ती किसने पहनाई होगी - पहाड़ी पार के रमुवां ने, जो तुरी-निसाण लेकर उसे ब्याहने आया था?

"जिसके आगे-पीछे भाई-बहिन नहीं, माई-बाप नहीं, परदेश में बंदूक की नोक पर जान रखनेवाले को छोकरी कैसे दे दें हम?" लछमा के बाप ने कहा था।

उसका मन जानने के लिए गुसांई ने टेढ़े-तिरछे बात चलवाई थी।
उसी साल मंगसिर की एक ठंडी, उदास शाम को गुसांई की यूनिट के सिपाही किसनसिंह ने क्वार्टर-मास्टर स्टोर के सामने खड़े-खड़े उससे कहा था, "हमारे गांव के रामसिंह ने ज़िद की, तभी छुट्टियां बढ़ानी पड़ीं। इस साल उसकी शादी थी। खूब अच्छी औरत मिली है, यार! शक्ल-सूरत भी खूब है, एकदम पटाखा! बड़ी हंसमुख है। तुमने तो देखा ही होगा, तुम्हारे गांव के नजदीक की ही है। लछ़मा-लछ़मा कुछ ऐसा ही नाम है।"

गुसांई को याद नहीं पड़ता, कौन–सा बहाना बनाकर वह किसनसिंह के पास से चला आया था, रम–डे थे उस दिन। हमेशा आधा पैग लेनेवाला गुसांई उस दिन पेशी करवाई थी – मलेरिया प्रिकॉशन न करने के अपराध में। सोचते–सोचते गुसांई बुदबुदाया, "स्साल एडजुटेन्ट!"

गुसांई सोचने लगा, उस साल छुट्टियों में घर से बिदा होने से एक दिन पहले वह मौका निकालकर लछमा से मिला था।

"गंगनाथज्यू की कसम, जैसा तुम कहोगे, मैं वैसा ही करूंगी!" आंखों में आंसू भरकर लछमा ने कहा था।

वर्षों से वह सोचता आया है, कभी लछमा से भेंट होगी, तो वह अवश्य कहेगा कि वह गंगनाथ का जागर लगाकर प्रायश्चित जरूर कर ले। देवी–देवताओं की झूठी कसमें खाकर उन्हें नाराज़ करने से क्या लाभ? जिस पर भी गंगनाथ का कोप हुआ, वह कभी फल–फूल नहीं पाया। पर लछमा से कब भेंट होगी, यह वह नहीं जानता। लड़कपन से संगी–साथी नौकरी–चाकरी के लिए मैदानों में चले गए हैं। गांव की ओर जाने का उसका मन नहीं होता। लछमा के बारे में किसी से पूछना उसे अच्छा नहीं लगता।

जितने दिन नौकरी रही, वह पलटकर अपने गांव नहीं आया। एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन का वालंटियरी ट्रांसफर लेनेवालों की लिस्ट में नायक गुसांईसिंह का नाम ऊपर आता रहा – लगातार पंद्रह साल तक।

पिछले बैसाख में ही वह गांव लौटा, पंद्रह साल बाद, रिज़र्व में आने पर। काले बालों को लेकर गया था, खिचड़ी बाल लेकर लौटा। लछमा का हठ उसे अकेला बना गया।

आज इस अकेलेपन में कोई होता, जिसे गुसांई अपनी जिंदगी की किताब पढ़कर सुनाता! शब्द–शब्द, अक्षर–अक्षर कितना देखा, कितना सुना और कितना अनुभव किया है उसने...

पर नदी किनारे यह तपती रेत, पनचक्की की खटर–पटर और मिहल की छाया में ठंड़ी चिलम को निष्प्रयोजन गुड़गुड़ाता गुसांई। और चारों ओर अन्य कोई नहीं। एकदम निर्जन, निस्तब्ध, सुनसान –

एकाएक गुसांई का ध्यान टूटा।
सामने पहाड़ी के बीच की पगड़ंडी से सर पर बोझा लिए एक नारी आकृति उसी ओर चली आ रही थी। गुसांई ने सोचा वहीं से आवाज देकर उसे लौटा दे। कोसी ने चिकने, काई लगे पत्थरों पर कठिनाई से चलकर उसे वहां तक आकर केवल निराश लौट जाने को क्यों वह बाध्य करे। दूर से चिल्ला–चिल्लाकर पिसान स्वीकार करवाने की लोगों की आदत से वह तंग आ चुका था। इस कारण आवाज देने को उसका मन नहीं हुआ। वह आकृति अब तक पगडंडी छोड़कर नदी के मार्ग में आ पहुंची थी।

चक्की की बदलती आवाज को पहचानकर गुसांई घट के अंदर चला गया। खप्पर का अनाज समाप्त हो चुका था। खप्पर में एक कम अन्नवाले थैले को उलटकर उसने अन्न का निकास रोकने के लिए काठ की चिड़ियों को उलटा कर दिया। किट–किट का स्वर बंद हो गया। वह जल्दी–जल्दी आटे को थैले में भरने लगा। घट के अंदर मथानी की छिच्छर–छिच्छर की आवाज भी अपेक्षाकृत कम सुनाई दे रही थी। केवल चक्की के ऊपरवाले पाट की घिसटती हुई घरघराहट का हल्का–धीमा संगीत चल रहा था। तभी गुसांई ने सुना अपनी पीठ के पीछे, घट के द्वार पर, इस संगीत से भी मधुर एक नारी का कंठस्वर, "कब बारी आएगी, जी? रात की रोटी के लिए भी घर में आटा नहीं है।"

सर पर पिसान रखे एक स्त्री उससे यह पूछ रही थी। गुसांई को उसका स्वर परिचित–सा लगा। चौंककर उसने पीछे मुड़कर देखा। कपड़े में पिसान ढीला बंधा होने के कारण बोझ का एक सिरा उसके मुख के आगे आ गया था। गुसांई उसे ठीक से नहीं देख पाया, लेकिन तब भी उसका मन जैसे आशंकित हो उठा। अपनी शंका का समाधान करने के लिए वह

बाहर आने को मुड़ा, लेकिन तभी फिर अंदर जाकर पिसान के थैलों को इधर–उधर रखने लगा। काठ की चिड़ियां किट–किट बोल रही थीं और उसी गति के साथ गुसांई को अपने हृदय की धड़कन का आभास हो रहा था।

घट के छोटे कमरे में चारों ओर पिसे हुए अन्य का चूर्ण फैल रहा था, जो अब तक गुसांई के पूरे शरीर पर छा गया था। इस कृत्रिम सफेदी के कारण वह वृद्ध–सा दिखाई दे रहा था। स्त्री ने उसे नहीं पहचाना।

उसने दुबारा वे ही शब्द दुहराए। वह अब भी तेज धूप में बोझा सर पर रखे हुए गुसांई का उत्तर पाने को आतुर थी। शायद नकारात्मक उत्तर मिलने पर वह उलटे पांव लौटकर किसी अन्य चक्की का सहारा लेती।

दूसरी बार के प्रश्न को गुसांई न टाल पाया, उत्तर देना ही पड़ा, "यहां पहले ही टीला लगा है, देर तो होगी ही।" उसने दबे–दबे स्वर में कह दिया।

स्त्री ने किसी प्रकार की अनुनय–विनय नहीं की। शाम के आटे का प्रबंध करने के लिए वह दूसरी चक्की का सहारा लेने को लौट पड़ी।

गुसांई झुककर घट से बाहर निकला। मुड़ते समय स्त्री की एक झलक देखकर उसका संदेह विश्वास में बदल गया था। हताश–सा वह कुछ क्षणों तक उसे जाते हुए देखता रहा और फिर अपने हाथों तथा सिर पर गिरे हुए आटे को झाड़कर एक–दो कदम आगे बढ़ा। उसके अंदर की किसी अज्ञात शक्ति ने जैसे उसे वापस जाती हुई उस स्त्री को बुलाने को बाध्य कर दिया। आवाज़ देकर उसे बुला लेने को उसने मुंह खोला, परंतु आवाज न दे सका। एक झिझक, एक असमर्थता थी, जो उसका मुंह बंद कर रही थी। वह स्त्री नदी तक पहुंच चुकी थी। गुसांई के अंतर में तीव्र उथल–पुथल मच गई। इस बार आवेग इतना तीव्र था कि वह स्वयं को नहीं रोक पाया, लड़खड़ाती आवाज में उसने पुकारा, "लछमा!"

घबराहट के कारण वह पूरे जोर से आवाज नहीं दे पाया था। स्त्री ने यह आवाज नहीं सुनी। इस बार गुसांई ने स्वस्थ होकर पुनः पुकारा, "लछमा!"

लछमा ने पीछे मुड़कर देखा। मायके में उसे सभी इसी नाम से पुकारते थे, यह संबोधन उसके लिए स्वाभाविक था। परंतु उसे शंका शायद यह थी कि चक्कीवाला एक बार पिसान स्वीकार न करने पर भी दुबारा उसे बुला रहा है या उसे केवल भ्रम हुआ है। उसने वहीं से पूछा, "मुझे पुकार रहे हैं, जी?
गुसांई ने संयत स्वर में कहा, "हां, ले आ, हो जाएगा।"

लछमा क्षण–भर रूकी और फिर घट की ओर लौट आई।
अचानक साक्षात्कार होने का मौका न देने की इच्छा से गुसांई व्यस्तता का प्रदर्शन करता हुआ मिहल की छांह में चला गया।

लछमा पिसान का थैला घट के अंदर रख आई। बाहर निकलकर उसने आंचल के कोर से मुंह पोंछा। तेज धूप में चलने के कारण उसका मुंह लाल हो गया था। किसी पेड़ की छाया में विश्राम करने की इच्छा से उसने इधर–उधर देखा। मिहल के पेड़ की छाया में घट की ओर पीठ किए गुसांई बैठा हुआ था। निकट स्थान में दाड़िम के एक पेड़ की छांह को छोड़कर अन्य कोई बैठने लायक स्थान नहीं था। वह उसी ओर चलने लगी।

गुसांई की उदारता के कारण ऋणी–सी होकर ही जैसे उसने निकट आते–आते कहा, "तुम्हारे बाल–बच्चे जीते रहें, घटवारजी! बड़ा उपकार का काम कर दिया तुमने! ऊपर के घट में भी जाने कितनी देर में लंबर मिलता।"

अजाज संतति के प्रति दिए गए आशीर्वचनों को गुसांई ने मन-ही-मन विनोद के रूप में ग्रहण किया। इस कारण उसकी मानसिक उथल-पुथल कुछ कम हो गई। लछमा उसकी ओर देखें, इससे पूर्व ही उसने कहा, "जीते रहे तेरे बाल-बच्चे लछमा! मायके कब आई?"

गुसांई ने अंतर में घुमड़ती आंधी को रोककर यह प्रश्न इतने संयत स्वर में किया, जैसे वह भी अन्य दस आदमियों की तरह लछमा के लिए एक साधारण व्यक्ति हो।

दाड़िम की छाया में पात-पतेल झाड़कर बैठते लछमा ने शंकित दृष्टि से गुसांई की ओर देखा। कोसी की सूखी धार अचानक जल-प्लावित होकर बहने लगती, तो भी लछमा को इतना आश्चर्य न होता, जितना अपने स्थान से केवल चार कदम की दूरी पर गुसांई को इस रूप में देखने पर हुआ। विस्मय से आंखें फाड़कर वह उसे देखे जा रही थी, जैसे अब भी उसे विश्वास न हो रहा हो कि जो व्यक्ति उसके सम्मुख बैठा है, वह उसका पूर्व-परिचित गुसांई ही है।

"तुम?" जाने लछमा क्या कहना चाहती थी, शेष शब्द उसके कंठ में ही रह गए।
"हां, पिछले साल पल्टन से लौट आया था, वक्त काटने के लिए यह घट लगवा लिया।" गुसांई ने ही पूछा, "बाल-बच्चे ठीक हैं?"

आंखें जमीन पर टिकाए, गरदन हिलाकर संकेत से ही उसने बच्चों की कुशलता की सूचना दे दी। ज़मीन पर गिरे एक दाड़िम के फूल को हाथों में लेकर लछमा उसकी पंखुड़ियों को एक-एक कर निरूद्देश्य तोड़ने लगी और गुसांई पतली सींक लेकर आग को कुरेदता रहा।

बातों का क्रम बनाए रखने के लिए गुसांई ने पूछा, "तू अभी और कितने दिन मायके ठहरनेवाली है?"

अब लछमा के लिए अपने को रोकना असंभव हो गया। टप्-टप्-टप्, वह सर नीचा किए आंसूं गिराने लगी। सिसकियों के साथ-साथ उसके उठते-गिरते कंधों को गुसांई देखता रहा। उसे यह नहीं सूझ रहा था कि वह किन शब्दों में अपनी सहानुभूति प्रकट करे।

इतनी देर बाद सहसा गुसांई का ध्यान लछमा के शरीर की ओर गया। उसके गले में चरेऊ (सुहाग-चिह्न) नहीं था। हतप्रभ-सा गुसांई उसे देखता रहा। अपनी व्यावहारिक अज्ञानता पर उसे बेहद झुंझलाहट हो रही थी।

आज अचानक लछमा से भेंट हो जाने पर वह उन सब बातों को भूल गया, जिन्हें वह कहना चाहता था। इन क्षणों में वह केवल-मात्र श्रोता बनकर रह जाना चाहता था। गुसांई की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि पाकर लछमा आंसूं पोंछती हुई अपना दुखड़ा रोने लगी, "जिसका भगवान नहीं होता, उसका कोई नहीं होता। जेठ-जेठानी से किसी तरह पिंड छुड़ाकर यहां मां की बीमारी में आई थी, वह भी मुझे छोड़कर चली गई। एक अभागा मुझे रोने को रह गया है, उसी के लिए जीना पड़ रहा है। नहीं तो पेट पर पत्थर बांधकर कहीं डूब मरती, जंजाल कटता।"
"यहां काका-काकी के साथ रह रही हो?" गुसांई ने पूछा।
"मुश्किल पड़ने पर कोई किसी का नहीं होता, जी! बाबा की जायदाद पर उनकी आंखें लगी हैं, सोचते हैं, कहीं मैं हक न जमा लूं। मैंने साफ-साफ कह दिया, मुझे किसी का कुछ लेना-देना नहीं। जंगलात का लीसा ढो-ढोकर अपनी गुजर कर लूंगी, किसी की आंख का कांटा बनकर नहीं रहूंगी।"

गुसांई ने किसी प्रकार की मौखिक संवेदना नहीं प्रकट की। केवल सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से उसे देखता-भर रहा। दाड़िम के वृक्ष से पीठ टिकार लछमा घुटने मोड़कर बैठी थी। गुसांई सोचने लगा, पंद्रह-सोलह साल किसी की जिंदगी में अंतर लाने के लिए कम नहीं होते, समय का यह अंतराल लछमा के चेहरे पर भी एक छाप छोड़ गया था, पर उसे लगा, उस छाप के नीचे वह आज भी पंद्रह वर्ष पहले की लछमा को देख रहा है।

"कितनी तेज धूप है, इस साल!" लछमा का स्वर उसके कानों में पड़ा। प्रसंग बदलने के लिए ही जैसे लछमा ने यह बात जान-बूझकर कही हो।

और अचानक उसका ध्यान उस ओर चला गया, जहां लछमा बैठी थी। दाड़िम की फैली-फैली अधढंकीं डालों से छनकर धूप उसके शरीर पर पड़ रही थी। सूरज की एक पतली किरन न जाने कब से लछमा के माथे पर गिरी हुई एक लट को सुनहरी रंगीनी में डूबा रही थी। गुसांई एकटक उसे देखता रहा।

"दोपहर तो बीत चुकी होगी," लछमा ने प्रश्न किया तो गुसांई का ध्यान टूटा, "हां, अब तो दो बजनेवाले होंगे," उसने कहा, "उधर धूप लग रही हो तो इधर आ जा छांव में।" कहता हुआ गुसांई एक जम्हाई लेकर अपने स्थान से उठ गया। "नहीं, यहीं ठीक है," कहकर लछमा ने गुसांई की ओर देखा, लेकिन वह अपनी बात कहने के साथ ही दूसरी ओर देखने लगा था।

घट में कुछ देर पहले डाला हुआ पिसान समाप्ति पर था। नंबर पर रखे हुए पिसान की जगह उसने जाकर जल्दी-जल्दी लछमा का अनाज खप्पर में खाली कर दिया।

धीरे-धीरे चलकर गुसांई गुल के किनारे तक गया। अपनी अंजुली से भर-भरकर उसने पानी पिया और फिर पास ही एक बंजर घट के अंदर जाकर पीतल और अलमुनियम के कुछ बर्तन लेकर आग के निकट लौट आया।

आस-पास पड़ी हुई सूखी लकड़ियों को बटोरकर उसने आग सुलगाई और एक कालिख पुती बटलोई में पानी रखकर जाते-जाते लछमा की ओर मुंह कर कह गया, "चाय का टैम भी हो रहा है। पानी उबल जाय, तो पत्ती डाल देना, पुड़िया में पड़ी है।"

लछमा ने उत्तर नहीं दिया। वह उसे नदी की ओर जानेवाली पगडंडी पर जाता हुआ देखती रही।

सड़क किनारे की दुकान से दूध लेकर लौटते-लौटते गुसांई को काफी समय लग गया था। वापस आने पर उसने देखा, एक छः-सात वर्ष का बच्चा लछमा की देह से सटकर बैठा हुआ है।

बच्चे का परिचय देने की इच्छा से जैसे लछमा ने कहा, "इस छोकरे को घड़ी-भर के लिए भी चैन नहीं मिलता। जाने कैसे पूछता-खोजता मेरी जान खाने को यहां भी पहुंच गया है।"

गुसांई ने लक्ष्य किया कि बच्चा बार-बार उसकी दृष्टि बचाकर मां से किसी चीज के लिए जिद कर रहा है। एक बार झुंझलाकर लछमा ने उसे झिड़क दिया, "चुप रह! अभी लौटकर घर जाएंगे, इतनी-सी देर में क्यों मरा जा रहा है?"

चाय के पानी में दूध डालकर गुसांई फिर उसी बंजर घट में गया। एक थाली में आटा लेकर वह गूल के किनारे बैठा-बैठा उसे गूंथने लगा। मिहल के पेड़ की ओर आते समय उसने साथ में दो-एक बर्तन और ले लिए।

लछमा ने बटलोई में दूध-चीनी डालकर चाय तैयार कर दी थी। एक गिलास, एक एनेमल का मग और एक अलमुनियमके मैसटिन में गुसांई ने चाय डालकर आपस में बांट ली और पत्थरों से बने बेढंगे चूल्हे के पास बैठकर रोटियां बनाने का उपक्रम करने लगा।

हाथ का चाय का गिलास जमीन पर टिकाकर लछमा उठी। आटे की थाली अपनी ओर खिसकाकर उसने स्वयं रोटी पका देने की इच्छा ऐसे स्वर में प्रकट की कि गुसांई ना न कह सका। वह खड़ा-खड़ा उसे रोटी पकाते हुए देखता रहा। गोल-गोल डिबिया-सरीखी रोटियां चूल्हे में खिलने लगीं। वर्षों बाद गुसांई ने ऐसी रोटियां देखी थीं, जो अनिश्चित आकार की

फौज़ी लंगर की चपातियों या स्वयं उसके हाथ से बनी बेडौल रोटियों से एकदम भिन्न थीं। आटे की लोई बनाते समय लछमा के छोटे-छोटे हाथ बड़ी तेज़ी से घूम रहे थे। कलाई में पहने हुए चांदी के कड़े जब कभी आपस में टकरा जाते, तो खन्-खन् का एक अत्यंत मधुर स्वर निकलता। चक्की के पाट पर टकरानेवाली काठ की चिड़ियों का स्वर कितना नीरस हो सकता है, यह गुसांई ने आज पहली बार अनुभव किया।

किसी काम से वह बंजर घट की ओर गया और बड़ी देर तक खाली बर्तन-डिब्बों को उठाता-रखता रहा।
वह लौटकर आया, तो लछमा रोटी बनाकर बर्तनों को समेट चुकी थी और अब आटे में सने हाथों को धो रही थी।

गुसांई ने बच्चे की ओर देखा। वह दोनों हाथों में चाय का मग थामे टकटकी लगाकर गुसांई को देखे जा रहा था। लछमा ने आग्रह के स्वर में कहा, "चाय के साथ खानी हों, तो खा लो। फिर ठंडी हो जाएंगी।"
"मैं तो अपने टैम से ही खाऊंगा। यह तो बच्चे के लिए..." स्पष्ट कहने में उसे झिझक महसूस हो रही थी, जैसे बच्चे के संबंध में चिंतित होने की उसकी चेष्टा अनधिकार हो।
"न-न, जी! वह तो अभी घर से खाकर ही आ रहा है। मैं रोटियां बनाकर रख आई थी," अत्यंत संकोच के साथ लछमा ने आपत्ति प्रकट कर दी।
"अैंऽऽ, यों ही कहती है। कहां रखी थीं रोटियां घर में?" बच्चे ने रूआंसी आवाज में वास्तविक व्यक्ति की बतें सुन रहा था और रोटियों को देखकर उसका संयम ढ़ीला पड़ गया था।
"चुप!" आंखें तरेरकर लछमा ने उसे डांट दिया। बच्चे के इस कथन से उसकी स्थिति हास्यास्पद हो गई थी, इस कारण लज्जा से उसका मुंह आरक्त हो उठा।
"बच्चा है, भूख लग आई होगी, डांटने से क्या फायदा?" गुसांई ने बच्चे का पक्ष लेकर दो रोटियां उसकी ओर बढ़ा दीं। परंतु मां की अनुमति के बिना उन्हें स्वीकारने का साहस बच्चे को नहीं हो रहा था। वह ललचाई दृष्टि से कभी रोटियों की ओर, कभी मां की ओर देख लेता था।

गुसांई के बार-बार आग्रह करने पर भी बच्चा रोटियां लेने में संकोच करता रहा, तो लछमा ने उसे झिड़क दिया, "मर! अब ले क्यों नहीं लेता? जहां जाएगा, वहीं अपने लच्छन दिखाएगा!"

इससे पहले कि बच्चा रोना शुरू कर दें, गुसांई ने रोटियों के ऊपर एक टुकड़ा गुड़ का रखकर बच्चे के हाथों में दिया। भरी-भरी आंखों से इस अनोखे मित्र को देखकर बच्चा चुपचाप रोटी खाने लगा, और गुसांई कौतुकपूर्ण दृष्टि से उसके हिलते हुए होठों को देखता रहा।

इस छोटे-से प्रसंग के कारण वातावरण में एक तनाव-सा आ गया था, जिसे गुसांई और लछमा दोनों ही अनुभव कर रहे थे।
स्वयं भी एक रोटी को चाय में डुबाकर खाते-खाते गुसांई ने जैसे इस तनाव को कम करने की कोशिश में ही मुस्कराकर कहा, "लोग ठीक ही कहते हैं, औरत के हाथ की बनी रोटियों में स्वाद ही दूसरा होता है।"

लछमा ने करूण दृष्टि से उसकी ओर देखा। गुसांई हो-होकर खोखली हंसी हंस रहा था।
"कुछ साग-सब्ज़ी होती, तो बेचारा एक-आधी रोटी और खा लेता।" गुसांई ने बच्चे की ओर देखकर अपनी विवशता प्रकट की।
"ऐसी ही खाने-पीनेवाले की तकदीर लेकर पैदा हुआ होता तो मेरे भाग क्यों पड़ता? दो दिन से घर में तेल-नमक नहीं है। आज थोड़े पैसे मिले हैं, आज ले जाऊंगी कुछ सौदा।"

हाथ से अपनी जेब टटोलते हुए गुसांई ने संकोचपूर्ण स्वर में कहा, "लछमा!"
लछमा ने जिज्ञासा से उसकी ओर देखा। गुसांई ने जेब से एक नोट निकालकर उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा, "ले, काम चलाने के लिए यह रख ले, मेरे पास अभी और है। परसों दफ्तर से मनीआर्डर आया था।"

"नहीं-नहीं, जी! काम तो चल ही रहा है। मैं इस मतलब से थोड़े कह रही थी। यह तो बात चली थी, तो मैंने कहा," कहकर लछमा ने सहायता लेने से इन्कार कर दिया

गुसांई को लछमा का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। रूखी आवाज में वह बोला, "दुःख-तकलीफ के वक्त ही आदमी आदमी के काम नहीं आया, तो बेकार है! स्साला! कितना कमाया, कितना फूंका हमने इस जिंदगी में। है कोई हिसाब! पर क्या फायदा! किसी के काम नहीं आया। इसमें अहसान की क्या बात है? पैसा तो मिट्टी है स्साला! किसी के काम नहीं आया तो मिट्टी, एकदम मिट्टी!"

परन्तु गुसांई के इस तर्क के बावजूद भी लछमा अड़ी रही, बच्चे के सर पर हाथ फेरते हुए उसने दार्शनिक गंभीरता से कहा, "गंगनाथ दाहिने रहें, तो भले-बुरे दिन निभ ही जाते हैं, जी! पेट का क्या है, घट के खप्पर की तरह जितना डालो, कम हो जाय। अपने-पराये प्रेम से हंस-बोल दें, तो वह बहुत है दिन काटने के लिए।"

गुसांई ने गौर से लछमा के मुख की ओर देखा। वर्षों पहले उठे हुए ज्वार और तूफान का वहां कोई चिह्न शेष नहीं था। अब वह सागर जैसे सीमाओं में बंधकर शांत हो चुका था।

रूपया लेने के लिए लछमा से अधिक आग्रह करने का उसका साहस नहीं हुआ। पर गहरे असंतोष के कारण बुझा-बुझा-सा वह धीमी चाल से चलकर वहां से हट गया। सहसा उसकी चाल तेज हो गई और घट के अंदर जाकर उसने एक बार शंकित दृष्टि से बाहर की ओर देखा। लछमा उस ओर पीठ किए बैठी थी। उसने जल्दी-जल्दी अपने नीजी आटे के टीन से दो-ढ़ाई सेर के करीब आटा निकालकर लछमा के आटे में मिला दिया और संतोष की एक सांस लेकर वह हाथ झाड़ता हुआ बाहर आकर बांध की ओर देखने लगा। ऊपर बांध पर किसी को घूमते हुए देखकर उसने हांक दी। शायद खेत की सिंचाई के लिए कोई पानी तोड़ना चाहता था।

बांध की ओर जाने से पहले वह एक बार लछमा के निकट गया। पिसान पिस जाने की सूचना उसे देकर वापस लौटते हुए फिर ठिठककर खड़ा हो गया, मन की बात कहने में जैसे उसे झिझक हो रही हो। अटक-अटककर वह बोला, "लछमा. . . ।"

लछमा ने सिर उठाकर उसकी ओर देखा। गुसांई को चुपचाप अपनी ओर देखते हुए पाकर उसे संकोच होने लगा। वह न जाने क्या कहना चाहता है, इस बात की आशंका से उसके मुंह का रंग अचानक फीका होने लगा। पर गुसांई ने झिझकते हुए केवल इतना ही कहा, "कभी चार पैसे जुड़ जाएं, तो गंगनाथ का जागर लगाकर भूल-चूक की माफी मांग लेना। पूत-परिवारवालों को देवी-देवता के कोप से बचा रहना चाहिए।" लछमा की बात सुनने के लिए वह नहीं रूका।

पानी तोड़नेवाले खेतिहार से झगड़ा निपटाकर कुछ देर बाद लौटते हुए उसने देखा, सामनेवाले पहाड़ की पगडंडी पर सर पर आटा लिए लछमा अपने बच्चे के साथ धीरे-धीरे चली जा रही थी। वह उन्हें पहाड़ी के मोड़ तक पहुंचने तक टकटकी बांधे देखता रहा।

घट के अंदर काठ की चिड़ियां अब भी किट-किट आवाज कर रही थीं, चक्की का पाट खिस्सर-खिस्सर चल रहा था और मथानी की पानी काटने की आवाज आ रही थी, और कहीं कोई स्वर नहीं, सब सुनसान, निस्तब्ध!

## "गदल" रांगेय राघव

बाहर शोरगुल मचा। डोड़ी ने पुकारा - "कौन है?"
कोई उत्तर नहीं मिला। आवाज आई - "हत्यारिन! तुझे कतल कर दूँगा!"
स्त्री का स्वर आया - "करके तो देख! तेरे कुनबे को डायन बनके न खा गई, निपूते!"
डोड़ी बैठा न रह सका। बाहर आया।
"क्या करता है, क्या करता है, निहाल?" - डोड़ी बढ़कर चिल्लाया - "आखिर तेरी मैया है।"
"मैया है!" - कहकर निहाल हट गया।
"और तू हाथ उठाके तो देख!" स्त्री ने फुफकारा - "कढ़ीखाए! तेरी सींक पर बिल्लियाँ चलवा दूँ! समझ रखियो! मत जान रखियो! हाँ! तेरी आसरतू नहीं हूँ।"
"भाभी!" - डोड़ी ने कहा - "क्या बकती है? होश में आ!"
वह आगे बढ़ा। उसने मुड़कर कहा - "जाओ सब। तुम सब लोग जाओ!"
निहाल हट गया। उसके साथ ही सब लोग इधर-उधर हो गए।
डोड़ी निस्तब्ध, छप्पर के नीचे लगा बरेंडा पकड़े खड़ा रहा। स्त्री वहीं बिफरी हुई-सी बैठी रही। उसकी आँखों में आग-सी जल रही थी।
उसने कहा - "मैं जानती हूँ, निहाल में इतनी हिम्मत नहीं। यह सब तैने किया है, देवर!"
"हाँ गदल!" - डोड़ी ने धीरे से कहा - "मैंने ही किया है।"
गदल सिमट गई। कहा - "क्यों, तुझे क्या जरूरत थी?"

डोड़ी कह नहीं सका। वह ऊपर से नीचे तक झनझना उठा। पचास साल का वह लंबा खारी गूजर, जिसकी मूँछें खिचड़ी हो चुकी थीं, छप्पर तक पहुँचा-सा लगता था।.

उसके कंधे की चौड़ी हड्डियों पर अब दिए का हल्का प्रकाश पड़ रहा था, उसके शरीर पर मोटी फतुही थी और उसकी धोती घुटनों के नीचे उतरने के पहले ही झूल देकर चुस्त-सी ऊपर की ओर लौट जाती थी। उसका हाथ कर्रा था और वह इस समय निस्तब्ध खड़ा रहा

स्त्री उठी। वह लगभग **45** वर्षीया थी, और उसका रंग गोरा होने पर भी आयु के धुँधलके में अब मैला-सा दिखने लगा था। उसको देखकर लगता था कि वह
फुर्तीली थी। जीवन-भर कठोर मेहनत करने से, उसकी गठन के ढ़ीले पड़ने पर भी उसकी फूर्ती अभी तक मौजूद थी।
"तुझे शरम नहीं आती, गदल?" - डोड़ी ने पूछा।
"क्यों, शरम क्यों आएगी?" - गदल ने पूछा।
डोड़ी क्षणभर सकते में पड़ गया। भीतर के चौबारे से आवाज आई - "शरम क्यों आएगी इसे? शरम तो उसे आए, जिसकी आँखों में हया बची हो।"
"निहाल!" - डोड़ी चिल्लाया - "तू चुप रह!"
फिर आवाज बंद हो गई।
गदल ने कहा - "मुझे क्यों बुलाया है तूने?"
डोड़ी ने इस बात का उत्तर नहीं दिया। पूछा - "रोटी खाई है?"
"नहीं, " गदल ने कहा - "खाती भी कब? कमबखत रास्ते में मिले। खेत होकर लौट रही थी। रास्ते में अरने-कंडे बीनकर संझा के लिए ले जा रही थी।"

डोड़ी ने पुकारा - "निहाल! बहू से कह, अपनी सास को रोटी दे जाय!"
भीतर से किसी स्त्री की ढीठ आवाज सुनाई दी - "अरे, अब लौहरों की बैयर आई हैं; उन्हें क्यों गरीब खारियों की रोटी भाएगी?"

कुछ स्त्रियों ने ठहाका लगाया।
निहाल चिल्लाया – "सुन ले, परमेसुरी, जगहँसाई हो रही है। खारियों की तो तूने नाक कटाकर छोड़ी।"

•••

गुन्ना मरा, तो पचपन बरस का था। गदल विधवा हो गई। गदल का बड़ा बेटा निहाल तीस वर्ष के पास पहुँच रहा था। उसकी बहू दुल्ला का बड़ा बेटा सात का, दूसरा चार का और तीसरी छोरी थी जो उसकी गोद में थी।

निहाल से छोटी तरा–ऊपर की दो बहिनों थी चम्पा और चमेली, जिसका क्रमशः झाज और विश्वारा गाँवों में ब्याह हुआ था। आज उनकी गोदियों से उनके लाल उतरकर धूल में घुटरूवन चलने लगे थे। अंतिम पुत्र नारायन अब बाईस का था, जिसकी बहू दूसरे बच्चे की माँ बननेवाली थी। ऐसी गदल, इतना बड़ा परिवार छोड़कर चली गई थी और बत्तीस साल के एक लौहरे गूजर के यहाँ जा बैठी थी।

डोड़ी गुन्ना का सगा भाई था। बहू थी, बच्चे भी हुए। सब मर गए। अपनी जगह अकेला रह गया। गुन्ना ने बड़ी–बड़ी कही, पर वह फिर अकेला ही रहा, उसने ब्याह नहीं किया, गदल ही के चूल्हे पर खाता रहा। कमाकर लाता, वो उसी को दे देता, उसी के बच्चों को अपना मानता, कभी उसने अलगाव नहीं किया। निहाल अपने चाचा पर जान देता था। और फिर खारी गूजर अपने को लौहरों से ऊँच समझते थे।

गदल जिसके घर बैठी थी, उसका पूरा कुनबा था। उसने गदल की उम्र नहीं देखी, यह देखा कि खारी औरत है, पड़ी रहेगी। चूल्हे पर दम फूँकनेवाली की जरूरत भी थी।

आज ही गदल सवेरे गई थी और शाम को उसके बेटे उसे फिर बाँध लाए थे। उसके नए पति मौनी को अभी पता भी नहीं हुआ होगा। मौनी रँडुआ था। उसकी भाभी जो पाँव फैलाकर मटक–मटककर छाछ बिलोती थी – दुल्लो सुनेगी तो क्या कहेगी?
गदल का मन विक्षोभ से भर उठा।
आधी रात हो चली थी। गदल वहीं पड़ी थी। डोड़ी वहीं बैठा चिलम फूँक रहा था।
उस सन्नाटे में डोड़ी ने धीरे से कहा – "गदल!"
"क्या है?" – गदल ने हौले से कहा।
"तू चली गई न?"
गदल बोली नहीं। डोडी ने फिर कहा – "सब चले जाते हैं। एक दिन तेरी देवरानी चली गई, फिर एक–एक करके तेरे भतीजे भी चले गए। भैया भी चला गया। पर तू जैसी गई; वैसे तो कोई भी नहीं गया। जग हँसता है, जानती है?"

गदल बुरबुराई – "जग हँसाई से मैं नहीं डरती देवर! जब चौदह की थी, तब तेरा भैया मुझे गाँव में देख गया था। तू उसके साथ तेल पिया लट्ठ लेकर मुझे लेने आया था न, तब? मैं आई थी कि नहीं? तू सोचता होगा कि गदल की उमर गई, अब उसे खसम की क्या जरूरत है? पर जानता है, मैं क्यों गई?"
"नहीं।"
"तु तो बस यही सोच करता होगा कि गदल गई, अब पहले–सा रोटियों का आराम नहीं रहा। बहुएँ नहीं करेंगी तेरी चाकरी देवर! तूने भाई से और मुझसे निभाई, तो मैंने भी तुझे अपना ही समझा! बोल झूठ कहती हूँ?"
"नहीं, गदल, मैंने कब कहा!"
"बस यही बात है देवर! अब मेरा यहाँ कौन है! मेरा मरद तो मर गया। जीते–जी मैंने उसकी चाकरी की, उसके नाते उसके सब अपनों की चाकरी बजाई। पर जब मालिक ही न रहा, तो काहे को हड़कंप उठाऊँ? यह लड़के, यह बहुएँ! मैं इनकी गुलामी नहीं करूँगी!"
"पर क्या यह सब तेरी औलाद नहीं बावरी। बिल्ली तक अपने जायों के लिए सात घर उलट–फेर करती है, फिर तू तो

मानुष है। तेरी माया–ममता कहाँ चली गई?"
"देवर, तेरी कहाँ चली गई थी, तूने फिर ब्याह न किया।"
"मुझे तेरा सहारा था गदल!"
"कायर! भैया तेरा मरा, कारज किया बेटे ने और फिर जब सब हो गया तब तू मुझे रखकर घर नहीं बसा सकता था। तूने मुझे पेट के लिए पराई ड्यौढ़ी लँघवाई।
चूल्हा मैं तब फूँकूँ, जब मेरा कोई अपना हो। ऐसी बाँदी नहीं हूँ कि मेरी कुहनी बजे, औरों के बिछिए छनके। मैं तो पेट तब भरूँगी, जब पेट का मोल कर लूँगी।
समझा देवर! तूने तो नहीं कहा तब। अब कुनबे की नाक पर चोट पड़ी, तब सोचा। तब न सोचा, जब तेरी गदल को बहुओं ने आँखें तरेरकर देखा। अरे, कौन किसकी परवा करता है!"
"गदल!" – डोड़ी ने भर्राए स्वर में कहा – "मैं डरता था।"
"भला क्यों तो?"
"गदल, मैं बुढ्ढा हूँ। डरता था, जग हँसेगा। बेटे सोचेंगे, शायद चाचा का अम्माँ से पहले से नाता था, तभी चाचा ने दूसरा ब्याह नहीं किया। गदल, भैया की भी बदनामी होती न?"
"अरे चल रहने दे!" गदल ने उत्तर दिया – "भैया का बड़ा ख्याल रहा तुझे? तू नहीं था कारज में उनके क्या? मेरे सुसर मरे थे, तब तेरे भैया ने बिरादरी को जिमाकर होठों से पानी छुलाया था अपने। और तुम सबने कितने बुलाए? तू भैया दो बेटे। यही भैया हैं, यहीं बेटे हैं? पच्चीस आदमी बुलाए कुल। क्यों आखिर? कह दिया लड़ाई में कानून है। पुलिस पच्चीस से ज्यादा होते ही पकड़ ले जाएगी! डरपोक कहीं के! मैं नहीं रहती ऐसों के।"
हठात् डोड़ी का स्वर बदला। कहा – "मेरे रहते तू पराए मरद के जा बैठेगी?"
"हाँ।"
"अबके तो कह!" – वह उठकर बढ़ा।
"सौ बार कहूँ लाला!" गदल पड़ी–पड़ी बोली।
डोड़ी बढ़ा।
"बढ़!" – गदल ने फुफकारा।

डोड़ी रूक गया। गदल देखती रही। डोड़ी जाकर बैठ गया। गदल देखती रही। फिर हँसी। कहा – "तू मुझे करेगा! तुझमें हिम्मत कहाँ है देवर! मेरा नया मरद है न? मरद है। इतनी सुन तो ले भला। मुझे लगता है तेरा भइया ही फिर मिल गया है मुझे। तू?" – वह रूकी– "मरद है! अरे कोई बैयर से घिघियाता है? बढ़कर जो तू मुझे मारता, तो मैं समझती, तू अपनापा मानता हैं। मैं इस घर में रहूँगी?"
डोड़ी देखता ही रह गया। रात गहरी हो गई। गदल ने लहँगे की पर्त फैलाकर तन ढक लिया। डोड़ी ऊँघने लगा।

•••

ओसारे में दुल्ले ने अँगड़ाई लेकर कहा – "आ गई देवरानी जी! रात कहाँ रही?"
सूका डूब गया था। आकाश में पौ फट रही थी। बैल अब उठकर खड़े हो गए थे। हवा में एक ठंडक थी।
गदल ने तड़ाक से जवाब दिया – "सो, जेठानी मेरी! हुकुम नहीं चला मुझ पर। तेरी जैसी बेटियाँ है मेरी। देवर के नाते देवरानी हूँ, तेरी जूती नहीं।"
दुल्लो सकपका गई। मौनी उठा ही था। भन्नाया हुआ आया। बोला– "कहाँ गई थी?"
गदल ने घूँघट खींच लिया, पर आवाज नहीं बदली। कहा – "वही ले गए मुझे घेरकर! मौका पाके निकल आई।"

मौनी दब गया। मौनी का बाप बाहर से ही ढोर हाँक ले गया। मौनी बढ़ा।
"कहाँ जाता है?" – गदल ने पूछा।
"खेत–हार।"
"पहले मेरा फैसला कर जा।" गदल ने कहा।

दुल्लो उस अधेड़ स्त्री के नक्शे देखकर अचरज में खड़ी रही।
"कैसा फैसला? – मौना ने पूछा। वह उस बड़ी स्त्री से दब गया।
"अब क्या तेरे घर का पीसना पीसूँगी मैं?" – गदल ने कहा – "हम तो दो जने हैं। अलग करेंगे खाएँगे।" – उसके उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही यह कहती रही – "कमाई शामिल करो, मैं नहीं रोकती, पर भीतर तो अलग-अलग भले।"

मौनी क्षण-भर सन्नाटे में खड़ा रहा। दुल्लो तिनककर निकली। बोली – "अब चुप क्यों हो गया, देवर? बोलता क्यों नहीं? देवरानी लाया है कि सास! तेरी बोलती क्यों नहीं कढ़ती? ऐसी न समझियो तू मुझे! रोटी तवे पर पलटते मुझे भी आँच नहीं लगती, जो मैं इसकी खरी-खोटी सुन लूँगी, समझा? मेरी अम्माँ ने भी मुझे चूल्हे की मट्टी खाके ही जना था। हाँ!"

"अरी तो सौत!" – गदल ने पुकारा – "मट्टी न खा के आई, सारे कुनबे को चबा जाएगी डायन। ऐसी नहीं तेरी गुड़ की भेली है, जो न खाएंगे हम, तो रोटी गले में फंदा मार जाएगी।"

मौनी उत्तर नहीं दे सका। वह बाहर चला गया। दुपहर हो गई। दुल्लो बैठी चरखा कात रही थी। नरायन ने आकर आवाज दी – "कोई है?"
दुल्लो ने घूँघट काढ़ लिया। पूछ – "कौन हो?"
नरायन ने खून का घूँट पीकर कहा – "गदल का बेटा हूँ।"
दुल्लो घूँघट में हँसी। पूछा – "छोटे हो कि बड़े?"
"छोटा।"
"और कितने है!"
"कित्ते भी हों। तुझे क्या?" – गदल ने निकालकर कहा।
"अरे आ गई!" कहकर दुल्लो भीतर भागी।
"आने दे आज उसे। तुझे बता दूँगी जिठानी!" – गदल ने सिर हिलाकर कहा।
"अम्माँ!" – नरायन ने कहा – "यह तेरी जिठानी!"
"क्यों आया है तू? यह बता!" – गदल झल्लाई।
"दंड धरवाने आया हूँ, अम्माँ! – कहकर नरायन आगे बैठने को बढ़ा।
"वहीं रह!" – गदल ने कहा।

उसी समय लोटा-डोर लिए मौनी लौटा। उसने देखा कि गदल ने अपने कड़े और हँसली उतारकर फेक दी और कहा – "भर गया दंड तेरा! अब मरद का सब माल दबाकर बहुओं के कहने से बेटों ने मुझे निकाल दिया है।"
नरायन का मुँह स्याह पड़ गया। वह गहने उठाकर चला गया। मौनी मन-ही-मन शंकित-सा भीतर आया।

दुल्लो ने शिकायत की – "सुना तूने देवर! देवरानी ने गहने दे दिए। घुटना आखिर पेट को ही मुड़ा। चार जगह बैठेगी, तो बेटों के खेत की डौर पर डंडा-धूआ तक लग जाएँगे, पक्का चबूतरा घर के आगे बन जाएगा, समझा देती हूँ। तुम भोले-भाले ठहरे। तिरिया-चरित्तर तुम क्या जानो। धंधा है यह भी। अब कहेगी, फिर बनवा मुझे।"

गदल हँसी, कहा– "वाह जिठानी, पुराने मरद का मोल नए मरद से तेरे घर की बैयर चुकवाती होंगी। गदल तो मालकिन बनकर रहती है, समझी! बाँदी बनकर नहीं। चाकरी करूँगी तो अपने मरद की, नहीं तो बिधना मेरे ठेंगे पर। समझी! तू बीच में बोलनेवाली कौन?"
दुल्लो ने रोष से देखा और पाँव पटकती चली गई।
मौनी ने देखा और कहा – "बहुत बढ़-बढ़कर बातें मत हाँक, समझ ले घर में बहू बनकर रह!"
"अरे तू तो तब पैदा भी नहीं हुआ था, बालम!" – गदल ने मुस्कराकर कहा – "तब से मैं सब जानती हूँ। मुझे क्या

सिखाता है तू? ऐसा कोई मैंने काम नहीं किया है, जो बिरादरी के नेम के बाहर हो। जब तू देखे, मैंने ऐसी कोई बात की हो, तो हजार बार रोक, पर सौत की ठसक नहीं सहूँगी।"
"तो बताऊँ तुझे!" – वह सिर हिलाकर बोला।
गदल हँसकर ओबरी में चली गई और काम में लग गई।

•••

ठंडी हवा तेज हो गई। डोड़ी चुपचाप बाहर छप्पर में बैठा हुक्का पी रहा था। पीते–पीते ऊब गया और उसने चिलम उलट दी और फिर बैठा रहा।

खेत से लौटकर निहाल ने बैल बाँधे, न्यार डाला और कहा – "काका!" डोड़ी कुछ सोच रहा था। उसने सुना नहीं।
"काका!" – निहाल ने स्वर उठाकर कहा।
"हे!" डोड़ी चौक उठा – "क्या है? मुझसे कहा कुछ?"
"तुमसे न कहूँगा, तो कहूँगा किससे? दिन–भर तो तुम मिले नहीं। चिम्मन कढ़ेरा कहता था, तुमने दिन–भर मनमौजी बाबा की धूनी के पास बिताया, यह सच है?"
"हाँ, बेटा, चला तो गया था।"
"क्यों गए थे भला?"
"ऐसे ही जी किया था, बेटा!"
"और कस्बे से घी कटऊ क्या कराया कि बनिए का आदमी आया था। मैंने कहा – "नहीं है, वह बोला – लेके जाऊँगा। झगड़ा होते–होते बचा।"
"ऐसा नहीं करते, बेटा!" – डोड़ी ने कहा – "बौहरे से कोई झगड़ा मोल लेता है?"

निहाल ने चिलम उठाई, कंडों में से आँच बीनकर धरी और फूँक लगाता हुआ आया। कहा – 'मैं तो गया नहीं। सिर फूट जाते। नरायन को भेजा था।"
"कहाँ?" डोड़ी चौंका।
"उसी कुलच्छनी कुलबोरनी के पास।"
"अपनी माँ के पास?"
"न जाने तुम्हें उससे क्या है, अब भी तुम्हें उस पर गुस्सा नहीं आता। उसे माँ कहूँगा मैं?"
"पर बेटा, तू न कह, जग तो उसे तेरी माँ ही कहेगा। जब तक मरद जीता है, लोग बैयर को मरद की बहू कहकर पुकारते हैं, जब मरद मर जाता है, तो लोग उसे
बेटे की अम्माँ कहकर पुकारते हैं। कोई नया नेम थोड़ी ही है।"
निहाल भुनभुनाया। कहा– "ठिक है, काका ठीक है, पर तुमने अभी तक ये तो पूछा ही नहीं कि क्यों भेजा था उसे?"
"हाँ बेटा!" – डोड़ी ने चौंककर कहा – "यहा तो तूने बताया ही नहीं! बता न?"
"दंड भरवाने भेजा था। सो पंचायत जुड़वाने के पहले ही उसने तो गहने उतार फेंके।"

डोडी मुस्कुराया। कहा – "तो वह यह बता रही है कि घरवालों ने पंचायत भी नहीं जुड़वाई? यानी हम उसे भगाना ही चाहते थे। नरायन ले आया?"
"हाँ।"
डोडी सोचने लगा।
'मैं फेर आऊँ?" – निहाल ने पूछा।
"नहीं बेटा!" डोड़ी ने कहा – "वह सचमुच रूठकर ही गई है। और कोई बात नहीं है। तूने रोटी खा ली?"
"नहीं।"
"तो जा पहले खा ले।"

निहाल उठ गया, पर डोड़ी बैठा रहा। रात का अँधेरा साँझ के पीछे ऐसे आ गया, जैसे कोई पर्त उलट गई हो। दूर ढोला गाने की आवाज आने लगी। डोड़ी उठा और चल पड़ा।
निहाल ने बहू से पूछा – "काका ने खा ली?"
"नहीं तो।"
निहाल बाहर आया। काका नहीं थे।
"काका।" उसने पुकारा।
राह पर चिरंजी पुजारी गढ़वाले हनुमानजी के पट बंद करके आ रहा था। उसने पुछा –"क्या है रे?"
"पाँय लागूँ, पंडितजी।" निहाल ने कहा – "काका अभी तो बैठे थे।"
चिरंजी ने कहा– "अरे, वह वहाँ ढोल सुन रहा है। मैं अभी देखकर आया हूँ।"
चिरंजी चला गया, निहाल ठिठक खड़ा रहा। बहू ने झाँककर पूछा– "क्या हुआ?"
"काका ढोला सुनने गए हैं।" – निहाल ने अविश्वास से कहा – "वे तो नहीं जाते थे।"
"जाकर बुला ले आओ। रात बढ़ रही है।" – बहू ने कहा और रोते बच्चे को दूध पिलाने लगी।
निहाल जब काका को लेकर लौटा, तो काका की देही तप रही थी।
"हवा लग गई है और कुछ नहीं।" – डोड़ी ने छोटी खटिया पर अपनी निकाली टाँगे समेटकर लेटते हुए कहा – "रोटी रहने दे, आज जी नहीं चाहता।"
निहाल खड़ा रहा। डोड़ी ने कहा – "अरे, सोच तो, बेटा! मैंने ढोला कितने दिन बाद सुना है।

उस दिन भैया की सुहागरात को सुना था, या फिर आज... ।"
निहाल ने सुना और देखा, डोड़ी आँख मीचकर कुछ गुनगुनाने लगा था.....

शाम हो गई थी। मौनी बाहर बैठा था। गदल ने गरम-गरम रोटी और आम की चटनी ले जाकर खाने को धर दी।
"बहुत अच्छी बनी है।" – मौनी ने खाते हुए कहा – "बहुत अच्छी है।"
गदल बैठ गई। कहा – "तुम एक ब्याह और क्यों नहीं कर लेते अपनी उमिर लायक?"
मौनी चौंका। कहा – "एक की रोटी भी नहीं बनती?"
"नहीं", गदल ने कहा – "सोचते होंगे सौत बुलाती हूँ , पर मरद का क्या? मेरी भी तो ढलती उमिर है। जीते जी देख जाऊँगी तो ठीक है। न हो ते हुकूमत करने को तो एक मिल जाएगी।"
मौना हँसा। बोला – "यों कह। हौंस है तुझे, लड़ने को चाहिए।"
खाना खाकर उठा, तो गदल हुक्का भरकर दे गई और आप दीवार की ओट में बैठकर खाने लगी। इतने में सुनाई दिया – "अरे, इस बखत कहाँ चला?"
"जरूरी काम है, मौनी!" – उत्तर मिला – "पेसकार साब ने बुलवाया है।"
गदल ने पहचाना। उसी के गाँव का तो था, घोट्या मैना का चंदा गिर्राज ग्वारिया। जरूर पेसकार की गाय की चराने की बात होगी।
"अरे तो रात को जा रहा है?" – मौनी ने कहा – "ले चिलम तो पीता जा।"
आकर्षण ने रोका। गिर्राज बैठ गया। गदल ने दूसरी रोटी उठाई। कौर मुँह में रखा।
"तुमने सुना?" गिर्राज ने कहा और दम खींचा।
"क्या?" मौनी ने पूछा।
"गदल का देवर डोडी मर गया।"
गदल का मुँह रूक गया। जल्दी से लोटे के पानी के संग कौर निगला और सुनने लगी। कलेजा मुँह को आने लगा।
"कैसे मर गया?" – मौनी ने कहा – "वह तो भला-चंगा था!"
"ठंड लग गई, रात उघाड़ा रह गया।"
गदल द्वार पर दिखाई दी। कहा – "गिर्राज!"
"काकी!" – गिर्राज ने कहा – "सच। मरते बखत उसके मुँह से तुम्हारा नाम कढ़ा था, काकी। बिचारा बड़ा भला मानस था।"

गदल स्तब्ध खड़ी रही।
गिर्राज चला गया।
गदल ने कहा – "सुनते हो!"
"क्या है री?"
"मैं जरा जाऊँगी।"
"कहाँ? – वह आतंकित हुआ।
"वहीं।"
"क्यों?"
"देवर मर गया है न?"
"देवर! अब तो वह तेरा देवर नहीं।"
गदल झनझनाती हुई हँसी हँसी – "देवर तो मेरा अगले जनम में भी रहेगा। वही न मुझे रूखाई दिखाता, तो क्या यह पाँव कटे बिना उस देहरी से बाहर निकल सकते थे? उसने मुझसे मन फेरा, मैने उससे। मैंने ऐसा बदला लिया उससे!"
कहते कहते वह कठोर हो गई।
"तू नहीं जा सकती।" – मौनी ने कहा।
"क्यों?" – गदल ने कहा – "तू रोकेगा? अरे, मेरे खास पेट के जाए मुझे रोक न पाए। अब क्या है? जिसे नीचा दिखाना चाहती थी, वही न रहा और तू मुझे रोकनेवाला है कौन? अपने मन से आई थी, रहूँगी, नहीं रहूँगी, कौन तूने मेरा मोल दिया है। इतना बोल तो भी लिया – तू जो होता मेरे उस घर में तो, तो जीभ कढ़वा लेती तेरी।"
"अरी चल-चल।"
मौनी ने हाथ पकडकर उसे भीतर धकेल दिया और द्वार पर खाट डालकर लेटकर हुक्का पीने लगा।
गदल भीतर रोने लगी, परंतु इतने धीरे कि उसकी सिसकी तक मौनी नहीं सुन सका। आज गदल का मन बहा जा रहा था। रात का तीसरा पहर बीत रहा था। मौनी की नाक बज रही थी। गदल ने पूरी शक्ति लगाकर छप्पर का कोना उठाया और साँपिन की तरह उसके नीचे से रेंगकर दूसरी ओर कूद गई।

•••

मौनी रह-रहकर तड़पता था। हिम्मत नहीं होती थी कि जाकर सीधे गाँव में हल्ला करे और लट्ठ के बल पर गदल को उठा लाए। मन करता सुसरी की टाँगे तोड़ दे। दुल्लो ने व्यंग्य भी किया कि उसकी लुगाई भागकर नाक कटा गई है, खून का-सा घूँट पीकर रह गया। गूजरों ने जब सुना, तो कहा – "अरे बुढ़िया के लिए खून-खराबा कराएगा! और अभी तेरा उसने खरच ही क्या कराया है? दो जून रोटी खा गई है, तुझे भी तो टिक्कड़ खिलाकर ही गई!"
मौनी का क्रोध भड़क गया।
घोट्या का गिर्राज सुना गया था।

जिस वक्त गदल पहुँची, पटेल बैठा था। निहाल ने कहा था – "खबरदार! भीतर पाँव न धरियो!"
"क्यों लौट आई है, बहू?" पटेल चौंका था। बोला– "अब क्या लेने आई है?"
गदल बैठ गई। कहा – "जब छोटी थी, तभी मेरा देवर लट्ठ बाँध मेरे खसम के साथ आया था। इसी के हाथ देखती रह गई थी मैं तो। सोचा था मरद है, इसकी छत्तर-छाया में जी लूँगी। बताओ, पटेल, वह ही जब मेरे आदमी के मरने के बाद मुझे न रख सका, तो क्या करती? अरे, मैं न रही, तो इनसे क्या हुआ? दो दिन में काका उठ गया न? इनके सहारे मैं रहती तो क्या होता?"
पटेल ने कहा– "पर तूने बेटा-बेटी की उमर न देखी बहू।"
"ठीक है", गदल ने कहा – "उमर देखती कि इज्जत, यह कहो। मेरी देवर से रार थी, खतम हो गई। ये बेटा है, मैने कोई बिरादरी के नेम के बाहर की बात की हो तो रोककर मुझ पर दावा करो। पंचायत में जवाब दूँगी। लेकिन बेटों ने बिरादरी के मुँह पर थूका, तब तुम सब कहाँ थे?"
"सो कब?" – पटेल ने आश्चर्य से पूछा।

"पटेल न कहेंगे तो कौन कहेगा? पच्चीस आदमी खिलाकर लुटा दिया मेरे मरद के कारज में!"
"पर पगली, यह तो सरकार का कानून था।"
"कानून था!" – गदल हँसी – "सारे जग में कानून चल रहा है, पटेल?

दिन दहाड़े भैंस खोलकर लाई जाती हैं। मेरे ही मरद पर कानून था? यों न कहोगे, बेटों ने सोचा, दूसरा अब क्या धरा है, क्यों पैसा बिगाड़ते हो? कायर कहीं के?"
निहाल गरजा – "कायर! हम कायर? तू सिंधनी?"
"हाँ मैं सिंधनी!".... गदल तड़पी – "बोल तुझमें है हिम्मत?"
"बोल!" – "वह भी चिल्लाया।
"जा, बिरादरी कारज में न्योता दे काका के।" – गदल ने कहा।
निहाल सकपका गया। बोला – "पुलस.... "
गदल ने सीना ठोंककर कहा – "बस?"
"लुगाई बकती है!" – पटेल ने कहा – "गोली चलेगी, तो?"
गदल ने कहा – "धरम-धुरंधरों ने तो डूबो ही दी। सारी गुजरात की डूब गई, माधो। अब किसी का आसरा नहीं। कायर-ही-कायर बसे हैं।"
फिर अचानक कहा – "मैं करूँ परबंध?"
"तू?" – निहाल ने कहा।
"हाँ, मैं!"..... और उसकी आँखों में पानी भर आया। कहा – "वह मरते बखत मेरा नाम लेता गया है न, तो उसका परबंध मैं ही करूँगी।"

मौनी आश्चर्य में था। गिर्राज ने बताया था कि कारज का जोरदार इंतजाम है। गदल ने दरोगा को रिश्वत दी है। वह इधर आएगा ही नहीं। गदल बड़ा इंतजाम कर रही है। लोग कहते है, उसे अपने मरद का इतना गम नहीं हुआ था, जितना अब लगता है।

गिर्राज तो चला गया था, पर मौनी में विष भर गया था। उसने उठते हुए कहा – "तो गदल! तेरी भी मन की होने दूँ, सो गोला का मौनी नहीं। दरोगा का मुँह बंद कर दे, पर उससे भी ऊपर एक दरबार है। मैं कस्बे में बड़े दरोगा से शिकायत करूँगा।"

•••

कारज हो रहा था। पाँते बैठतीं, जीमतीं, उठ जातीं और कढ़ाव से पुए उतरते। बाहर मरद इंतजाम कर रहे थे, खिला रहे थे। निहाल और नरायन ने लड़ाई में महँगा नाज बेचकर जो घड़ों में नोटों की चाँदी बनाकर डाली थी, वह निकली और बौहरे का कर्ज चढ़ा। पर डाँग में लोगों ने कहा – "गदल का ही बूता था। बेटे तो हार बैठे थे। कानून क्या बिरादरी से ऊपर है?"

गदल थक गई थी। औरतों में बैठी थी। अचानक द्वार में से सिपाही-सा दीखा। बाहर आ गई। निहाल सिर झुकाए खड़ा था।
"क्या बात है, दीवानजी?" – गदल ने बढ़कर पूछा।
स्त्री का बढ़कर पूछना देख दीवान सकपका गया।
निहाल ने कहा – "कहते हैं कारज रोक दो।"
"सो, कैसे?" – गदल चौंकी।
"दरोगाजी ने कहा है।" दीवानजी ने नम्र उत्तर दिया।
"क्यों? उनसे पूछकर ही तो किया जा रहा है।" उसका स्पष्ट संकेत था कि रिश्वत दी जा चुकी है।

दीवान ने कहा – "जानता हूँ, दरोगाजी तो मेल–मुलाकात मानते हैं, पर किसी ने बड़े दरोगाजी के पास शिकायत पहुँचाई है, दरोगाजी को आना ही पड़ेगा। इसी से
उन्होंने कहला भेजा है कि भीड़ छाँट दो। वर्ना कानूनी कार्रवाई करनी पड़ेगी।"

क्षणभर गदल ने सोचा। कौन होगा वह? समझ नहीं सकी। बोली – "दरोगाजी ने पहले नहीं सोचा यह सब? अब बिरादरी को उठा दें? दीवानजी, तुम भी बैठकर पत्तल परोसवा लो। होगी सो देखी जाएगी। हम खबर भेज देंगे, दरोगा आते ही क्यों हैं? वे तो राजा है।"
दीवानजी ने कहा –"सरकारी नौकरी है। चली जाएगी? आना ही होगा उन्हें।"
"तो आने दो!" – गदल ने चुभते स्वर से कहा – "सब गिरफ्तार कर लिए जाएँगे। समझी! राज से टक्कर लेने की कोशिश न करो।"
'अरे तो क्या राज बिरादरी से ऊपर है?" – गदल ने तमककर कहा – "राज के पीसे तो आज तक पिसे हैं, पर राज के लिए धर्म नहीं छोड़ देंगे, तुम सुन लो! तुम धरम छीन लो, तो हमें जीना हराम है।"
गदल के पाँव के धमाके से धरती चल गई।
तीन पाँते और उठ गई, अंतिम पाँत थी। निहाल ने अँधेरे में देखकर कहा – "नरायन, जल्दी कर। एक पाँत बची है न?"
गदल ने छप्पर की छाया में से कहा – "निहाल!"
निहाल गया।
"डरता है?" – गदल ने पूछा।
सूखे होठों पर जीभ फेरकर उसने कहा – "नहीं!"
"मेरी कोख की लाज करनी होगी तुझे।" – गदल ने कहा – "तेरे काका ने तुझको बेटा समझकर अपना दूसरा ब्याह नामंजूर कर दिया था। याद रखना, उसके और कोई नहीं।"
निहाल ने सिर झुका लिया।
भागा हुआ एक लड़का आया।
"दादी!" वह चिल्लाया।
"क्या है रे?" – गदल ने सशंक होकर देखा।
"पुलिस हथियारबंद होकर आ रही है।"
निहाल ने गदल की ओर रहस्यभरी दृष्टि से देखा।
गदल ने कहा – "पाँत उठने में ज्यादा देर नहीं है।"
"लेकिन वे कब मानेंगे?"
"उन्हें रोकना होगा।"
"उनके पास बंदूकें हैं।"
"बंदूकें हमारे पास भी हैं, निहाल!" – गदल ने कहा – "डाँग में बंदूकों की क्या कमी?"
"पर हम फिर खाएँगे क्या!"
"जो भगवान देगा।"
बाहर पुलिस की गाड़ी का भोंपू बजा। निहाल आगे बढ़ा। दरोगा ने उतरकर कहा – "यहाँ दावत हो रही है?"
निहाल भौंचक रह गया। जिस आदमी ने रिश्वत ली थी, अब वह पहचान भी नहीं रहा था।
"हाँ। हो रही है?" – उसने क्रुद्ध स्वर में कहा।
"पच्चीस आदमी से ऊपर है?"
"गिनकर हम नहीं खिलाते, दरोगाजी!"

"मगर तुम कानून तो नहीं तोड़ सकते।
"राज का कानून कल का है, मगर बिरादरी का कानून सदा का है, हमें राज नहीं लेना है, बिरादरी से काम है।"
"तो मैं गिरफ्तार करूँगा!"

गदल ने पुकारा – "निहाल।"
निहाल भीतर गया।
गदल ने कहा – "पंगत होने तक इन्हें रोकना ही होगा!"
"फिर!"
"फिर सबको पीछे से निकाल देंगे। अगर कोई पकड़ा गया, तो बिरादरी क्या कहेगी?"
"पर ये वैसे न रूकेंगे। गोली चलाएँगे।"
"तू न डर। छत पर नरायन चार आदमियों के साथ बंदूकें लिए बैठा है।"
निहाल काँप उठा। उसने घबराए हुए स्वर से समझने की कोशिश की – "हमारी टोपीदार हैं, उनकी रैफल हैं।"
"कुछ भी हो, पंगत उतर जाएगी।"
"और फिर!"
"तुम सब भागना।"
हठात् लालटेन बुझ गई। धाँय-धाँय की आवाज आई।
गोलियाँ अंधकार में चलने लगीं।
गदल ने चिल्लाकर कहा – "सौगंध है, खाकर उठना।"
पर सबको जल्दी की फिकर थी।
बाहर धाँय-धाँय हो रही थी। कोई चिल्लाकर गिरा।
पाँत पीछे से निकलने लगी।
जब सब चले गए, गदल ऊपर चढ़ी। निहाल से कहा – "बेटा!"
उसके स्वर की अखंड ममता सुनकर निहाल के रोंगटे उस हलचल में भी खड़े हो गए। इससे पहले कि वह उत्तर दे, गदल ने कहा – "तुझे मेरी कोख की सौगंध है। नरायन को और बहू-बच्चों को लेकर निकल जो पीछे से।"
"और तू?"
"मेरी फिकर छोड़! मैं देख रही हूँ, तेरा काका मुझे बुला रहा है।"
निहाल ने बहस नहीं की। गदल ने एक बंदूकवाले से भरी बंदूक लेकर कहा – "चले जाओ सब, निकल जाओ।"
संतान के मोह से जकड़े हुए युवकों को विपत्ति ने अंधकार में विलीन कर दिया।
गदल ने घोड़ा दबाया| कोई चिल्लाकर गिरा। वह हँसी। विकराल हास्य उस अंधकार में गूँज उठा।
दरोगा ने सुना तो चौंका ः औरत! मरद कहाँ गए! उसके कुछ सिपाहियों ने पीछे से घेराव डाला और ऊपर चढ़ गए।
गोली चलाई। गदल के पेट में लगी।

युद्ध समाप्त हो गया था। गदल रक्त से भीगी हुई पड़ी थी। पुलिस के जवान इकट्ठे हो गए।
दरोगा ने पूछा – "यहाँ तो कोई नहीं?"
"हुजूर! – एक सिपाही ने कहा – "यह औरत है।"
दरोगा आगे बढ़ आया। उसने देखा और पूछा – "तू कौन है?"
गदल मुस्कराई और धीरे से कहा – "कारज हो गया, दरोगाजी! आतमा को सांति मिल गई।"
दरोगा ने झल्लाकर कहा – "पर तू है कौन?
गदल ने और भी क्षीण स्वर से कहा – "जो एक दिन अकेला न रह सका, उसी की.... ।"
और सिर लुढ़क गया। उसके होठों पर मुस्कराहट ऐसी दिखाई दे रही थी, जैसे अब पुराने अंधकार में जलाकर लाई हुई... . पहले की बुझी लालटेन

## 'चाल' रवींद्र कालिया

उस दिन शनिवार था और शनिवार को उस चाल के पिछवाडे मैदान में सूखी मछली का बाजार लगता था। इस मैदान की एक अपनी दुनिया थी। सोम से शुक्र तक इसका माहौल अत्यन्त डरावना रहता। रात को कहीं किसी पेड के नीचे मोमबत्ती या दिया टिमटिमाता और उस अंधेरी रोशनी में देर तक ताश और मटका चलता। भिखारियों, जुआरियों, लूलों—लंगडों का यह प्रिय विश्रामस्थल था। ड्रेंगो इस मैदान के 'दादा' का नाम था। वह गले में रूमाल बांधे अक्सर इस मैदान के आस—पास नजर आता। बिना ड्रेंगों को दक्षिणा दिये इस मैदान में प्रवेश पाना असम्भव था, मगर शुक्र की रात से ड्रेंगो की सल्तनत टूट जाती।

ड्रेंगों की एक प्रेमिका थी—मारिया। वह पास के ही एक सिनेमाहाल में ब्लैक में टिकटें बेचने का धंधा करती थी। शुक्र की रात ड्रेंगो उसके यहां चला जाता और उसके काम मे हाथ बंटाता। मैदान में उसकी दिलचस्पी खत्म हो जाती।

शाम को जब जमादार झाडू लगाता, तो बहुत विचित्र किस्म की चीजें कूड़े में मिलतीं। नौटांक की खाली बोतलें। चिपचिपे निरोध। ताश के पत्ते। मटके की पत्रिकाएं। सूखी हुई रोटियां। हड्डियां। सिनेमा की टिकटें। और कभी—कभी कोई लाश। दिन भर कौवों की कांव—कांव सुनाई देती और रात देर तक कुत्तों के रोनेकी आवाज।

शुक्र की रात यह मैदान रोशनी से जगमगाने लगता। उस बस्ती में टैक्सी मिलना दुश्वार हो जाता। मछुओ–मछुवारिनों का दल रात–भर में अपनी दुकानें बैठा लेता, सूखी हुई मछली के बडे–बडे अम्बार लग जाते और दूर–दूर तक बस्ती में मछली की गंध गमकने लगती। चाल के लोग बडी तत्परता से मैदान की और खुलने वाली खिडकियां बन्द करने लगते।

सुबह होते–होते अहाते के बाहर मछली बाजार के समानंतर एक और बाजार लग जाता, जिसमें आलू प्याज से लेकर 'हरचीज दस नये की' जैसी चीजें बिकने लगतीं। गुब्बारे, चाट, सिंदूर, पुराने कपडे, धोतियां, साडियां, पतलूनें, कमीजें, पुराने जूते, लाटरी, वेणी, पांच नये में भाग्य आजमाओं और दस नये में ताकत। शुद्ध शिलाजीत, भीमसेनी काजल। ताजा मुर्ग मुसल्लम। गर्म चाय। गर्ज यह कि धीरे–धीरे मछली बाजार मेले के रूप में बदलने लगता। सूखी मछली से लदे बीसियों ट्रक आते और मछली से लद कर बीसियों ट्रक लौट जाते। मछली बाजार से निकलते ही मछुवारिनें अपनी हफ्ते–भर की कमाई का कुछ हिस्सा वहां खर्च कर देतीं। शीघ्र ही यह दल वरसोवा की ओर लौटने लगता, पैदल, बसों में, टेक्सियों में और खाली ट्रकों में लद कर। बाजार के उठते ही धीरे-धीरे मैदान की ओर वाली चाल की खिडकियां खुलने लगतीं।

प्रकाश के कमरे में एक ही खिडकी थी और वह इसी मछली बाजार की तरफ खुलती थी। शायद खिडकी के लिए कमरे में दूसरी जगह थी भी नहीं। बीच में दीवार खींचकर रसोई और पाखाने का इन्तजाम कर दिया गया था। यही कारण था कि चाल में कमरों का भाड़ा और पगडी अपेक्षाकृत कम थी। चाल के मालिकान लोग अक्सर सरकारी कार्यालयों से आसपास मंडराते रहते थे। मछली बाजार इस मैदान से उठाने के लिए वे कोई भी रकम खर्च करने को तैयार थे। उन्हें मालूम था कि मछली बाजार के उठते ही उनकी आमदनी में आशातीत वृध्दि होगी। पुराने किरायेदार अधिक पगडी के लालच में कमरे छोडने लगेंगे और नये किरायेदारों से मनमाना किराया ऐंठा जा सकेगा। नगर निगम ने चाल के आसपास कच्ची सडकें बनावा दी थीं। थोडी ही दूर पर स्टेशन जाने के लिए बस मिलती थी। डाकखाना खुल गया था, बच्चों के लिए एक छोटा सा उद्यान बन चुका था। मकान मालिकान ने किसी तरह से बिजली का कनेक्शन ले लिया था अब अगर मछली बाजार भी उठ जाये।

यह चाल किरण के कालिज से बहुत दूर पडती थी, मगर किराये को देखते हुए इससे उपयुक्त स्थान उन्हें नहीं मिल सकता था। पांच सौ रुपये पगडी और पचास रुपये किराया। लैट्रिन बाथरूम अटैच्ड। शहर में रहते हुए गांव का मजा।

किरण सुबह जल्दी में रही होगी, वह खिडकी बन्द करना भूल गयी थी, और प्रकाश के लिए अब सूखी हुई मछली की गंध के बीच और अधिक लेटे रहना नामुमकिन हो गया था। वह हडबडा कर उठा और उसने खिडकी बन्द कर दी, मगर मछली की गंध तब तक सारे कमरे में रच-बस चुकी थी। आखिर उसने खिडकी खोल दी और दरवाजा भी और अपने को उस गंध के सुपुर्द कर दिया। प्रकाश ने देखा, किरण जाने से पूर्व उसके लिए नाश्ता और दोपहर का भोजन बनाकर जाली में रख गयी थी। अक्सर वह किरण के साथ ही नाश्ता किया करता था। मगर उस रोज वह देर तक सोता रहा था। सोता क्या रहा, लेटा रहा था। बिना हिले-डुले। किरण की ओर पीठ किये। वह नहीं चाहता था, किरण से उसकी आंखें मिलें। उसे लग रहा था, कल शाम उसकी मौत हो गयी थी और अब किरण के जाने के बाद ही उसका पुर्नजन्म होगा। वास्तव में वह रात-भर सोया नहीं था। रात-भर ठंडा खून खौलता रहा, जैसे खटिया के नीचे धू-धू आग जल रही हो। पड़े-पड़े ही वह कई बार गुणवंतराय की हत्या कर चुका था, मगर दूसरे ही क्षण वह गुणवन्त राय को ठहाके लगाते हुए और स्वयं को अशक्त पाता। जैसे उसके शरीर का सारा रक्त निचुड गया है, और वह किरण के साथ अपने ही खून के तालाब में गोते खा रहा है।

प्रकाश ने बर्तनों की खनक से पड़े-पड़े ही जान लिया था कि किरण जग गयी है। प्रकाश का खयाल था कि किरण आज कालिज नहीं जायेगी, कभी कालिज नहीं जायेगी और वह टैक्सी चालाना सीख लेगा। बंतासिंह दयालू आदमी है। उसे टैक्सी चालाना भी सिखा देगा और भाडे की टैक्सी भी दिलवा देगा। टैक्सी में ही वे अपने दोस्तों से मिलने जा सकते हैं। टैक्सी वह सबर्ब में ही चलायेगा। अंधेरी कुर्ला रोड पर टैक्सी मिलना कितना मुश्किल है। बंतसिंह से उसकी दोस्ती हो जायेगी। वह चाल में सबसे पहले उठता है। और देर तक टैक्सी पोंछते हुए 'धन्न बाबा नानक जेन्हें जग तारिया' गुनगुनाता रहता है। टैक्सी का लाइसेंस मिलने में दिक्कत हुई, तो वह अपने दोस्त की तरह 'टाइम लाइफ' की एजेंसी ले लेगा और दिन भर वार्षिक ग्राहक बनायेगा। जब बहुत से ग्राहकों का पैसा इकट्ठा हो जायेगा, तो वह चुपके से शहर छोड देगा। नहीं, वह ऐसा नहीं करेगा। सबका चंदा-ठीक-ठीक जमा कर देगा और तरक्की करता-करता एक दिन फोर्ट एरिया में अपना दफ्तर खोल लेगा-किरण एजेंसीज। फिलहाल वह टयूशनें भी कर सकता है। वह और किरण मिलकर किंडर गार्डन' खोल सकते हैं। इधर तो चाल के लोगों में भी अंग्रेजी स्कूलों का आकर्षण बढ रहा है। कुछ भी सम्भव न हुआ, तो वह दादर स्टेशन पर पेन बेचेगा। पढे लिखे बेकार लोगों की संख्या बढायेगा।

किरण ने यह सब सोचा था। वह रोज की तरह उठी और सुबह का काम निपटा कर एक सौ तेरह नम्बर की कतार में जुड गयी। प्रकाश आंखें बंद किये भी जान रहा था, कि किरण अब नाश्ता बना रही है। अब भोजन। अब नहा रही है, अब ब्लाउज और अपना एकमात्र पेटीकोट पहने दीवार पर टंगे आइने में देखते हुए बाल कर रही है। अब वह अपना पर्स ढूंढ रही है। पर्स कल उसने कुछ इस अन्दाज से किताबों के ऊपर फेंक दिया था, जैसे अब वह कभी उस पर्स को नहीं उठायेगी। अब वह भूल चूकी है। प्रकाश कहते-कहते रुक गया कि पर्स रैक के नीचे गिरा पडा है। मगर आवाज उसके हलक में ही चिपक कर रह गयी । पर्स धूल में लथपथ हो चुका होगा, किरण देखेगी तो भन्ना जायेगी। इससे अच्छा है, वह चुप रहे और उसके लौटने से पूर्व रैक के नीचे सफाई कर दे और झाड-पोंछकर पर्स ठिकाने पर रख दे। प्रकाश का खयाल था, कि आज कालिज जाने से पहले किरण उससे परामर्श कर लेगी, मगर उसे यह सब गवारा न हुआ। अगर उसके लिए इतनी ही साधारण घटना थी, तो कल इतने रोने-धोने की क्या जरूरत थी? प्रकाश को देखते ही क्यों फूट पडी थी। क्या वह उसके पुरुषत्व को चुनौती दे रही थी? अब वह गुणवन्तराय के सामने कैसे जायेगी?

'साला गुणवन्तराय!' प्रकाश बुदबुदाया, 'हरामजादा।'

किरण ने कल जब कालिज से लौट कर सारा किस्सा बताया था, तो प्रकाश को कुछ भी अप्रत्याशित नहीं लगा था। वह भीतर-ही -भीतर इस परिणति की प्रतीक्षा ही कर रहा था। कोई भी पुरुष इतना मूर्ख नहीं होगा कि अकारण ही इतनी

सुविधाएं देता रहे। उसकी गिद्ध दृष्टि निहित स्थानों में लगी रहती है। स्टाफ–सेक्रेटरी वह गुणवंत राय की कृपा से ही हुई थी। स्नातकोत्तर कक्षाएं भी उसी के प्रयत्न से मिली थीं। सीनियर ग्रेड के लिए उसी ने किरण का नाम आगे किया था, जबकि किरण से भी अधिक अनुभवी दूसरी प्राध्यापिकाएं अब भी छोटी कक्षाओं को व्याकरण पढाती थीं। साला कितने योजनबद्ध ढंग से काम करता है। क्रिमिनल!

'तुमने एक थप्पड क्यों नही धर दिया?' प्रकाश ने किरण से कहा था।

'मैं बेहद घबरा गयी थी। वह बहुत बेशर्मी से मुझे ताक रहा था। बोला, बेबी मुझे लगता है, तुम किसी साइको–सेक्सुअल उलझन में हो। तुम्हें मैन्सेस तो समय पर होते हैं?

'हरामजादा!'–प्रकाश ने कहा–'तुम्हें चप्पल से उसकी पिटाई करनी चाहिए थी।'

'मैंने उसकी तरफ देखा भी नहीं और दरवाजा खोलकर बाहर आ गई।'

'उसने दरवाजा बंद कर रखा था?'

'नहीं। वह दरवाजा खुलने पर अपने–आप बंद हो जाता है। कालिज में सभी दरवाजे ऐसे हैं।'

'तुमने हल्ला नहीं किया?'

'नहीं! मैं तुरन्त निर्णय नहीं कर पाई। मुझे अभी तक कंपकंपी आ रही है।'

'तुम्हें बाहर आते देख वह घबरा गया था खलनायक की तरह हंसने लगा?'

'मैं ने उसकी तरफ देखा भी नहीं। मुझे बुढऊ किस्म के आशिकों से वैसे ही नफरत है।'

'तुम मुझसे कुछ छिपा तो नहीं रही?'

'नहीं!'–किरण ने घूर कर प्रकाश की तरफ देखा।

'ऐसी जगह नौकरी करने से कहीं अच्छा है, मेरी तरह घर पर ही सड़ती रहो।' प्रकाश अपने को बेहद निस्सहाय, कमजोर और असंतुलित पा रहा था। किरण नल पर जाकर मुंह पर छींटे देने लगी।

'उस हरामखोर ने जरूर चुम्बन वगैरह ले लिया होगा, जो अब यह इतना परेशान हो रही है और बार–बार मुंह पर साबुन पोत रही है।' प्रकाश अनाप–शनाप बकता रहा–'मैं आज ही किरण के प्रिंसपल से मिलूंगा। प्रिंसिपल से क्या, सारी मैनेजिंग कमेटी से मिलूंगा। उल्लू के पट्ठे को इतना परेशान कर दूंगा कि आत्म–हत्या कर लेगा। मैं शिक्षामंत्री को पत्र दूंगा और उसकी प्रति लिपियां इन्दिरा गांधी, वी वी गिरि और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के पास भिजवा दूंगा। मैं उसको चौराहे पर अपमानित कर दूंगा। मुझे और काम ही क्या है? दिन–भर इसी में लगा रहूंगा और जब वह मेरे पांव पर लोटेगा, तो अपना पांव पटक दूंगा सारी आशिकी घरी रह जायेगी। उसकी पत्नी को बताऊंगा कि यह शख्स जिंदगी भर तुम्हें मूर्ख बनाता आया है, तुम इसके लिए करवा चौथ–जैसे ब्रत रखती हो और यह जानवरों से भी गया–बीता है। बीवी भडक गयी तो ठीक नहीं तो साले कि बिटिया का अपहरण करा दूंगा। ड्रेंगो दो सौ रुपये में यह काम करा देगा। वैसे यह नौबत नहीं आयेगी, साले की बिटिया जवान होने से पहले ही पीटर के साथ भाग जायेगी।

मैं इंजीनियर नहीं बन पाया, मगर सफल खलनायक जरूर बन सकता हूं। 'ब्लिट्ज' में एक टिप्पणी छप गयी, तो टापता रह जायेगा । सारे देश में आग की तरह यह खबर फैल जायेगी। कोई भी निर्माता इस 'थीम' पर फिल्म बना कर लाखों कमा लेगा। लाखों कमा लेगा, मगर 'थीम' का सत्यानाश कर देगा। हीरो को तुरत मुक्केबाजी के लिए पहुंच जाना चाहिए था, मगर वहां हीरो निहायत चूतिया है। फिल्म में तो हीरो अब तक वहां पहुंच चुका होता, जहां पन्ना का मुजरा देखते हुए गुणवंतराय नशे में धुत्त पडा होता। मेरे पास तो कार भी नहीं है कि मैं टेढी-मेढी सडकों पर तीन मिनट तक, उसका पीछा करता। फिल्म कैसी भी बने, सारा समाज गुणवंतराय पर थू-थू करेगा। मगर किरण का प्रिंसिपल निहायत चुगद किस्म का आदमी है। उसे तो इस बात को लेकर अब तक इसतीफा दे देना चाहिए था। मगर किरण का प्रिंसिपल इस्तीफा नहीं देगा। उसे किसी पागल कुत्ते ने काटा है कि वह इस्तीफा दे। वह जानता है कि उसने इस्तीफा दे दिया, तो गुणवंतराय तुरत प्रिसिंपल हो जायेगा। प्रिंसिपल टापता रह जायेगा और मैं भी।

दरअसल इस देश का लगातार पतन हो रहा है। जिस देश में एक इंजीनियर इस तरह खटिया पर पडा-पडा ही दिन बिता दे और नौकरी को तरसता रहे, उस देश का क्या होगा? समय आ गया है कि भगवान कृष्ण अब जन्म ले लें, नहीं तो यह अग्रवाल का बच्चा बनारसी साडियां बेच-बेच कर इमारत-पर-इमारत बनाता जायेगा। वह पैसा तो खूब कमा लेगा मगर जीवन भर महसूस नहीं करेगा कि उसकी बीवी 'भांग की पकौड़ी' पढ-पढकर समय काटती है। अग्रवाल का भाग्य अच्छा था कि वह सुन्दर न हुई। वह सुन्दर होती तो क्या होता? कुछ भी नहीं होता। अग्रवाल और अधिक मन लगा कर साडियां बेचने लगता।

प्रकाश ने सुबह से चाय भी नहीं पी थी। किरण अब तक दो पीरियड ले चुकी होगी। मालूम नहीं, गुणवंतराय से उसकी भेंट हुई या नहीं। हो सकता है मामला प्रिंसिपल या रजिस्ट्रार तक पहुंच गया हो। कुछ हो भी सकता है। प्रकाश ने देखा, किरण ने सुबह आलू उबालकर उनसे कई काम ले लिये थे। डबलरोटी में आलू, हरी मिर्च भर कर उसने नाश्ता तैयार कर दिया था और उबले आलू की तरकारी बना दी थी। अपने लिए, शायद वह आलू के परांठे बना कर ले गयी थी, क्योंकि आलू का एक परांठा प्रकाश के लिए भी रखा था। आलू के इतने उपयोग देखकर प्रकाश फिर भडक गया, मैं आलू से भी गया-बीता हूं। मेरा परांठा भी नहीं बन सकता। आलू एक मुफीद चीज है, इसे कहीं भी इस्तेमाल किया जा सकता है। अपने बाप की तरह किसी बैंक में आलू हो जाता तो रिटायर होत-होते किसी ब्रांच का मैनेजर जरूर हो जाता, मगर मेरा बाप मुझे इंजीनियर बनाना चहता था। बना दिया इंजीनियर? क्या फायदा हुआ रात देर तक ओवरटाइम करने का? लकवा मार गया और आंखें जाती रहीं। कोई भी मेरे बाप को देख कर कह सकता है कि यह शख्स 'ओवरटाइम' का मारा है। यह तो मैं काफी फुरसत में था कि किरण को फांस लिया। मेरा बाप तो मेरे लिए लड़की भी न ढूंढ पाता। बाप आखिर बाप है। बूढे बाप पर क्यों तैश दिखा रखा हूं?

मुझे नौकरी मिल जाये, मैं बाप के सब शिकवे दूर कर दूंगा। बांद्रा में दो बेडरूम-हाल ले लूंगा और अपने बाप के लिए एक नर्स नियुक्त कर दूंगा। किरण को बुरा लगेगा। उससे कहूंगा, वह भी अपनी मां को बुला ले। दोनों मिल कर पूजा-पाठ करते रहेंगे। बैंक के मैनेजर ने ऋण के सिलसिले में दुबारा मिलने को कहा था, उससे मिलूंगा। संसद-सदस्य चौधरी पिछले पंद्रह वर्षो से लोकसभा में बैठा है, मगर उसे खबर तक नहीं कि पंडित नन्दलाल अग्निहोत्री का होनहार बेटा, जिसे वह गोद में उठा लिया करता था, अंधेरी की एक चाल में बेकार पडा है। मैं चौधरी को एक मर्मभेदी पत्र लिखूंगा। उसे लिखूंगा कि वह इतने वर्षो से संसद में क्या कर रहा है? पिछले वर्ष मेरे बाप ने भी चौधरी के नाम एक पत्र लिखवाया था, जिसके उत्तर में चौघरी ने बहुत सा साहित्य भेजा था। आजादी से पहले भारत में सुइयां भी आयात की जाती थीं आज यहां हवाई जहाज बनते हैं। चौधरी ने बहुत सा रंगीन साहित्य भेजा था। उसके पत्र के साथ एक बहुरंगी फोल्डर भी था, 'आर यू प्लानिंग टु सेट आप ए स्मॉल स्केल इंडस्ट्री' फोल्डर की भाषा अत्यंत मुहावरेदार थी। दो रंगी छिपाई। मैपलिथो कागज। कागज के उस टुकडे ने मुझे कितना आंदोलित कर दिया था!'

प्रकाश को याद है, उसने कुछ ही दिनों में कई योजनाओं का प्रारूप तैयार कर लिया था। ड्राई सेल, बैटरी एलिमेनटर, इण्टर कम्युनिकेशन सेट, लाख रुपये तक का ऋण देने को तत्पर था। प्रकाश ने बीसियों बार वह फोल्डर पढा और अपने बाप को उसने एक बहुत ही भावुकतापूर्ण पत्र लिखा। उसने लिखा कि उनके आशीर्वाद से वह शीघ्र ही व्यस्थित हो

जायेगा। उसने इण्डस्ट्रियल इस्टेट में डेढ हजार वर्गफीट जगह भी सुरक्षित करा ली है। अगर परिस्थितियों ने साथ दिया, तो छह महीनों में उसकी फैक्ट्री चाले हो जायेगी। उसकी हार्दिक इच्छा है कि शुभ मुर्हूत पर वह अवश्य उपस्थित रहें।

जिस दिन प्रकाश बैंक के मैंनेजर से मिलने गया, किरण ने कालेज में अवकाश ले लिया था। प्रकाश बैंक में पहुंचा, तो बिजली नहीं थी। तमाम कर्मचारी अपनी-अपनी कुर्सी छोडकर हवा में टहल रहे थे।

'आपसे मिलने के पूर्व मैं कार्यालय से कुछ जानकारी ले लेना चाहता था, मगर दुर्भाग्य से आज बिजली नहीं।' प्रकाश ने मैंनेजर के सामने बैठते हुए कहा, 'मैंने इंजीनियरिंग की परीक्षा अच्छे अंक प्राप्त करके पास की है और 'आर' यू प्लानिंग टु सेट अप एक स्मॉल स्केल इण्डस्ट्री' पढ कर आप से मिलने आया हूं।'

'यह अच्छा ही हुआ कि बिजली नहीं है, वरना आपसे भेंट ही न हो पाती। आप मिश्रा से मिलते और मिश्रा आपको जानकारी की बजाय गाली दे देता। वह आने वाले से यही कहता है कि यह सब स्टंट है आप घर में बैठकर आराम कीजिए। कुछ होना-हवाना नहीं है।'

प्रकाश अपनी योजनाओं के बारे में बिस्तार से बात करना चाहता था, मगर उसने पाया कि बैंक का मैनेजर सहसा आध्यात्मिक विषयों में दिलचस्पी लेने लगा है। वह धूप में कहकहे लगा रहे बैंक के कर्मचारियों की ओर टकटकी लगा कर देख रहा था और जैसे दीवारों से बात कर रहा हो, 'तुम नौजवान आदमी हो, मेरी बात को समझ सकते हो। यहां तो दिन-भर अनपढ व्यापारी आते हैं, जिन्हें न स्वामी दयानन्द में दिलचस्पी है, न अपनी सांस्कृतिक विरासत में। वेद का अर्थ हे ज्ञान। ज्ञान से हमारा रिश्ता कितना सतही होता जा रहा है, इसका अनुमान आप स्वंय लगा सकते हैं। प्रकृति की बडी-बडी शक्तियों में आर्य लोग दैवी अभिव्यक्ति देखते थे। आज क्या हो रहा है, आप अपनी आंखों से देख रहे हैं। बिजली चली गई और इनसे काम नहीं होता। कोई इनसे काम करने को कहेगा, ये नारे लगाने लगेंगे। मैं इस से चुप रहता हूं। किसी से कुछ नहीं कहता। आप चले आये, बहुत अच्छा हुआ, नहीं तो मैं गुस्से में भुनभुनाता रहता और ये सब मुझे देख-देखकर मजा लेते। मैं पहले ही 'एक्सटेंशन' पर हूं। नहीं चाहता इस बुढापे में प्राविडेंट फंड और ग्रेच्युटी पर कोई आंच आये।

आपकी तरह मैं भी मजा ले रहा हूं। मैंने बिजली कम्पनी को भी फोन नहीं किया। वहां कोई फोन ही नहीं उठायेगा। इन सब बातों पर मैं ज्यादा सोचना ही नहीं चाहता। पहले ही मन्द रक्त चाप का मरीज हूं। दिल दगा दे गया, तो यहीं ढेर हो जाऊंगा। देवों का तर्पण तो दूर की बात है, यहां कोई पितरों का तर्पण भी नहीं करेगा। आप यह सब सोचकर उदास मत होइए। आप एक प्रतिभासम्पन्न नवयुवक है, तकनीकी आदमी हैं। बैंक से ऋण लकर अपना धंधा जमाना चाहते हैं। जरूर जमाइए। पुरुषार्थ में बडी शक्ति है। हमारा दुर्भाग्य यही है, हम पुरुषार्थहीन होते जा रहे हैं। आप हमारे बैंक का फोल्डर पढकर आये हैं, मेरा फर्ज है, मैं आपकी पूरी मदद करूं। ऋण के लिए एक फार्म है, जो आपको भरना पडेगा। इधर कई दिनों से वह फार्म स्टॉक में नहीं है। मैंने मुख्य कार्यालय को कई स्मरण-पत्र दिये हैं कि इस फार्म की बहुत मांग है। दो सौ फार्म तुरनत भेजे जायें। फार्म मेरे पास जरूर आये मगर वे नया एकाउण्ट खोलने के फार्म थे। आज की डाक से यह परिपत्र आया है। आप स्वयं ही पढकर देख लीजिए। मैं अपने ग्राहकों से कुछ नहीं छिपाता। मैं खुले पत्तों से ताश खेलने का आदी हूं। इस परिपत्र में लिखा है कि बैंकों के राष्ट्रीकरण के बाद पढे-लिखे तकनीकी लोगों को बैंक से अधिक-से-अधिक आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए।

आपका समय नष्ट न हो, इससे मेरी राय यही है कि आप कहीं से उस फार्म की प्रतिलिपि प्राप्त कर लें, उसकी छह प्रतिलिपियां टांकित करा लें, मुझसे जहां तक बन पडेगा, मैं आपके लिए पूरी कोशिश करूंगा। वैसे निजी तौर पर आपको बता दू, मेरे कोशिश करेने से कुछ होगा नहीं। मैं कब से कोशिश कर रहा हूं कि अस ब्रांच के एकाउण्टेट का तबादला हो जाये, मगर वह आज भी मेरे सर पर सवार है। सारे फसाद की जड़ भी वही है। गर्मी भी उसे ही सबसे ज्यादा लगती है। पुराना आदमी है, अफसरों से लेकर चपरासियों तक को पटाये रखता है, यही वजह है कि उस पर कोई अनुशासनात्म कार्य वाही नहीं की जा सकती। दो ही वर्षो में मैंने उसकी 'कन्फीडेंशल फाइल इतनी मोटी कर दी है कि अकेले उठती नहीं।

मगर आज कागजों का वह अर्थ नहीं रह गया, जो अंग्रेजों के जमाने में था। कागज का एक छोटा सा पुर्जा जिन्दगी का रुख ही बदल देता था। ऋण की ही बात ले लीजिए। यह सब 'पेपर एनकरेजमेंट' यानी कागजी प्रोत्साहन है। यही वजह है कि हिन्दुस्तान में कागज का अकाल पड गया है। राधे बाबू ने गेहूं या तेल से उतनी कमाई नहीं की, जितनी आज कागज से कर रहे हैं।'

इसी बीच बिजली आ गई। कमरे में उजाला हो गया और धीरे-धीरे पंखे गति पकडने लगे। प्रकाश के दम-मे-दम आया। अपनी योजनाओं के प्रारूप की जो फाइल प्रकाश अपने साथ इतने उत्साह से लाया था, मैनेजर ने पलट कर भी नहीं देखी थी। चपरासी ने बहीखातों का एक अम्बार मैनेजर के सामने पटक दिया। एक ड्राफ्ट उडकर प्रकाश के पांव पर गिरा। प्रकाश ने वहीं पडा रहने दिया। मैंनेजर ने चिह्नित पृष्ठों पर मशीन की तरह कलम चलानी शुरू कर दी।

प्रकाश उठा और मैंनेजर के कमरे से बाहर आ गया, जैसे एक दुनिया से दूसरी दुनिया में आ गया हो। उसके सामने कारों, बसों, दुमंजिला बसों और टैक्सियों का हजूम था। लोगों की लम्बी कतारे बसों की प्रतीक्षा में खडी थीं। सडक के दोनों ओर ऊंची-ऊचीं इमारतें। प्रकाश को लगा वह किसी भी स्तर पर इस दुनिया से तादाम्य स्थापित नहीं कर पा रहा है। वह न तो बस की कतार में शामिल हुआ और ना ही स्टेशन का पुल पार करने स्टेशन की ओर बढा। आगे रेल की लाइन के नीचे से एक रास्ता पूरब की ओर जाता था, वह उसी पर बढ गया । किरण घर में उसका इन्तजार कर रही होगी, मगर उसे घर जाने की जल्दी नहीं थी। किरण सारा किस्सा सुनकर अवश्य गुमसुम हो जायेगी।

वह लुढ़कता-लुढ़कता घर पहुंचा, तो मालूम हुआ किरण कालिज चली गई है। वह एक पत्र छोउ गयी थी कि आज उसके केवल दो पीरियड हैं, छुट्टी उसी दिन लेगी, जिस दिन उसके चार पीरियड होंगे। प्रकाश ने राहत की सांस ली और खटिया पर कटे पेड की तरह गिर पडा और घंटों यों ही अकर्मण्य-सा लेटा रहा। किरण के लौटने का समय हो रहा था, मगर उसने उठकर चाय का पानी भी नहीं चढया।

'वह अब शायद रोज मुझे से चाय की अपेक्षा रखने लगी है'-प्रकाश ने कहा-'ठीक ही तो है, दिन-भर की थकी लौटगी। कम-से-कम चाय का एक गर्म प्याला तो उसे मिलना ही चाहिए। लेकिन आज मैं चाय नही बनाऊंगा, यों ही लेटा रहूंगा। डाक भी खोल कर नहीं देखूंगा, सब में एक ही शब्द होगा: रिसैशन। जब तक रिसैशन दूर नहीं होगाा, मैं किरण के लिए चाय बनाता रहूंगा, रिसैशन खत्म न हुआ तो खाना भी बनाने लगूंगा।

चाल में किसी का पंखा खराब हो जाये, इस्त्री काम न करे, रेडियो एक साथ दो-दो स्टेशन पकडने लगे या फ्यूज उड जाये, सब मेरे पास ही आते हैं। अब कह दिया करूंगा, आटा गूंथ लूं और चपाती सेंक लूं, फिर आता हूं।

मछली बाजार का शोर मन्द पडने लगा था। मैदान वीरान हो रहा था। प्रकाश उठा और उसने किसी तरह से नाश्ता लिया। वह देर तक बिना किसी उत्साह और दिलचस्पी के अखबार पढता रहा। कोई भी खबर उसे कहीं भी नहीं छू रही थी। हवाई दुर्घटना में एक सौ व्यक्ति मारे गये, निक्सन ने चीन का निमंत्रण स्वीकार कर लिया। अगला बच्चा अभी नहीं, दो के बाद कभी नहीं। घर में बच्चा होता, तो प्रकाश कितनी आसानी से उसे पाल लेता। मगर वह खाता क्या? ईश्वर सबका इन्तजाम करके धरती पर भेजता है। मगर लिडियाल जिन्दाबाद! किरण भुलक्कड है, मगर 'लिंडियाल' लेना नहीं भूलती। भूल गयी तो कन्फरमेशन खटाई में पड जायेगाा, मिसेज बोस के साथ यही हुआ था कच्ची नौकरी में ही बच्चे ने धर दबाया और अंधेरी से कांदविली पहुंच गयी।

हल्के से दरवाजा खुला और बाई प्रकाश के पास से गुजर गई। बाई जवान है और घर में एकान्त है, प्रकाश फिर भी जड बैठा रहा।

'बाई!'-प्रकाश ने जोर से आवाज दी।

'क्या है?'–बाई ने झांक कर उसकी तरफ देखा।

'और मैं तुम्हें पकड लूं और तुम्हारा भरता बना दूं, तो तुम क्या कर लोगी?'

'यही सब करना होता, तो मैं बर्तन ही क्यों मलती।' बाई ने कहा, 'पांच नम्बर का मारवाडी बाबू जानबूझ कर टकरा गया था, मैंने तभी काम छोड दिया।'

'मारवाडी बाबू की तो चाल में बहुत इज्जत है।'

'होगी !'–बाई ने कहा, 'मगर मुझसे आंख मिलाने को कहो।'

'तुम्हारा आदमी क्या करता है?'

'मजूरी, और क्या करेगा?'

'कहां?'

'फैक्टरी में, और कहां?'

'कौन–सी फैक्टरी में?'

'वह सामने वाली फैक्टरी में, जहां कांच के गिलास बनते हैं।' बाई ने कहा, 'मगर अब कई दिनों से वह बैठ गया है। कहीं भी जम कर काम नहीं करता। उसे कहीं कोई काम दिलवा दो, तो मेरी छुट्टी हो।'

प्रकाश को हंसी आ गई। अकेलापन कितना काटता है। बाई से बात करना बहुत आच्छा लग रहा था। उसकी इच्छा हुई, बाई को गोद में उठाकर झूम जाये। वह सुबह से कितना मनहूस बैठा था। अभी वह अपने आदमी को फैक्टरी का पता बता रही थी, अभी कह रही है, बेकार है।

'तुम्हारे कितने बच्चे हैं?'

'दो।'–बाई ने कहा, 'तीसरा पेट में है। इसके बाद बस।'

'कौन–सा महीना है?'

'कार्तिक में होगा।'–बाई ने कहा, 'बाबू तुम्हारे यहां भी तो होना चाहिए। दो तो सरकार भी कहती है।'

'तुम ठीक कहती हो।'

'साठे को क्यों नहीं दिखाते। सब उसी का इलाज कराते हैं।' बाई ने कहा, 'रोज पर एक फकीर बैठता है, उसका ताबीज भी काम करता है।'

'अच्छा!'

'बबलू की मां कहती थी, बहू कोई गोलियां खाती है।'

प्रकाश ने बाई की तरफ देखा, उसके ब्लाउज का बीच का बटन खुला था। और वह पैर के अंगूठे से जमीन कुरेदने की कोशिश कर रही थी।

'साली मुझे अकेला पा कर फांस रही है।' प्रकाश ने मन-ही-मन कहा और अखबार में मशगूल हो गया।

बाई तुरंत वहां से हट गई अन्दर जाकर बर्तन मलने लगी। कमरे में पोछा लगा दिया, कपडे धोकर कमरे में ऊंची टंगी तारों पर बांस से फैला दिये। प्रकाश कौतुक से उसे देखता रहा। अपना काम निपटा कर वह दरवाजे के पास जाकर खडी हो गई।

'आज बाजार है, दो रुपये चाहिएं।'

'बहू से लेना।' प्रकाश ने कहा। उसे वाकई मालूम नही था कि घर में रुपये हैं या नहीं हैं।, हैं तो कहां हैं। किरण रुपये कुछ इस ढंग से निकालती है कि पास खडा आदमी भी नहीं जान सकता, अभी-अभी उसके हाथ कहां गये थे।

बाई के जाते ही कमरा भायं-भायं करने लगा। प्रकाश कुर्सी से उठा और मछली बाजार की तरफ खुलने वाली खिड़की के पास जा खडा हुआ। चाल की स्त्रियां आलू-प्याज से भरे थैले ले-ले कर लौट रही थीं। मगर बीच में नाला पडता था। स्त्रियां आलू-प्याज और बच्चे के साथ आसानी से नाला फांद जातीं। खिडकी के सामने फैक्टरियों की चिमनियां धुआं उगल रही थीं।

'बाजार में अगर मंदी है तो यह फैक्टरियों धुआं क्यों उगल रही हैं, गाडियों में इतनी भीड क्यों है? गगनचुम्बी इमारतें कौन बना रहा है? जबकि देश की उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने वाले युवक के पास ईट खरीदने के लिए पैसा नहीं है, काम करने के लिए जगह नहीं है। मैं दो बम बनाऊंगा, एक गुणवंतराम की खोपडी पर और दूसरा बैंक की भव्य इमारत पर दे मारूंगा।' प्रकाश बुदबुदाया-'शट-अप प्लीज! तुम कुछ नहीं करोगे। बीवी की डांट खाओगे और अजगर की तरह पडे रहोगे। एक दिन यो ही पड़े-पड़े तुम्हारे बाल सफेद हो जायेंगे और तुम बिना औलाद के मर जाओगे। दादर स्टेशन पर जाकर कुलीगिरी क्यों नहीं करते? अभी-अभी किसके सामने शेखी बघार रहे थे? बोलो! बोलो!'

प्रकाश उठकर बालकनी में आ गया। चाल की यह संयुक्त बालकनी है। बाहर केवल औरतें और बच्चे ही नजर आ रहे थे। इस समय शायद वह चाल में अकेला पुरुष था। नहीं, अकेला नहीं। एक और माई का लाल इसी चाल में रहता है। पाल प्रशांत। प्रशांत महासागर की औलाद!

प्रकाश ने ऊपर से पाल के कमरे की ओर निगाह फेरी। पाल हास्बेमामूल टाइपराइटर से भिड़ा हुआ था। टाइपराइटर बिगड़ जाये, तो पाल मैकेनिक की तलाश नहीं करता। दहेज में मिला उषा सिलाई का पेचकस निकाल कर खुद ही ठीक-ठाक कर लेता है। प्रकाश ने यह महसूस किय पाल के अलावा चाल सो रही थी। चाल की स्त्रियां खाने वाने से निपट कर बालकनी में जगह-जगह सुस्ता रही थीं। दरअसल यह समय सबके लिए फुरसत का समय है। बडी-बूढी औरतें खांसते हुए बच्चों को टांगों पर बैठा कर चंदामामा की सैर कराते हुए, बहू के सिर से जुएं निकाल कर अथवा खाट पीट कर पिस्सू निकालते हुए अपना समय बिताया करती हैं। जिन स्त्रियों को अपने मैके से आई चिट्ठी पढ़वानी या कुछ भेद-भरी बात मां को लिखवानी होती है, वे प्रकाश के कमरे के आस-पास मंडराया करती हैं। पहले पाल कभी यह काम बखूबी कर दिया करता था, मगर इधर वह इस काम की भी फीस मांगने लगा है। यही कारण है कि प्रकाश की लोकप्रियता लगातार प्रगति की मंजिलें तय करती जा रही हैं। प्रकाश चुपचाप पत्र वगैरह लिख देता है और उसके पत्र लिखते ही चाल में कृष्णा की ढुढवाई मचती है। चाल के बच्चे उसे कहीं-न-कहीं से ढूंढ निकालते हैं। कृष्णा आंखें नचाता, कमर मटकाता कहीं से प्रकट हो जाता।

कृष्णा हिजडे का नाम है, जो चाल में सीढियों के नीचे एक छोटी सी कोठरी में रहता है। शाम घिरते–घिरते उसकी व्यस्तताएं नये रूप में प्रकट होने लगती हैं। श्रृंगार करके निकलता, उसे पहचाना मुश्किल हो जाता है। बालों में वेणी, होठों पर लिपस्टिक, साडी में लिपटी स्लीवलेस बांहें, कांता सेंट की महक और पीछे–पीछे बच्चो की लम्बी कतार। बच्चे दूर तक उसके पीछे जाते हैं। रास्ते में मौका मिल जाये और दो–एक शरीर बच्चे साथ हों, तो उसके चीरहरण के प्रयास शुरू हो जाते हैं।

बच्चों का विश्वास है कि कृष्णा, हिजडा नहीं, भला–चंगा आदमी है। वे यह भी जानते हैं कि कृष्णा ने इस समय जो ब्लाउज पहना हुआ है, वह उसे पप्पू की मां ने दिया था। साडी देवकी ने दी थी। लिपस्टिक अग्रवाल की पत्नी की है। पाउडर उसे चौपडा साहब के यहां से मिलता है।

कृष्णा के पीछे भागते बच्चे पार्क के पास पहुंचकर, सहसा ठिठक जाते हैं। वहां कृष्णा के आशिकों का एक नया दल उसकी प्रतीक्षा में बीडी–पर–बीडी फूंकता नजर आता है। शाम की पाली से छूटे आशिकों का दल मुंह से तरह तरह की सीटियां बजाता। पहले यह दल चाल तक भी हो लेता था, मगर एक दिन कपूर साहब ने अपनी बीवी और दोनों बेटियों को इस तरह से एक दृश्य का मजा लेते देख लिया। कपूर साहब गुस्से में पैर पटकने लगे और बीवी के रोकते–रोकते संतरी को पांच रुपये थमा कर अपने साथ लेते आये। संतरी ने मजदूरों को देखते ही गाली बकना शुरू कर दिया। दो–तीन दिन तक संतरी ने ऐसा समां बांधा कि उन लोगों ने चाल तक आना छोड दिया। अब पार्क उनकी सीमा–रेखा थी।

कपूर साहब को शांति मिल गई थी। उनकी दानों जवान बेटियां अब पाली छूटने का भोंपू सुनते ही कपाट बन्द कर लेतीं। छोटा भाई मटकू किराये की किताबों की दूकान से गुलशन नंदा का कोई उपन्यास ला देता। चाल से जरा ही दूर सडक पर किराये की किताबों की दूकान थी। जहां आलू–प्याज मटके की पत्रिकाएं और सिगरेट–बीडी एक साथ बिकते थे। चाल में किताबें लाने, ले जाने का काम कृष्णा ही करता था, मगर कपूर–परिवार चूंकि कृष्णा से खफा था, इसलिए यह काम मोटू को ही करना पडता था।

कृष्णा के आशिक कृष्णा को देखते ही उसे कंधों पर उठाकर भाग जाते। चाल के बच्चे हो–हो करते उनके पीछे–दौडते मगर मछली बाजार के आगे कोई नहीं जाता।

कृष्णा रात देर से लौटता। अक्सर एक ही पिक्चर उसे रोज देखनी पडती। सुबह होने से पहले वह उठकर नहा लेता और बंतासिंह की टैक्सी धुलाते हुए नजर आता। कहते हैं, चाल में किसी ने  उसे सोते नहीं देखा था। सुबह जब चाल के पुरुष काम–धंधे के लिए निकल जाते, तो चाल पर कृष्णा का साम्राज्य हो जाता। औरतों के पास आंख लडाने के लिए यह हिजडा ही रह जाता। सिन्हा की बीवी सिन्हा सहब और बच्चों का खाने का डिब्बा भिजवाते ही खटिया बाहर निकलवा लेती और घण्टों कृष्णा से टांगें दबवाती।

पाल की पत्नी चाल में किसी से बात नहीं करती थी। पाल से भी नहीं। मगर कृष्णा से उसकी पटती थी। अक्सर वह टैक्सी में लौटती और कृष्णा से पैसे लेकर भाडा चुकाती। वह ड्राइवर से दो–तीन बार हार्न बजाने को कहती, कृष्णा कच्चे धाके से बंधा चला आता। पाल या उसके बच्चों पर हार्न की इस आवाज को कोई असर नहीं पडता। पाल बदस्तूर टाइप करता रहता। चाल की भावुक स्त्रियां दिन–भर यतीम की तरह घूमते पाल के बच्चों को देखकर कई बार रो पडतीं। शुरू में कई  बार दया–भाव से प्रेरित होकर स्त्रियां बचा–खुचा भोजन पाल के बच्चों के लिए भिजवा देती थीं, मगर एक दिन पाल को कहीं से तीन सौ का चैक मिल गया। वह चाल में शेर की तरह दहाडने लगा कि उसके बच्चों की तरफ किसी ने टुकडा फेंका, तो वह उसे कभी माफ नहीं करेगा। उसके पास खाने को नहीं होगा, तो वह बच्चों–समेत आत्महत्या कर लेगा, मगर भिखमंगों की तरह नहीं जिएगा। ऐसी हालत में पाल की बीवी का टैक्सी में आना–जाना चाल की स्त्रियों को बडा रहस्यमय लगता। वे आपस में फुसफसातीं, 'इस छिनाल के कई यार हैं। जाड़िया की रखैल है। वही नित नयी–नयी साड़ियां देता होगा। कैसे सती सावित्री की तरह जमी की तरफ देखते हुए चलती है।'

स्त्रियों का खयाल था कि  कृष्णा पाल की पत्नी के बारे में बहुत-कुछ जानता था। कई बार वह उसे अज्ञात जगहों पर दौड़ाया करती। वह घण्टों गायब रहता और गृहणियां पाल की पत्नी की गाली देतीं। कृष्णा लौटता, तो कुछ भी न बताता। स्त्रियों की कोशिश रहती कि किसी प्रकार कृष्णा को फुसलाकर उस छिनाल के बारे में जानकारी हासिल करें, मगर कृष्णा इतना ही कहता, 'उसके दिन फिरने दीजिए बहन जी!' सिन्हा की पत्नी कृष्णा से टांग दबवाते हुए उसकी बात छेडती,  तो कृष्णा छिटक कर अलग हो जाता, 'बहन जी हमसे अंट-संट की बात न किया करो कृष्णा के इस रवैये का परिणाम यह निकाला कि वह सब किसी का विश्वास प्राप्त करने लगा। स्त्रियां उसके प्रति इतनी निश्चिन्त हो गयीं कि उसके सामने ब्लाउज अथवा पेटीकोट बदलने में भी उन्हें संकोच न होता, साडी की बात तो दर किनार।

फिल्मी दुनिया की चकाचौंध पाल को बम्बई खींच लाई थी। वर्षों के संघर्ष के  बाद पाल को एक फिल्म के निर्देशन का काम मिला था, मगर निर्माता कहीं भाग गया। निर्माता की तलाश में वह पागलों को तरह भटकता रहा, मगर किसी मनचले ने उद्योग में यह भ्रम फैला दिया कि जो भी निर्माता पाल से फिल्म करवायेगा, इस दुनिया से जरीवाला की तरह कूच कर जायेगा। आखिर थक-हार कर पाल ने 'मीत' फिल्म की कुछ तस्वीरें फ्रेम करवा के अपने कमरे में टांग लीं और रोजी-रोटी के लिए दूसरे दरवाजे खटखटाने लगा। 'मीत' की तस्वीरें आज भी पाल के कमरे में लटक रही हैं। घर में गन्दगी रहे, पाल सुबह उठकर उन तस्वीरों का अवश्य झाड देता है। इस सैट के लिए उसने मद्रास के कारीगर मंगवाया था, मुधुवाला की यह मुस्कराहट 'मीत' के बाद किसी फिल्म में न आ पाई, हैलेन का यह कैबरे आज भी कोई न दे सका। पाल तस्वीरें झाडते जाता और उदास होता जाता। दुनिया ने उसकी कला की कद्र नहीं की। पाल को आज भी कभी कभी उम्मीद होने लगती कि कोई न कोई माई का लाल उसके पास जरूर आयेगा और फिल्म पूरी करने को कहेगा। सत्यजित रे उसके सामने परनी भरेगा। हृषिकेश मुखर्जी  बम्बई छोड देगा। उन दिनों बांठिया उसके पीछे-पीछे घूमता था, जरीवाला के चक्कर में न आकर बांठिया से अनुबंध कर लिया होता तो, आज नक्शे दूसरे होते। पाली हिल पर फ्लैट होता, यही हरामजादी मिसेज पाल दुम हिलाते हुए चापलूसी करती। आज उसे गरीबी से नफरत हो गयी है, मुझसे विरक्ति और बच्चों से एलर्जी।

दरअसल अपनी सफलता की प्रत्याशा में पाल ने बहुत असावधानी और निश्चिन्तता में एक के-बाद दीगरे चार बच्चे पैदा कर लिए थे, जो क्रमश: पब्लिक स्कूलों से म्युनिसिपैलिटी की पाठशालाओं में पहुंचते गये। उन दिनों वह माहिम में रहता था। रात देर को लौटता और अपनी पत्नी के आगोश में डबल बेड पर धंस जाता। फिर उसे सुबह ही होश आता था। अपने सुनहरे दिनों में पाल ने पत्नी को ढेरों कपडे दिये थे, और बहुत से गहने। पाल की पत्नी मूर्ख नहीं थी। उसने ये सब चीजें कुछ ऐसे संभाल कर रखीं कि आज भी जब वह चाल से निकलती है, तो किसी फिल्म निर्देशक की पत्नी से कम नहीं दिखती। कडके के दिनों में पाल नाक रगड कर रह गया कि जेवर बेचकर कोई धंधा जमा ले, मगर पाल की बीवी ने अंगूठी तक नहीं दी। उसने अपने को दुर्घटनाओं से कुछ इस तरह बचाकर रखा कि बडे से बडा स्त्री-विशेषज्ञ भी नहीं कह सकता कि यह चार बच्चों की माता है। वह सुबह दस-ग्यारह बजे बन संवर कर घर से निकल जाती और शाम को तब तक न लौटती जब तक पाल शाम का भोजन वगैरह पका कर बच्चों को खिला और सुला न देता। पाल चूंकि पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर का पुराना स्नातक था, धाराप्रवाह अंग्रेजी और उर्दू बोल सकता था, उसे फिल्मों में दूसरी तरह का काम मिलने लगा। बहुत से नायक निर्माता अपनी फिल्म के लिए पाल से पटकथा और संवाद लिखा लेते और नाम अपनी पत्नी का दे देते। उसकी लिखी कुछ फिल्में सफल भी हुई, मगर इससे पाल को कोई लाभ नहीं हुआ। धीरे-धीरे पटकथा और संवादों के अंग्रेजी अनुवाद करने का काम मिलने लगा। यह काम उसे पसन्द आया। इसमें ज्यादा खुशामद भी दरकार न थी। पूरी फिल्म का अनुवाद वह पचास-सौ रुपये में कर देता, इसलिए उसके पास काम की कमी भी नहीं थी। जबकि चाल के लोगों का खयाल था, कि यह काम भी उसकी बीवी ही लाती थी।

पाल को तीन चीजें जिन्दा रखे थीं। उसके पास अगर टेलीफोन, टाइपराइटर और खूबसूरत बीवी न होती, तो वह भूखों मर जाता। चालभर में फोन पाल के ही पास था, इसलिए फोन से भी उसे अच्छी-खासी आमदनी हो जाती है। शुरू में चाल के बहुत से मनचले तो फोन के बहाने, उसकी बीवी से आंख लडाने चले आते थे। बीवी पलट कर भी न देखती कि कौन आया है। वह अधलेटे उपन्यास पढती या शून्य में ताकती। अब केवल जरूरत-मन्द लोग ही फोन करने आते।

बहुत से लागों ने अपना सिक्का जमाने के लिए अपने विजिटिंग कार्ड पर पाल का फोन नम्बर दे रखा था, जिससे रह-रह कर फोन की घण्टी टनटनाने लगती।

गर्ग के फोन सबसे अधिक आते। गर्ग ताजमहल होटल में होजरी की एक दूकान में मुनीम था। मालिक लोग लुधियाना में थे, लिहाजा उसे ऊपर की आमदनी भी हो जाती थी। वह अपनी बीवी से बेतरह डरता था। उसने बंगालिन से शादी की थी और इस शादी में उसने तन-मन-धन सब खो दिया था। वह दरअसल प्यार का मारा हुआ आदमी था। बंगालिन से प्यार का एक छींटा मिलते ही वह उस पर फिदा हो गया और बाप के मरते ही अपनी सारी जायदाद बंगालिन के नाम कर दी और खुद हौजरी की दुकान में मुनीम हो गया। उसके चेहरे पर, होठों पर सफेद कोढ था। औरत को पाकर उसका जीवन सार्थक हो गया, मगर जल्दी ही वह मनस्चिकित्सकों से परामर्श लेने लगा कि उसकी पत्नी होंठ पर चुक्बन नहीं देती, संभोग से उसे वितृष्णा है, गर्ग अगर प्यार के अतिरेक में बच्चे को चूम लेता तो बंगालिन कई हफ्तों के लिए विनोबा भावे की तरह मौन व्रत धारण कर लेती। हस्पतालों के चक्कर लगाकर वह थक गया तो चाल के एक सफल डॉक्टर से परामर्श लेने लगा। डॉ बापट नया-नया डॉक्टर हुआ थाा, और धंधे की अपेक्षाओं से अपरिचित था। नतीजा यह हुआ कि शीघ्र ही गर्ग की ये बातें चाल में फैल गयीं। मेढेकर नाम के लाइनो-ऑपरेटर से डॉक्टर की मित्रता थी, जो गर्ग के बगल वाले कमरे में रहता था। इन अफवाहों का असर यह हुआ कि एक दिन गर्ग को सपना आया कि उसकी पत्नी डॉक्टर बापट के प्रेमपाश में फंस गई है। गर्ग बेचैन हो गया। उसने सपने को सच मान लिया और उदास रहने लगा। दूकान से असमय उठ आता और 'चेकिंग' करके लौट जाता। पाल को गर्ग जैसे वहमी किस्म के ग्राहकों से बहुत असुविधा होती थी। गर्ग का फोन आता, तो उसकी बीवी कहलवा देती, टिंकू को दस्त आ रहे हैं, उनसे कहो फोन न करें। पाल इस बात से चिढ जाता। उसे तब तक चवन्नाी नहीं मिलती थी, जबतक बात न हो जाये। गर्ग बात भी क्या करता था, चिल्लाता था,'बच्चे की 'फीड' में पांच बूंद 'पिपटाल' जरूर मिला देना, फिर भी पेट ठीक न हो, तो 'केल्टिन-सस्पेंशन' दे देना। जरूरत पडे, तो मुझे बुलवा लेना, मैं बापट से सलाह कर लूंगा।'

गर्ग साहब, तीन मिनट हो गये। अब दुगना पैसा देना होगा!' पाल कहता। वैसे ग्राहक से ज्यादा बात करना पाल के स्वभाव में नहीं है। पैसे उगाहने का काम प्राय: उसकी बेटी ही करती है। सब से छोटी बेटी रेणु। रेणु अब स्कूल नहीं जाती। सुबह नहाकर खुद ही धोया हुआ फ्राक पहन लेती है और फोन के निकट रखे स्टूल पर ऊंघने लगती है। एक दिन गर्ग का फोन आया, तो रेणु ने फटाक से कह दिया कि वह बंगालिन को नहीं बुलायेगी। वह खाली पीली बोम मारती हैं और चवन्नाी भी नहीं देती। पाल ने चौंक के बिटिया की ओर बडे स्नेह से देखा। कितना अच्छा है! उसकी बेटी अब बात-बात पर परेशान नहीं करती और स्वयं  ही निर्णय ले लेती है।

गर्ग ने कहा कि उसकी बीवी अगर फोन नही भी सुनती वह चवन्नाी देगा। तब से रेणु बैठे-बैठे चवन्नाियां कमाने लगी। गर्ग का फोन आता दे, तो वह 'होल्ड ऑन' कहकर कमरे में नाचने लगती है और थोडी देर बाद आवाज में खीझ भर कर कहती है, बंगालिन दरवाजा भी नहीं खोलती।

एक दिन गर्ग से बीवी की यह उदासीनता बर्दाश्त न हुई और वह तीखी दोपहर में घर चला आया। यह संयोग ही था कि बंगालिन सोयी हुई थी, गर्ग के लाख खटखटाने पर भी उसने दरवाजा न खोला। गर्ग को विश्वास हो गया था, जब उसकी पत्नी दरवाजा नहीं खोलती, तब अवश्य डाक्टर बापट उससे रंगरलियां मनाता होगा।

पाल अपनी बेटी की इन शरारतों पर ध्यान न देता। यह लडकी दिन भर में पांच रुपये की रेजगारी जमा कर लेती थी। आने वाली 'कालों' में कुछ खर्च भी नहीं होता था। इस लिहाज से रेणु दिन-भर में ढाई-तीन रुपये तो कमा ही लेती थी। पाल के लिए यह पर्याप्त था। लडकी अपना काम दिलचस्पी और जिम्मेदारी से कर रही थी। जिस किसी का भी फोन आता, रेणु घोडे की चाल से भागती और उस व्यक्ति को ढूंढ निकालती। ग्राहक के रिसीवर रखते ही वह चवन्नाी वसूल लेती। उसके आगे किसी का बहाना न चलता। रेजगारी न होती तो वह हांफते हुए डाकखाने तक जाती और रेजगारी ले आती। डाकखाने के बाबू लोग उसे पहचानने लगे थे।

प्रकाश को रेणु ने खुली छूट दे रखी थी।, कि वह भी अपने विजिटिंग कार्ड पर उसका फोन नम्बर दे दे, मगर प्रकाश कहीं 'विजिट ही नहीं करता था। रेणु को प्रकाश पर दया आ गयी। उसने कहा, प्रकाश का फोन आयेगा तो वह उससे बुलाने के पैसे नहीं लेगी। मगर प्रकाश को पाल की ही तरह किसी के फोन का इन्तजार नहीं था। प्रकाश के कमरे में पाल के फोन की टनटनाहट स्पष्ट सुनाई देती थी। प्रकाश को कभी नहीं लगा कि टनटनाहट उसके लिए हो सकती है। पाल पर भी इस घंटी का कोई असर नहीं होता। रेणु आस-पास न हो, तो वह रिसीवर भी नहीं उठाता।

दिन में पाल जितना ही शांत नजर आता, पी के लौटने पर उतना ही अशांत और खूंखार हो जाता। घर की चीजें इधर-उधर पटकने लगता। एक बार तो उसने खाट के नीचे पडे पत्नी के ट्रंक पर इतने जोर से ठोकर मारी कि उसके पांव के अंगूठे का नाखून छिल गया। कई बार वह भोजन की थाली बाहर मैदान में पटक देता, फिर थोडी देर बाद स्वयं ही उठा लाता। उसकी पत्नी की आवाज बहुत कम लोगों को सुनाई देती, मगर वह सुई की तरह कोई-न-कोई बात अवश्य चुभो देती होगी कि पाल आपे से बाहर हो जाता।

शुरू-शुरू में पाल के पास 'मीत' फिल्म का एक रिकार्ड था, और ग्रामोफोन। गाना सुनते ही उस पर ऐसा पागलपन सवार हो जाता, वह कमरे में तेज तेज चलने लगता और कई बार अपने कपडे फाडने लगता। आखिर जब पाल ने महसूस किया कि इस गीत के चक्कर में उसके बहुत से कपडे तार-तार हो चुक हैं, वह चुपके से 'मीत' का एक मात्र रिकार्ड नाले में फेंक आया और देर तक गुमसुम बैठा रहा। ज्यों ही पाल की पत्नी कपडे बदलकर कमरे में आती, पाल बुडबुडाने लगता। धीरे-धीरे उसकी आवाज तेज होने लगती। बच्चे कमरा छोडकर भाग जाते और दालान में गर्ग के घर की रोशनी में 'लूडे' खेलने लगते या मां और बाप के साथ-साथ रोने-लगते। झगडे के दौरान पाल को अपना कमरा छोटा लगता। अक्सर वह कमरे से बाहर निकल आता और तमतमाता हुआ इधर-उधर से घूमने लगता। बच्चों पर नजर पड जाती, तो एक ही ठोकर से 'लूडो' पलट देता। कुछ लोगों का खयाल था, कि पाल की बीवी बारह नम्बर के संतोष से फंसी है।

संतोष चाल का एक मात्र कुंआरा था। वह स्वास्तिक में फोरमैन था। हमेशा चुस्त दुरुस्त दिखायी देता। चाल में बारह-चौदह वर्ष के बच्चो से उसकी खूब दोस्ती थी। उसे दफ्तर में देर हो जाती तो बच्चे बेचैन होने लगते। जब तक सन्तोष चाल में रहता, कोई-न-कोई बच्चा उसके कमरे में जरूर रहता। कोई स्कूल के लिए रद्दी ले जाने का बहाना करके आता, कोई दीदी के लिए उपन्यास ले जाने का। कोई रेखागणित का सवाल हल कराने। आखिर तंग आ कर मोटू के बाप ने मोटू को ट्यूशन रख दी ताकि सवाल समझने के लिए उसे बार-बार संतोष के पास न जाना पडे। कुछ लोगों ने यह भी उडा दिया था, कि संतोष बच्चों को खराब करता है, मगर अभी तक इस बात की पुष्टि नहीं हुई थी। संतोष दिखने में इतना सरल, भोला और शर्माऊ लगता था, कि उसके बारे में कुछ-न-कुछ उडती रहती। लोगों को पूरा विश्वास था, कि पाल का परिवारिक जीवन इसी संतोष ने नष्ट किया है। सारे गडबड-घोटाले की वही जड़ है। वे तो यहां तक माने थीं, कि एक दिन संतोष पाल की बीवी के साथ गायब हो जायेगा। वह अपना सूटकेस होल्डाल लेकर कभी दफ्तर के काम से बाहर गांव जाता, तो वे सोचतीं आज पाल की बीवी भी नहीं लौटगी। मगर ऐसा कभी नहीं हुआ। पाल की बीवी भी लौट आइ और दो-एक दिन बाद संतोष भी।

किसी न किसी बात को लेकर बीवी से उलझ जाना पाल की आदत हो गयी थी। झगडे के बाद पाल आत्महत्या की धमकी देकर सो जाता। जब पाल की पत्नी को विश्वास हो गया, कि पाल कभी आत्महत्या नहीं करेगा और जसतस बच्चों को पाल लेगा, वह निश्चिन्त होकर एक दिन गायब हो गई। पाल हताश होकर घर में पडा रहा। उसने पुलिस तक को भी खबर नही की कि उसकी बीवी गायब हो गई है। कुछ लोगों ने सूचना दी उसकी बीवी माला सिन्हा के ड्राइवार के साथ भाग गई है, मगर पाल ने कहा, 'रामसिंह ऐसा नहीं कर सकता। मैं उसे आठ वर्षो से जानता हूं। उसकी पत्नी इस चुडैल से कहीं सुन्दर है।'

किसी ने पाल को बताया कि वह खार स्टेशन पर एक बूढे सिक्ख के साथ चाय पी रही थी। पाल ने कहा, 'वह बूढा सिक्ख मेरी बीवी का बाप है, और खार में ही रहता है।

इस समय चाल में सन्नाटा था। एक व्यक्ति कब से अपने कमरे का दरवाजा पीट रहा था। प्रकाश ने देखा, गर्ग पडोस की खटिया पर बैठा धीरे-धीरे दरवाजा खटखटार रहा था। प्रकाश को देखकर, वह झेंप गया और उसकी तरफ चला आया।

'मैं बहुत दिनों से आप से एक सवाल करना चाहता हूं।' गर्ग ने झेंपते हुए कहा।

'कीजिए।'

'सवाल जरूर आपको मूर्खतापूर्ण लगेगा, मगर मेरी इच्छा है, आप इसका जवाब जरूर दें।'

'कहिए!'

'औरतों के बारे में आपकी क्या राय है?' गर्ग ने पत्थर की तरह प्रकाश के ऊपर सवाल लुढका दिया।

'जो मर्द के बारे में है।' प्रकाश ने कहा।

'मर्द के बारे मे आपकी क्या राय है? मेरी बात को गम्भीरता से लीजिए।' गर्ग बोला।

'औरत के बारे में मेरी राय बहुत अच्छी है। मगर मर्द के बारे उतनी अच्छी नहीं।' प्रकाश ने कहा।

प्रकाश गर्ग की समस्या से परिचित था। जो आदमी पिछले डेढ धण्टे से अपने ही घर का दरवाजा खटखटा रहा हो, उसके लिए यह उत्तर बहुत निराशाजनक हो सकता था। गर्ग परेशान-सा वहां बैठा रहा। गर्ग का ख्याल था कि प्रकाश अवश्य कोई ऐसी बात कहेगा, जिससे उसकी संतप्त आत्मा को कुछ शान्ती मिलेगी।

'आप जानते ही होंगे।' प्रकाश ने गर्ग की ओर देखते हुए कहना शुरू किया-'किरण नौकरी पर जाती है और मैं घर में गुलछर्रे उडाया करता हूं। दाल-रोटी की चिन्ता मुझे नहीं है। कपूर को देखिए, मेढेकर को देखिए, जिन्दगी से कितने संतुष्ट हैं। शाम को जब मेढेकर दम्पती एक-एक बच्चा कंधे से लगाकर घूमने निकलते हैं, तो कितना अच्छा लगता है। संतोष की शादी नहीं हुई, कितना गमगीन रहता है। दरअसल औरत के बिना आदमी अधूरा है। आप ही सोचिए, शादी से पहले आपकी क्या हालत थी। मैं तो आपसे तब परिचित नहीं था, आप खुद ही बताइए, आपको ऐसा नहीं लगता था, कि आप शून्य में जी रहे हैं। अब निचिश्त रूप से आपका दिल सिर्फ अपने लिए नहीं घडकता होगा। पहले कौन आप के लिए इतनी लगन से मछली बनाता होगा। क्यो मैं ठीक कह रहा हूं या गलत?

'आप जैसे लोगों से मुझे बीच-बीच मे मिलते रहना चाहिए।' गर्ग ने कहा और टांग हिलाने लगा। गर्ग एक सिगरेट प्रकाश को दी और एक खुद सुलगा ली।

'आप कभी कोलाबा की तरफ नहीं आते?'

'वह क्षेत्र मेरे लिए वर्जित है। बेकार आदमी कोलाबा की सडकों पर घूमेगा, तो उसका दिमाग खराब हो जायेगा।'-प्रकाश ने कहा, 'मैंने बहुत जगह अर्जियां दे रखी है। मगर इधर मंदी है। नई नौकरियां बहुत कम निकल रही हैं।'

'मदी तो सब जगह है। हौजरी लाइन भी चौपट हो रही है। कुछ वर्ष पूर्व हमारा चार-छह लाख का धंधा था, अब प्रतिष्ठिान का खर्च मुश्किल से निकलता है।'

प्रकाश को हंसी आ गयी, प्रतिष्ठान का मुनीम इस तरह दोपहर में उठ-उठ कर आता रहा, तो रहा-सहा धंधा भी चौपट हो

जायेगा।

सिगरेट पीकर और प्रकाश से बतिया कर, गर्ग का तनाव स्खलित हो गया था वह उठा और प्रकाश से हाथ मिलाकर, चला गया। जाकर वह दोबारा दरवाजा पीटने लगा। प्रकाश ने कुर्सी खिसका ली और इस दृश्य का मजा लेने लगा।

गर्ग के दरवाजे पर चाक से लिखा हुआ था–एक से चार के बीच दरवाजा न खटखटाना।

इस बीच बंगालिन पोस्टमैन को भी दरवाजा नही खोलती थी। मगर आज गर्ग का सितारा बुलन्द था, इससे पूर्व कि वह दरवाजा पीटते हुए थक जाता और खटिया पर बैठकर दरवाजा पीटने लगता, बंगालिन ने दरवाजा खोल दिया और गर्ग के घुमते ही बन्द भी कर दिया। अन्दर पहुंचकर गर्ग को बहुत अफसोस हुआ। उसने पाया, बंगालिन घर में अकेली थी। डॉ बापट का घर में कहीं नाम–निशान भी नहीं था। वह सरदर्द का बहाना करके लेट गया। उसने शिकायत भी नहीं की वह इतनी देर से दरवाजा पीट रहा था। उसे अपने सपने पर क्रोध आ रहा था। उसकी इच्छा हो रही थी, उठकर कपाट पर बंगालिन की ही शैली में चाक से लिख दे–सपने पर विश्वास न करना।

बच्चो के स्कूल से लौटते ही चाल में नया जीवन आ गया। कृष्णा छोटे बच्चों को कन्धों पर उठाकर घर पहुंचाने लगा। पार्क के पास खोमचे वालों की भीड लग गयी। अब किरण भी लौट ही रही होगी, प्रकाश ने सोचा। वह बहुत बेताबी से उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। उसने आवश्य आज गुणवन्तराय की रिपोर्ट कर दी होगी। किरण चुपचाप यंत्रणा भोगने की आदी नहीं है। बहुत सम्भावना है, मामला रजिस्ट्रार अथवा कुलपति तक पहुंच गया हो, वह अपने अधिकारों के लिए लडना जानती है अच्छा होता, वह सुबह मुझे अपने साथ ले जाती। गले में रूमाल बांधकर उसके कालिज के दो–एक चक्कर तो लगा ही सकता था। गुणवन्तराय कालिज में घुसने लगता तो ऐसी पटकी देता कि मुंह के बल गिर पडता। गुणवन्तराय को पागलखाने, हवालात अथवा अस्पताल में से किसी–न–किसी स्थान का चुनाव करना ही होगा।

चाल के पास आकर एक कार रुकी तो, प्रकाश को पहचानने में देर न लगी। यह शिवेन्द्र की छोटी मौरिस थी। यह कम्बख्त आज कहां से टपक पडा। गुणवन्तराय की सिफारिश लेकर आया होगा। इसका मतलब हुआ, गुणवन्तराय रात भर सोया नहीं, हमारे दोस्तों का पता लगाता रहा। बहुत सोच–विचार कर उसने शिवेन्द्र को इस काम के लिए चुना होगा। मैं शिवेन्द्र से साफ–साफ शब्दों में कह दूंगा, भैया, यह मामला दोस्ती की परिधि में नहीं आता।

शिवेन्द्र कार से अकेला नही निकला। संजाना और सुनन्दा भी साथ थीं। प्रकाश को लगा, मामला कुछ दूसरा है। गुणवन्तराय की बात न हुई तो उसके लिए पांच मिनट भी शिवेन्द्र को सह पाना मुश्किल हो जायेगा। वह एक दूसरी दुनिया का वाशिंदा है। शराब, लडकियाँ और चन्द बोसीदा शेर उसकी जिन्दगी हैं। ऐसे में कहीं किरण आ गयी, तो सब चौपट हो जायेगा। यह दूसरी बात है कि शिवेन्द्र ने प्रकाश को हमेंशा आकर्षित किया है। मगर किरण को उसने चिढ है! प्रकाश को अच्छा लगता है शिक्षा और पूंजी के अभाव में भी वह मजे से दिन काटता है। दो चीजें तो उसके पास थी हीं, एक मौरिस और एक नन्हीं सी एडवर्टाइजिंग एजेंसी–पार्क डेविस एण्ड ली।

'पार्क डेविस एण्ड ली' कौन थे, शिवेन्द्र नहीं जानता। नाम उसे अच्छा लगा, उसने रख लिया। संयोग से उसे दो–एक बहुत अच्छी माडल मिल गयीं; जिनके बल पर वह एक–न–एक अच्छे एकाउण्ट का जुगाड़ कर लेता।

प्रकाश से शिवेन्द्र का परिचय एक मारवाडी सहपाठी के यहां हुआ था। तबसे वह दो–तीन बार शिवेन्द्र की पार्टियों में हो आया था। नगर के कॉटन मैगनेट सेठ मनुभाई के यहं लडकी पैदा हुई, शिवेन्द्र ने ताजमहल में पार्टी फेंक दी। निरंजन बिडला की सगाई पर उसने अपने घर में पार्टी दी और एक ही शाम में हजारों रुपये फूंक दिये। शराब और लडकियां उसकी पार्टी में प्रचुर मात्र में होतीं। यह एयर होस्टेस मिस फर्नाडीज है, वह बहुचर्चित मॉडल पर्सिस खम्बाता, यह भारतसुन्दरी पाटनवाला। यह शर्मिला टैगोर, प्रसिद्ध सिने अभिनेत्री। प्रकाश ने इतनी सुन्दर लडकियां एक साथ इतने निकट से नहीं देखी थीं। वह घण्टों लडकियों से बतियाता रहता। पार्टी खत्म होने से पहले शिवेन्द्र नशे में धुत्त सो जाता।

श्रीमती शिवेन्द्र मेहमानों को बिदा करतीं।

पार्टी से लौटते हुए प्रकाश पाता कि वह अपनी मनहूसियत वहीं फेंक आया है मगर किरण को यह सब शोर-शराबा सख्त नापसन्द था। वह अक्सर कहती, शिवेन्द्र को ज्यादा मुंह मत लगाया करो। मुझे वह आदमी ठीक नहीं लगता।

शिवेन्द्र से चिढने का किरण के पास एक और कारण भी था। शिवेन्द्र ने पिछले वर्ष तय कर लिया कि 'न्यूइयर ईव' किरण की ओर से मनाई जायेगी। उसने बॉम्बोली में अपने बहुत से मित्रों को आमंत्रित कर रखा था। वहां किरण और प्रकाश का कई लोगों से परिचय हुआ। किरण का नाम बार-बार आ रहा था। वह इतना प्रसन्न हो गयी कि हंस-हंस कर बिल चुकाती रही। दूसरे दिन उसने पाया, घर  में अनाज के लिए भी पैसा नहीं है। तभी से वह शिवेन्द्र 'फ्रॉड' कहने लगी। शिवेन्द्र और किरण दोनों एक दूसरे को फ्रॉड कहने लगे।

शिवेन्द्र ने आते ही विस्की की बोतल मेज पर रख दी और लडकियों से कहा जहां कहीं जगह मिले, बैठ जायें।

'मेज की चारों टांगे हिल रही हैं। ऐसा न हो, तुम्हारी बोतल लुढक जाये' प्रकाश ने कहा

'आज बोतलों की कमी नहीं।' शिवेन्द्र ने कहा।

प्रकाश ने सुबह से बिस्तर भी साफ नहीं किया था। संजाना खाट पर बैठ गई और सुनन्दा किताबों के रैक से जा लगी। प्रकाश दोनों लडकियों से परिचित था। उसने कभी नहीं सोचा था, यह शिवेन्द्र का बच्चा किसी दिन इन लडकियों को भी उसका घर दिखा देगा। घर में तीसरे आदमी के लिए बैठने की भी जगह न थी। उसने सोचा कि गर्ग के यहां से दो-एक कुर्सिया उठा लाये। कुर्सियां आ गयीं, तो हो सकता है, ये लोग यहीं जम जायें। वह चाहता था, किसी तरह किरण के आने से पहले इन्हें विदा कर दे। घर में जगह नहीं है, तो मैं कहां से लाऊं? मैं कौन-सा इन लडकियों से शादी करने की सोच रहा हूं, जो इन्हें देखकर परेशान होऊं। मैं इन्हें बुलाने तो नहीं गया था। शिवेन्द्र को सोचना चाहिए था कि मेरे घर में बैठने की भी व्यवस्था नहीं है। अब क्या इन्हें सर पर बैठा लूं?

शिवेन्द्र उठा और रसोई से तीन गिलास और एक कप उठा लाया। तीनों गिलास अलग-अलग मेल के थे। उसने संजाना को चाबी दी कि जा कर डिकी से बर्फ निकलवा लाये। संजाना घर में ऐसे चल रह थी, जैसे कीचड़ में चल रही हो। दरवाजे पर चाल के बच्चों की भीड लग रही थी। प्रकाश ने उठकर पर्दा गिरा दिया।

'हम लोग आज मड आइलैण्ड पर मिडनाइट पिकनिक मनाएंगे। तुम लोग भी जल्दी से तैयार हो जाओ। किरण से कहा, कुछ पराठे सेंक ले औ साथ में नीबू का अचार ले ले, जो उसकी मां भेजा करती है। वैसे हमारे पास बहुत से कवाब हैं। किरण को रशियन सैलड बहुत पसन्द है, वह लेते आये हैं।' शिवेन्द्र बोला, 'बाकी लोग तो अब तक वहां पहुंच चुके होंगे। मैंने तय कर रखा था, जिन्दगी में कभी अंधेरी से गुजरा तो तुम से अवश्य मिलूंगा।'

'किरण तो अभी कालिज से नहीं लौटी। दूसरे, उसकी तबीयज भी ठीक नहीं है।'

'तबीयत ठीक हो जायेगी।' शिवेन्द्र ने कहा, 'मैं उसका फ्राड नहीं चलने दूंगा।'

संजाना थर्मस ले आयी, तो शिवेन्द्र ने सबके गिलासों में थोडा-थोडा बर्फ डाल दी और खुद कप उठा लिया, 'चियर्स!'

शिवेन्द्र अपना कप सिर से भी ऊपर ले गया।

'चियर्स!' सबने कहा और पीने लगे।

'यहां कही फोन है?' शिवेन्द्र ने पूछा।

'हां है। एक नम्बर में।'

'जरा दफ्तर में फोन पर मारिया से कह दो कि शिवेन्द्र यहां है और एक घण्टे तक इस फोन पर उपलब्ध है।' शिवेन्द्र ने गटागट अपना प्याला खाली कर दिया।

प्रकाश ने इधर-उधर चवन्नी ढूँढी उसे कहीं न मिली। एक दिन उसने रसोई में एक कटोरी में कुछ रेजगारी देखी थी, मगर आज वह कटोरी भी नहीं  मिल रही थी।

'क्या ढूंढ रहे हो?'

'रेजगारी।' प्रकाश ने कहा।

शिवेन्द्र ने पर्स खोला और एक दस का नोट उसकी ओर बढा दिया-'इधर रेजगारी की शहर में बहुत कमी है।'

प्रकाश ने नोट थाम लिया और पाल के कमरे की ओर चल दिया। वह खुश था कि कुछ समय के लिए तो शिवेन्द्र से दूर हो सका। दोनों बंदरियां घर में कैसे फुदक रही हैं। किरण आयेगी, तो सब को सीधा कर देगी। मॉडल होंगी, अपने घर होंगी। प्रकाश को उनकी हर हरकत पर क्रोध आ रहा था। उसकी इच्छा हो रही थी, अंधेरी चला जाये और किरण को लेकर तब तक कहीं बैठा रहे, जब तक यह चंडाल चौकडी लौट नहीं जाती।

पाल कुर्सी पर उकडूं बैठा था। टाइपराइटर केस में  बन्द था। मेज पर कोई कागज नहीं था। जैसे पाल ने यह धंधा बन्द करने का निर्णय ले लिया हो। बच्चे भी कोनों में दुबके थे।

'पाल साहब!' प्रकाश ने धीरे से कहा।

पाल ने आंखें उठायीं। उसकी आंखें सुर्ख हो रही थी। उनमें लहू था, और कुछ नहीं था। प्रकाश सहम गया। वह आदमी किसी भी समय बदतमीज हो सकता है।

'मैं शायद बहुत गलत समय पर आ गया। लगता है, आप की तबीयत नासाज है। मुझे जरूरी फोन करना था।'

'कीजिए। फोन नहीं कटा, यही गनीमत है, वरना कोई मेरे घर की तरफ ताकता भी नहीं।'

प्रकाश ने फोन मिलाया। मारिया मिल गयी। उसने शिवेन्द्र का संदेश दे दिया और पाल के सामने दस का नोट फैला दिया।

'रेजगारी हो तो दीजिए।' पाल ने कहा।'

'रेजगारी नहीं है।'

'फिर कभी दे दीजिएगा।' प्रकाश लौटने लगा, तो पाल ने आवाज दी।

'कल तक के लिए क्या आप दस का नोट स्पेयर कर सकते हैं? आप दे सकें तो दे दीजिए। कल ग्यारह तक लौटा दूंगा।' पाल ने मेजके ड्रॉअर से सौ रुपये का एक चेक निकाला और प्रकाश को दिखाते हुए बोला-'यह कल की तारीख का चैक है। बियरर चेक। आप चेक रख सकते हैं। कल मुझे नब्बे रुपये लौटा दीजिए।'

दरअसल यह दस का नोट मेरा नहीं है।' प्रकाश ने कहा, 'शिवेन्द्र ने फोन के लिए दिया था।'

'कोई बात नहीं।' पाल ने कहा।

'रेणु कहां है?' प्रकाश ने पूछा।

'दरवाजे में मुंह छिपाये रो रही है।'

'क्यों?'

'उसकी मां भाग गयी। दो दिन से घर नहीं आयी।'

'आपने कहीं पता कराया। कहीं कोई एक्सीडेण्ट न हो गया हो।'

'नहीं एक्सीडेण्ट नहीं हुआ। वह बता कर गयी है। कहती है, मैं गरीबी में नहीं रह सकती।'

प्रकाश चुपचाप खडा रहा। दस का नोट उसके हाथ में था। उसने पाया उसकी कमीज या पाजामें में कोई जेब नहीं थी कि ठूंस ले।

'वह गरीबी में नहीं रह सकती और मैं गरीबी से उबर नहीं सकता, मैंने बहुत हाथ-पांव मारे जिसकी तकदीर ही फूट गयी हो, वह क्या कर सकता है। जाते हुए वह एक और दिलचस्प बात कह गयी कि उसने पैंतीस वर्ष की उम्र में पहली बार डिस्कवर किया है, कि प्यार किसे कहते हैं। आप को ताज्जुब होगा, उसके चार बच्चे हो गये, मगर उसे प्यार का एहसास नहीं हुआ।' पाल ने कहा।

प्रकाश ने देखा, शिवेन्द्र बाल्कनी में खडा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था।

'लीजिए आप दस रुपये ले लीजिए। मैं अपने मित्र से कह दूंगा।' प्रकाश बोला।

'आप मुझ पर दया करके मुझे दस रुपये दे रहे हैं। मैं दया का पात्र नहीं बना रहना चाहता। आपका मित्र चाहे तो नब्बे रुपये में सौ का यह चेक खरीद सकता है। किसी ऐसी -वैसी पार्टी का नहीं है। ओ पी रल्हन ने खुद दस्तखत किया हैं।'

'आप दस रुपये रखिए।' प्रकाश ने कहा, 'में अपने मित्र से यह प्रस्ताव नहीं रख सकता। उसके साथ कुछ दूसरे लोग भी हैं।'

प्रकाश ने दस का नोट पाल की मेज पर रख दिया और बाहर निकल आया। सूरज डूबने को हो रहा था। किरण को अब तक आ जाना चाहिए था। उसने सोचा, शिवेन्द्र की गाडी में उसे अंधेरी तक देख आये। अंधेरी जाकर क्या होगा, हो सकता है, वह बस में बैठ चुकी हो या किसी वजह से गाडियां ही अस्त-व्यस्त हों। तभी पाल का बडा बेटा तीर की तरह प्रकाश के पास से निकल गया।

'अंकल रसगुल्ले लेने जा रहा हूं। खाओगे? रेणु ने लिए गुडिया लाऊंगा और अपने लिये पतंग।' बच्चा बकता हुआ भागे जा रहा था। कुछ ही देर में वह आखों से ओझल हो गया।

प्रकाश ने पलटकर देखा, पाल के घर का माहौल एकदम बदल गया था। बच्चा लोग इधर उधर से निकलकर बाप से चिपक गये थे। कोई बाप के कंधे पर सवार हो गया और कई कमर से लटकने लगा। शायद, बच्चों को प्रसन्न करने के लिए ही पाल को पैसे की जरूरत थी।

'तुम्हारा दस का नोट मैंने पाल को दे दिया। उसकी बीवी भाग गयी है और बच्चे रो रहे हैं।' प्रकाश ने लौट कर घुसते ही शिवेन्द्र से कह कर दस रुपये से मुक्ति पा ली। शिवेन्द्र ने इस बात में कोई दिलचस्पी न ली। वह उस समय दोनों लडकियों को अपनी स्पेन-यात्रा के अनुभव सुना रहा था। लडकियां जानती हैं और शिवेन्द्र जानता है कि लडकियां जानती हैं कि वह कभी समुद्र पार नहीं गया। एक बार नेपाल गया था और वहां से सिफलिस लेकर लौटा था। वह तुरन्त सतर्क न हो जाता, तो अब तक उसका जीवन नरक हो गया होता। इस समय शिवेन्द्र वही पुराना किस्सा सुना रहा था कि कैसे मेड्रिड में एक युवती ने उसकी गाल पर थप्पड दे मारा था। इसके बाद वह उसे अपने घर ले गयी। दरअसल शिवेन्द्र ने अपनी जवानी के दिनों में जो जो दो-एक उपन्यास पढ रखे थे, अक्सर उनके नायकों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता रहता। शिवेन्द्र की शादी के समय उसके एक प्रसिद्ध साहित्यिक मित्र के पास उपहार देने को केवल 'ज्यां क्रिस्तोफ' था। शिवेन्द्र ने जस-तस उपन्यास पढ लिया, पढ क्या लिया, पढ-पढ कर अपनी बीवी को प्रभावित करता रहा कि वह पढाकू किस्म का आदमी है। उपन्यास पढ कर वह वर्षो अपने का क्रिस्तोफ समझता रहा। उसे विश्वास हो गया, 'ज्यां क्रिस्तोफ' कोई और नहीं शिवेन्द्र ही है। शिवेन्द्र ने देखा कि लडकियां उसकी बात से प्रभावित नहीं हो रहीं और प्रकाश भी इधर-उधर ताक रहा है, तो उसने समझ लिया कि वह यह किस्सा जरूर दोहरा रहा होगा। अक्सर उसके दोस्त शिकायत करते हैं कि वह एक ही बात को महीनों किसी-न-किसी प्रसंग में दुहराया रहता है। वैसे शिवेन्द्र का बात करने का अंदाज इतना रोचक और आवाज इतनी संवेदनपूर्ण थी कि कोई भी आदमी उसकी बात को पांच-छह बार आसानी में बर्दाश्त कर सकता था।

'तुम्हारी बीवी लौट आई है और लौटते ही बडी बेनियाजी और अफसाना निगारी के  अन्दाज में तथाकथित रसोई में घुस गयी है। उससे पूछ कर बता दो कि उसे तैयार होने में कितना लगेगा?'

'कब आ गयी?' प्रकाश ने पूछा।

'जब तुम फोन करने गये थे। तुम साले पाल की बीवी की चिंता में मरे जा रहे हो जबकि तुम्हारी अपनी बीवी की भी हालत खस्ता है। तुमने कहीं अपना इंताजाम नहीं किया, तो तुम्हारा हश्र भी वही होगा, जो पाल का हुआ बताते हो। यह दूसरी बात है, तुम्हारे पास रोने के लिए बच्चे नहीं , दोस्त ही बचेंगे।'

शिवेन्द्र की बात से लडकियों को बडा मजा आया। वे खिलखिला कर हंस पडीं। किरण अपनी सूरत की साधरणता के बावजूद पार्टियों में इन लड़कियों पर हावी रही है। दोनों लडकियां सुन्दर हैं मगर बात करने में फिसडडी। वे अपनी बात से नहीं सुस्कराहट से प्रभावित करती हैं। प्रकाश ने संजाना की तरफ देखा और व्यंग से मुस्करा दिया। शिवेन्द्र के घर की लिफ्ट में उसने एक सिंधी फाइनेंसर को संजाना से लिपटे देख लिया था। संजाना ने भी प्रकाश को देख लिया था। प्रकाश ने इस तरह देखते हुए पाकर वह अपनी घडी देखने लगी थी।

'अब समय आ गया है पार्टनर, कि तुम भी फिट हो जाओ। तुम्हारे सामने कोई चारा न हो, तो 'पार्क डेविस एण्ड ली' तो है ही। तुम इंजीनियर आदमी हो, कुछ-न-कुछ तो पीट ही लाओगे। इधर 'कमानीज' का बहुत शोर है। सुनते हैं, इस वर्ष वे पांच लाख का एकाउण्ट दे रहे हैं। तुम अगर तय कर लो तो एकाउण्ट हथिया लोगे। पांच प्रतिशत कमीशन तो कोई भी दे देगा। 'पार्क डेविस एन्उ ली' तो साढे सात प्रतिशत तुम्हारे नाम डेबिट कर देगी। तुम्हारा सहपाठी चन्द्रा चोकसी उन का पी आर ओ है। कहो तो अभी तुम्हारा नियुक्ति पत्र टाइप करवा दूं। 'कमानीज' को हमारे मॉडल भी पसन्द है। कम्पेन

के बारे में निश्चिन्त रही रहो। लोग एकाउण्ट्स एग्जीक्यूटिव होने के लिए वर्षों जूते चटखाते हैं, यहां 'पार्क डेविस एण्ड ली' का सोल प्रोप्राइटर तुम्हारे घर में तुम्हें यह ऑफ़र दे रहा है। शुरू में कृष्णमूर्ति हमारे यहां चार सौ पाता था, अब 'प्रतिभा' से फोर फिगर्स ड्रा कर रहा है। 'पार्क डेविस एण्ड ली' का आदमी बेकार नहीं रहता। सुनन्दा से ही पूछ लो, 'उसका उसे कितने प्रलोभन दे चुके है। मगर सुनन्दा को मालूम है, हमारे यहां उसका भविष्य सुरक्षित है। तुम इस लाइन में नये आओगे। शुरू में ज्यादा नहीं दे पाऊंगा। मगर यह तय हे कि पहले ही रोज़ तुम्हारी वार्डरोब बनवा दूंगा। तुम जल्दी ही जान जाओगे, हमारा खेल दिखावे का खेल है। मेरी जरूरतें पूरी हों जायें, चर्चगेट में दफ्तर ले लूं, नीचे इम्पाला खडी रहे, फिर देखो कैसे ए एस पी की ऐसी–तैसी करता हूं।'

प्रकाश शिवेन्द्र से पूर–का–पूरा यही भाषण कई बार सुन चुका था। शिवेन्द्र बात कर रहा था, और प्रकाश लगातार रसोई की तरफ देख रहा  था। शिवेन्द्र की बात खत्म हो तो वह किरण से हाल–चाल मालूम करे। किरण ने आज जरूर गुणवंतराय का सिर फोड दिया होगा। प्रकाश ने रसोई में झांक कर देखा, किरण कहीं नजर नहीं आ रही थी। आटे के कनस्तर पर उसकी किताबें पडी थीं। रसोई में जाकर हो वह किरण को देख पाया। वह एक कोने में दुबकी चाय पी रही थी।

'ये लोग अचानक चले आये। शिवेन्द्र को धीरे से समझा दो कि हम नहीं जा पायेंगे।' प्रकाश ने कहा।

'तुमने और तुम्हारे दोस्तों ने मुझे नौकरानी समझ रखा है। सुबह सात से निकली अब लौटी हूं, और तुमने मेरे लिए दूसरे काम निकाल रखे हैं कि मैं कहीं सुस्ता न लूं। रात को भी ठीक से सोने नहीं देते। कह दो जाकर मैं पराठे नहीं सेकूंगी। अब यहां मेर सर पर क्यों खडे हो? जाकर दोस्तों के संग पियो और मौज उडाओ। तुमसे इतना भी नहीं हुआ कि कालिज चले आते। मेरी मौत भी हो जाए, तुम पर असर नहीं पडेगा। पुरुष हो न, किरण रोने लगी।।

प्रकाश ने वहां खडा रहना उचित न समझा। वह खडा रहेगा किरण बोलती जायेगी। किरण की आवाज अवश्य बाहर जा रही होगी। उसने यह सब धीरे से नहीं कहा था, कि शिवेन्द्र या लडकियों ने न सुना हो। आखिर वह कलेजा मजबूत करके कमरे में आ गया। उसके मेहमान भी दीवारों वगैरह की तरफ ताक रहे थे।

शिवेन्द्र ने प्रकाश को देखते ही जल्दी से उसके लिए एक पेग बनाया और उसके हाथ में थमाता हुआ बोला, 'परेशान मत हो। अभी थोडी देर में उसका गुस्सा शांत हो जायेगा। उसका नाराज होना जायज है। लडकियां थकने पर अनाप–शनाप बका ही करती हैं।'

'सुनन्दा तुम जल्दी से आटा मल लो। और संजना तुम आलू उबाल लो। तब तक किरण भी स्वस्थ हो जायेगी।' प्रकाश ने कहा। इन्हें काम करते देख किरण ठीक हो जायेगी, वह जानता है।

'न बाबा, मुझसे यह सब नहीं होगा।' सुनन्दा ने तुरन्त सिगरेट सुलगा ली और बोली, 'मुझे खाना आता है, पकाना नहीं।'

'पकाने की जरूरत भी नहीं है। इतना खाना है, हमारे पास कि सुबह नाश्ते तक जरूरत नहीं पडेगी। यह तो शिवेन्द्र की जिद थी कि पराठे भी होने चाहिए। बीच–बीच में इसके मध्य वर्ग के संस्कार जोर मारने लगते हैं। वह आज भी परांठों को पिकनिक से एसोसिएट करता है।'

'जिद नहीं है, जरूरत भी नहीं। मैंने तो किरण को फ्लैटर करने के लिए यह सुझाव रखा था। ये लडकियां शायद जानती नहीं, मैं इन सबसे अच्छा खाना बना सकता हूं! स्त्री तो अच्छी कुक हो ही नहीं सकती। आप बडे–से–बडे रेस्तरों में चले जाइए, मेल कुक ही मिलेगा।'

शिवेन्द्र अपनी बात जारी रखता कि सहसा किरण कमरे में आ गयी। उसके हाथ में उबले हुए अंडों की तश्तरी थी। चाय

पीकर और मुंह धोकर वह स्वस्थ हो गयी थी। वह प्रकाश के पास ही खटिया पर बैठ गयी और बोली; 'आई एम सॉरी, शिवेन्द्र। मेरा दिमाग खराब हो गया था।'

लडकियां अंडे देखकर मचल उठीं, 'यू आर स्वीट, किरण! हम तो तुम्हारा मूड देख कर डर गयी थीं। ये लोग वर्किंड वूमन की परेशानी कभी नहीं समझ सकते।'

कुकर की सीटी सुनाई दी, तो किरण उठ गयी, 'आलू उबल गये हैं। मैं अभी तुम लोगों का टिफिन तैयार करती हूं।'

'हमें किसी चीज की जरूरत नहीं है। हमारे पास ढेर-सा सामान है। तुम्हारा प्रिय रशियन सैलड भी। तुम जल्दी से तैयार हो जाओ।'

'प्रकाश को ले जाओ, मैं बेहद थकी हूं।' किरण ने कहा।

'प्रकाश को हम अकेले नहीं ले जाएंगे, तुम्हें चलना ही होगा।'

'आज मैं किसी भी सूरत में नहीं जा पाऊंगी। सब लोग मजे के मूड में हों और मैं थकान-थकान चिल्लाती रहूं, यह मुझसे न होगा! पिकनिका का मजा तभी है जब सब लोग नाचने गाने के मूड में हों। दुसरे-सुबह मुझे कालिज भी जाना है। काम-काज के रोज तुम्हें यह मिडनाइट पिकनिक की क्या सूझी। सैटरडे नाइट को पिकनिक रखते, ताकि सण्डे को सब लोग सो पाते। तुम लोग सुबह काम पर कैसे जाओगे?'

'हमारे धन्धे में इतवार का बन्धन नहीं। दफ्तर में तो लोग आज भी ओवरटाइम कर रहे होंगे। इधर ग्लायकोडीन की कम्पेन पर हम लोग दिन रात एक कर रहे हैं। यह फिल्म भी एनिमेटिड फिल्म होगी। शुरू और अन्त में केवल कुछ क्षणों के लिए मॉडल के शॉट होंगे। '

'पिछले वर्ष इन्हीं दिनों तुम 'वल्लभ ब्लेंकेट्स' पर काम कर रहे थे, उसका क्या हुआ?'

'होना क्या था, फिल्म बनी और रिलीज हो गयी। अलग-अलग रंगों के पचीस-तीस ब्लेकेट्स भी मिले शूटिंग के लिए जो मैंने मित्रों में बांट दिये। तुम लोगों के लिए भी मैंने बढिया कम्बल रखा था, मगर तुम लोग बड़े आदमी हो, शिवेन्द्र के यहां क्यों आओगे?'

'ग्लायकोडीन की फिल्म अंग्रेजी में भी 'डब' होगी। अनुवाद तुम्हें करना होगा। पचास रुपये मिलेंगे। वे भी कांइड में यानी हिस्की की एक बोतल किंग्ज ब्लेन्ड।'

'अनुवाद पाल से करा लेना। वह पचीस में कर देगा।' किरण ने कहा।

'दस तो तुम दे ही चुके हो!' प्रकाश बोला।

किरण ने कुकर की एक और सीटी सुनी तो भाग कर रसोई में घुस गयी। उसे याद आया, आलू का तो अब तक हलुवा बन गया होगा।

'तुम्हारी बीवी एक जिद्दी औरत है।' शिवेन्द्र ने लडकियों की तरफ देखते हुए कहा 'जाडिया तो अब तक पहुंचा गया होगा और गाली बक रहा होगा। चिंता मुझे चन्नी की है। कहीं लौट गया तो मनाने में हफ्तों खर्च हो जायेंगे। हम लोगों को अब फौरन से पेशतर रवना हो जाना चाहिए। तुम लोगों को मालूम होना चहिए कि पिकनिक भी हमारे धंधे में एक काम

है। चन्नी और चन्नी की बीवी को पेम्पर करने के लिए ही मैंने मिडनाइट पिकनिक आयोजित की हैं पहली ही भेंट में मैंने चन्नी की बीवी को चांद की ओर टकटकी लगाये देख लिया। और तुरन्त मिडनाइट पिकनिक का सुझाव रख दिया। चन्नी मूढ आदमी है। बीवी की खुशी के लिए चला आयेगा। वैसे उसे न चांद में दिलचस्पी है, और न बालू में । मगर उसके हाथ में तीन लाख का एकाउंट है।'

'चन्नी कौन है?'

'नया दोस्त। कैप्टन चन्नी। शिपिंग कम्पनी का अत्यधिक प्रभावशाली एग्जीक्यूटीव। किंग ऑफ किंग्ज लेकर आने वाला है।' शिवेन्द्र ने प्रकाश को प्रलोभन दिया, 'किरण न जाती हो, न सही। तुम तैयार हो जाओ।'

'मुझे–मुवाफ करोग। जाना होता तो हम अब तक तैयार भी हो जाते। अगली बार चलेंगे।'

शिवेन्द्र प्लीज, मजबूर न करो।' किरण रसोई मेंसे बोली, 'आज मैं सिर्फ सोना चाहती हूं।'

'रेत पर सो जाना।'

'नहीं, आज मन नहीं।' किरण अल्युमिनियम के रंगीन डिब्बे में कुछ परांठे भर लाई। घर में एकमात्र डिब्बा था। अब यह सुबह अपना खाना किस चीज में ले जायेगी।, प्रकाश सोचने लगा। किरण ने खडे–खडे ही डिब्बे के ऊपर कागज चढा दिया और रिबन से बांध कर सुनन्दा के हाथ में थमा दिया, 'लेकिन प्रकाश जा सकता है। निस्संकोच। मिडनाइट पिकनिक है, सुबह तक तो लौट आयेगा।'

प्रकाश ने लडकियों को उबाइयां लेते देखा तो बोला, 'अब इन लोगों को देर न करो। शिवेन्द्र से मुलाकत हो गयी, यही बहुत है।'

शिवेन्द्र ने सिगरेट फेंक दी और सिगार सुलगा लिया। किरण तुरंत नमस्कार की मुद्रा में खडी हो गयी। जैसे उन लोगों की विदाई का इन्तजार ही कर रही थी।

लडकियां कमरे से इस तरह निकलीं, जैसे जेल से रिहा हुई हों। दोनों ने जीन्स पहन रखे थे, और सिगरेट फूंक रही थीं, चाल के बच्चों और महिलाओं में हलचल मच गयी।

तुम लोग नहीं आओगे, मैं जानता हूं।' शिवेन्द्र जाते–जाते बोला, 'मगर मैं आप लोगों का इन्तजार करूंगा। आधी रात को बालू का एक घरौंदा बनाऊंगा और खुद ही फोड दूंगा। फिर उस वीराने में रात भर पडा रहूंगा।'

'तुम सिर्फ भावुक हो रहे हो, शिवेन्द्र।' किरण ने कहा, 'ए टोस्ट ऑव हैपी विशेज़, फार दे बेस्ट ऑव एवरीथिंग एट मड आइलैंड।'

लडकियां कार में धंस गयी थीं। चाल के बच्चे 'जोर लगा के हैया' कहते हुए कार धकेलने की कोशिश कर रहे थे। गोद में बच्चे उठाए महिलाएं चाल की बाल्कनी पर जमा हो गयी थीं।

शिवेन्द्र की कार स्टार्ट हो, इससे पूर्व ही चाल में एक और घटना हो गयी। सब बच्चा लोग पाल के कमरे की ओर भागे प्रकाश और किरण ने भी शिवेन्द्र को हाथ हिलाकर, विदा किया। और वे भी दूसरे लोगों की तरह तुरंत पाल के कमरे की तरफ देखने लगे। अचानक पाल की बीवी लौट आई थीं, और अब पाल अकड रहा था।

प्रकाश ने लक्षित किया, कुछ देर पहले पाल की आवाज में जो संजीदगी और उदासी थी, उसकी जगह अब आत्मविश्वास ने ले ली थी। वह फिल्मी नायक के अन्दाज में कह रहा था, 'अब यहां क्या करने आई हो, फौरन निकल जाओ। इस घर में अब तुम्हारे लिए जगह नहीं है। मैं तुम्हारी सूरत भी नहीं देख सकता। मुझे मुआफ करो और चली जाओ। तुम यहां रहना चाहती हो, तो मैं बच्चों को लेकर कही और चला जाता हूं। सरदार जी, आप कल्पना नहीं कर सकते, इस औरत ने मुझे कितनी परेशानी दी है। मेरे बच्चों का सत्यानास कर डाला है। मेरी जिन्दगी तबाह कर दी है। बच्चों का मोह न होता, मैं दूसरी शादी करके अबतक सुखी हो चुका होता। आप बराय मेहरबानी इसे मेरे सामने से हटा लीजिए।'

पाल की बीवी के साथ शायद उसका बाप आया था। वह चुपचाप इस नाटक को देख रहा था। चाल के लोग जानते हैं, पाल की बीवी बोलने लगे, तो पाल तुरंत शांत हो जायेगा। मगर वह चुप थी। उसका बाप भी चुप था। आखिर उसने अपनी पगडी उतारी और पाल के पांव पर रख दी, 'मैं कुछ नहीं बोलूंगा, बेटा तुम कुछ भी कहते रहो। मेरी पगडी की लाज रख लो। मेरी लडकी सती-सावित्री है, मगर नादान है। आज वह जो कुछ भी है, तुम्हारी बनाई हुई है। मैंने तो तुम्हें एक भोली-भाली बिटिया दी थी, तुम खुद सोच लो।'

सरदार दीवार पर टंगी अपनी बिटिया की शादी की तस्वीर देखने लगा। वह शादी के तुरन्त बाद का चित्र था। पाल कोट-पेंट-टाई पहने अकडकर खडा था, और उसकी बगल में छुई-मुई-सी एक लडकी थी। आंखे झुकी हुई, गर्दन भी झुकी हुई। पाल ने तस्वीर की तरफ देखा तो उसका क्रोध और बढ गया। मेज पर एक चम्मच पडा था, पाल ने चम्मच उठाया और पत्थर की तरह तस्वीर पर दे मारा। गुस्से में पाल का निशाना चूक गया। चम्मच दीवार से टकरा कर नीचे गिर पडा। पास के हाथ मेज पर दूसरी चीज तलाश करने लगे। मेज पर लाल स्याही की दावाज पडी थी, पाल ने दावात उठा कर तस्वीर पर पटक दी। तस्वीर चकनाचूर हो गयी, दावात भी और कमरे में लाल स्याही के नन्हें-नन्हें तालाब बन गये।

पाल के बच्चे कमरे के बाहर से इस दृश्य को देख रहे थे। फोन की घण्टी बजी, तो रेणू भाग कर कमरे में गयी और रिसीवर उठाकर अलग रख आई। फिर वह सहेलियों के साथ रस्सी टापने लगी। तोड-फोड से कमरे का तनाव कम हो गया था। पाल भी अब शांत नजर आ रहा था। उसने अपने पैरों से उठाकर पगडी सरदारजी के सर पर रख दी। पाल के दूसरे बच्चों ने भी काण्ड में दिलचस्पी खो दी और कट कर आती हुई एक पतंग के पीछे भागे।

किरण और प्रकाश बिना एक दूसरे से बात किये कमरे में लौट आये। प्रकाश पलंग पर लेट गया और लेटते ही उसने दीवार की ओर करवट ले ली। किरण भी प्रकाश के निकट हो पलंग पर बैठ गयी और प्रकाश का हाथ सहलाने लगी। प्रकाश इतना थक गया था, और शिवेन्द्र लोगों में प्रति किरण के व्यवहार से इतना निराश हो चुका था कि उसकी इच्छा न हुई कि किरण से पूछ ले, गुणवन्तराय का क्या हुआ। वैसे उसे थकान गुणवन्तराय को लेकर ही आ गयी थी।

'तुम नाराज हो, प्रकाश?' किरण ने प्रकाश को सहलाते हुए पूछा। किरण की आवाज मधुर एवं शांत थी।

प्रकाश ने उत्तर नहीं दिया। वह उसी प्रकार दीवार की ओर देखता रहा। किरण ने उठ कर, किवाड बन्द कर दिये। कमरे में अंधेरा हो गया, मगर उसने बत्ती नहीं जलाई।

'मैंने सोचा था, तुम सुबह मेरे साथ चलोगे। तुम बाद में भी नहीं आये।'

'मैं आना चाहता था, मुझे टिकट के लिए कहीं पैसे नहीं मिले।' प्रकाश ने बिना करवट लिये कहा। अचानक उसे अच्छा बहाना मिल गया था।

'मेरी साडियों के नीचे अब भी तीस रुपये पडे होंगे। तुम देख लो।'

'तुमने साडियां कहा रखी हैं, मुझे मालूम नहीं ।'

'इस समय तुम जान-बूझ कर सता रहे हो।'

'सॉरी।' प्रकाश में रुखाई से कहा।

किरण प्रकाश को हिलाने-डुलाने की कोशिश करने लगी। वह सी-सा की तरह हिलने लगा।

'प्रकाश।' किरण ने कहा ओर उसे यहां-वहां से चूमने लगी, 'मैंने अभी देखा, तुमने खाना भी नहीं खाया, सुबह से भूखे पडे हो।'

'मेरा मन ठीक नहीं है। मुझे सोने दो।' प्रकाश ने कहा।

'नहीं, तुम सो नहीं सकते।' सहसा किरण के स्वर की कोमलता जाती रही और उसमें एक पेशेवर कठोरता आ गयी, जो अध्यापकों के स्वर में अनायास कक्षा के बाहर भी आ जाती है, 'जब मेरा मन ठीक नहीं होता, तुम उस समय कुछ सोचते हो? मुझ में बात करने की शक्ति भी नहीं होती, मैं तुम्हारे साथ कहीं भी चल देती हूं।'

प्रकाश ने किरण के हाथ झटक दिये। किरण और भी निकट आ गयी, 'तुम भी दूसरे गुणवन्तराय हो। तुममें और पाल में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। हमेश स्त्री पर हावी रहना चाहते हो। तुम चाहते हो, वह तुम्हारे सामने रोती रहे और तुम आंसू पोंछ कर बडप्पन दिखाते रहो। तुम अपने को मन में कितना भी उदार समझो, स्त्री के बारे में तुम्हारे विचार सदियों पुराने हैं। तुम चाहते हो, वह बिना किसी प्रतिरोध के तुम्हारे इस्तेमाल में आती रहे। यही समझते हो न? यही नहीं, घर में मेरी औकात नौकरानी, महराजिन और महरी से ज्यादा नही ं। झुठला सकते हो मेरी बात को?

किरण अपना हाथ प्रकाश की बनियान के नीचे ले गयी और जोर जोर से चिकौटियां काटने लगी। किरण के हाथ ठण्डे थे, प्रकाश की रीढ के पास फुर-फुरी-सी होने लगी। इसकी इच्छा हुई वह किरण को ऐसा झटका दे कि वह खाट से नीचे गिर पडे। इसे जरूर किसी पागल कुत्ते ने काट लिया है, प्रकाश ने सोचा और खाट पर आराम से पसर गया। प्रकाश को इस तरह जड और निरपेक्ष पाकर किरण उसे दांतों से काटने लगी। इसी संघर्ष में किरण ने कब अपने कपडे फाड दिये या फेंक दिये, प्रकाश को इसका एहसास तब हुआ जब रह-रह कर किरण का पुष्ट और नम्न-वक्ष उसके सीने से टकराने लगा। वह अपना शरीर प्रकाश पर इस तरह पटक रही थी, जैसे प्रकाश पत्थर की सिल हो और वह उससे टकरा-टकरा कर चकनाचूर हो जायेगी। किरण की सांस इतनी तेज चल रही थी कि उसके लिए मुंह से बोल पाना असम्भव था, मगर वह फिर भी बोल रही थी, 'तुम्हें यही घमण्ड है न कि तुम पुरुष हो। मुझसे ताकतवर हो, मुझसे श्रेष्ठ हो। यही समझते हो न? हर पुरुष यही समझता है। मगर मैं आज तुम्हारे दिमाग से सदियों से बैठी यह गलतफहमी निकाल दूंगी।' उत्तेजना के अन्तिम बिन्दु पर पहुंच किरण सहसा निढाल हो गयी और प्रकाश के ऊपर ही गिर पडी। उसका शरीर पसीने से तर था। ठंडा।

प्रकाश ने आंखें खोलीं, तो देखा अंधेरा घिर आया था। बालकनी में मेढेकर ने दो-तीन बल्ब लगा दिये थे। उसके यहा आज रतजगा था। बाहर बाल्कनी में बच्चा लोग मिलकर शायद तख्त घसीट रहे थे। कमरे के रोशनदान खुले थे। बालकनी से जलने वाले बल्बों से कमरे में जगह-जगह रोशनी के चकत्ते बन गये थे। प्रकाश ने देखा, मेज पर हिस्की की बोतल और सिगरेट का पैकेट पडा था। शिवेन्द्र जान-बूझ कर उसके लिए छोड गया होगा। बंतासिंह की टैक्सी रुकी दरवाजे बन्द हुए और वह 'जपुजी' का पाठ करता हुआ सीढियां चढ गया।

रतजगे की तैयारी में बच्चा लोग दरियां झाड रहे थे। मगर चाल पे उस ओर गहरा सन्नाटा था। फैक्ट्रयों की बिजलियां दूर-दूर तक टिमटिमा रही थीं, जैसे देश के उद्योगीकरण का काम पूरा हो चुका हो। मछली बाजार का मैदान सो चुका

था। बीच-बीच में कुत्तो और सियारों के रोने की आवाज आती और शांत हो जाती।

वे बिलकुल आदमियों की तरह रो रहे थे।

## 'चित्र का शीर्षक' यशपाल

जयराज जाना-माना चित्रकार था। वह उस वर्ष अपने चित्रों को प्रकृति और जीवन के यथार्थ से सजीव बना सकने के लिये, अप्रैल के आरम्भ में ही रानीखेत जा बैठा था। उन महिनों पहाड़ों में वातावरण खूब साफ और आकाश नीला रहता है। रानीखेत से ' त्रिशूल' , 'पंचचोली' और 'चौखम्बा' की बरफानी चोटियाँ, नीले आकाश के नीचे माणिक्य के उज्ज्वल स्तूपों जैसीं जान पड़ती है। आकाश की गहरी नीलिमा से कल्पना होती कि गहरा नीला समुद्र उपर चढ़ कर छत की तरह स्थिर हो गया हो और उसका श्वेत फेन, समुद्र के गर्भ से मोतियों और मणियों को समेट कर ढेर का ढेर नीचे पहाड़ों पर आ गिरा हो।

जयराज ने इन दृष्यों के कुछ चित्र बनाये परन्तु मन न भरा। मनुष्य के संसर्ग से हीन यह चित्र बनाकर उसे ऐसा ही अनुभव हो रहा था जैसे निर्जन बियाबान में गाये राग का चित्र बना दिया हो। यह चित्र उसे मनुष्य की चाह और अनुभव के स्पन्दन से शून्य जान पड़ते थे। उसने कुछ चित्र, पहाड़ों पर पसलियों की तरह फैले हुए खेतों में श्रम करते पहाड़ी किसान स्त्री-पुरूषों के बनाये। उसे इन चित्रों से भी सन्तोष न हुआ। कला की इस असफलता से अपने हृदय में एक हाय-हाय का सा शोर अनुभव हो रहा था। वह अपने स्वप्न और चाह की बात प्रकट नहीं कर पा रहा था।

जयराज अपने मन की तड़प को प्रकट कर सकने के लिए व्याकुल था।

वह मुट्ठी पर ठोड़ी टिकाये बरामदे में बैठा था। उसकी दृष्टि दूर-दूर तक फैली हरी घाटियों पर तैर रही थी। घाटियों के उतारों-चढ़ावों पर सुनहरी धूप खेल रही थी। गहराइयों में चाँदी की रेखा जैसी नदियाँ कुण्डलियाँ खोल रही थीं। दूध के फेन जैसी चोटियाँ खड़ी थीं। कोई लक्ष्य न पाकर उसकी दृष्टि अस्पष्ट विस्तार पर तैर रही थी। उस समय उसकी स्थिर आँखों के छिद्रों से सामने की चढ़ाई पर एक सुन्दर, सुघड़ युवती को देखने लगी जो केवल उसकी दृष्टि का लक्ष्य बन सकने के लिए ही, उस विस्तार में जहाँ-तहाँ, सभी जगह दिखाई दे रही थी।

जयराज ने एक अस्पष्ट-सा आश्वासन अनुभव किया। इस अनुभूति को पकड़ पाने के लिये उसने अपनी दृष्टि उस विस्तार से हटा, दोनों बाहों को सीने पर बाँध कर एक गहरा निश्वास लिया। उसे जान पड़ा जैसे अपार पारावार में बहता निराश व्यक्ति अपनी रक्षा के लिये आने वाले की पुकार सुन ले। उसने अपने मन में स्वीकार किया, यही तो वह चाहता है ः - कल्पना से सौन्दर्य की सृष्टि कर सकने के लिये उसे स्वयं भी जीवन में सौन्दर्य का सन्तोष मिलना चाहिये; बिना फूलों के मधुमक्खी मधु कहाँ से लाये?

ऐसी ही मानासिक अवस्था में जयराज को एक पत्र मिला। यह पत्र इलाहाबाद से उसके मित्र एडवोकेट सोमनाथ ने लिखा था। सोमनाथ ने जयराज का परिचय उसकी कला के प्रति अनुराग और आदर के कारण प्राप्त किया था। कुछ अपनापन भी हो गया था। सोम ने अपने उत्कृष्ट कलाकार मित्र के बहुमूल्य समय का कुछ भाग लेने की घृष्टता के लिये क्षमा माँग कर अपनी पत्नी के बारे में लिखा था - "…. इस वर्ष नीता का स्वास्थ्य कुछ शिथिल हैं, उसे दो मास पहाड़ में रखना चाहता हूँ। इलाहाबाद की कड़ी गर्मी में वह बहुत असुविधा अनुभव कर रही है। यदि तुम अपने पड़ोस में ही किसी सस्ते, छोटे परन्तु अच्छे मकान का प्रबन्ध कर सको तो उसे वहाँ पहुँचा दूँ। सम्भवतः तुमने अलग पूरा बँगला लिया होगा। यदि उस मकान में जगह हो और इससे तुम्हारे काम में विघ्न पड़ने की आशंका न हो तो हम एक-दो कमरे सबलेट कर लेंगे।

हम अपने लिए अलग नौकर रख लेंगे... ' आदि-आदि।

दो वर्ष पूर्व जयराज इलाहाबाद गया था। उस समय सोम ने उसके सम्मान में एक चाय-पार्टी दी थी। उस अवसर पर जयराज ने नीता को देखा था और नीता का विवाह हुए कुछ ही मास बीते थे। पार्टी में आये अनेक स्त्री-पुरूष के भीड़-भड़क्के में संक्षिप्त परिचय ही हो पाया था। जयराज ने स्मृति को ऊँगली से अपने मस्तिष्क को कुरेदा। उसे केवल इतना याद आया कि नीता दुबली-पतली, छरहरे बदन की गोरी, हँसमुख नवयुवती थी; आँखों में बुद्धि की चमक। जयराज ने पत्र को तिपाई पर एक ओर दबा दिया और फिर सामने घाटी के विस्तार पर निरूद्देश्य नजर किये सोचने लगा – क्या उत्तर दे?

जयराज की निरूद्देश्य दृष्टि तो घाटी के विस्तार पर तैर रही थी परन्तु कल्पना में अनुभव कर रहा था कि उसके समीप ही दूसरी आराम कुर्सी पर नीता बैठी है। वह भी दूर घाटी में कुछ देख रही है या किसी पुस्तक के पन्नों या अखबार में दृष्टि गड़ाये है। समीप बैठी युवती नारी की कल्पना जयराज को दूध के फेन के समान श्वेत, स्फटिक के समान उज्ज्वल पहाड़ की बरफानी चोटी से कहीं अधिक स्पन्दन उत्पन्न करने वाली जान पड़ी। युवती के केशों और शरीर से आती अस्पष्ट-सी सुवास, वायु के झोकों के साथ घाटियों से आती बत्ती और शिरीष के फूलों की भीनी गन्ध से अधिक सन्तोष दे रही थी। वह अपनी कल्पना में देखने लगा – नीता उसकी आँखों के सामने घाटी की एक पहाड़ी पर चढ़ती जा रही है। कड़े पत्थरों और कंकड़ों के ऊपर नीता की गुलाबी एड़ियाँ, सैन्डल में सँभली हुई हैं। वह चढ़ाई में साड़ी को हाथ से सँभाले हैं। उसकी पिंडलियाँ केले के भीतर के डंठल के रंग की हैं, चढ़ाई के श्रम के कारण नीता की साँस चढ़ गई है और प्रत्येक साँस के साथ उसका सीना उठ आने के कारण, कमल की प्रस्फुटनोन्मुख कली की तरह अपने आवरण को फाड़ देना चाहता है। कल्पना करने लगा – वह कैनवैस के सामने खड़ा चित्र बना रहा है।

नीता एक कमरे से निकली है। आहट ले उसके कान में विघ्न न डालने क लिए पंजों के बल उसके पीछे से होती हुई दूसरे कमरे में चली जा रही है। नीता किसी काम से नौकर को पुकार रही है। उस आवाज से उसके हृदय का साँय-साँय करता सूनापन सन्तोष से बस गया है.... ।

जयराज तुरन्त कागज और कलम ले उत्तर लिखने बैठा परन्तु ठिठक कर सोचने लगा – वह क्या चाहता है?.... मित्र की पत्नी नीता से वह क्या चाहेगा?.... तटस्थता से तर्क कर उसने उत्तर दिया – कुछ भी नहीं। जैसे सूर्य के प्रकाश में हम सूर्य की किरणों को पकड़ लेने की आवश्यकता नहीं समझते, उन किरणों से स्वयं ही हमारी आवश्यकता पूरी हो जाती है; वैसे ही वह अपने जीवन में अनुभव होने वाले सुनसान अँधेरे में नारी की उपस्थिति का प्रकाश चाहता है।

जयराज ने संक्षिप्त-सा उत्तर लिखा – '.... भीड़-भाड़ से बचने के लिए अलग पूरा ही बंगला लिया है। बहुत-सी जगह खाली पड़ी है। सबलेट-का कोई सवाल नहीं। पुराना नोकर पास है। यदि नीताजी उस पर देख-रेख रखेंगी तो मेरा ही लाभ होगा। जब सुविधा हो आकर उन्हें छोड़ जाओ। पहुँचने के समय की सूचना देना। मोटर स्टैन्ड पर मिल जाऊँगा.... ।"

अपनी आँखों के सामने और इतने समीप एक तरूण सुन्दरी के होने की आशा में जयराज का मन उत्साह से भर गया। नीता की अस्पष्ट-सी याद को जयराज ने कलाकार के सौन्दर्य के आदेशों की कल्पनाओं से पूरा कर लिया। वह उसे अपने बरामदे में, सामने की घाटी पर, सड़क पर अपने साथ चलती दिखाई देने लगी। जयराज ने उसे भिन्न-भिन्न रंगों की साड़ियों में, सलवार-कमीज के जोडों की पंजाबी पोशाक में, मारवाड़ी अँगिया-लहंगे में फूलों से भरी लताओं के कुंज में, चीड़ के पेड़ के तले और देवदारों की शाखाओं की छाया में सब जगह देख लिया। वह नीता के सशरीर सामने आ जाने की उत्कट प्रतीक्षा में व्याकुल होने लगा; वैसे ही जैसे अँधेरे में परेशान व्यक्ति सूर्य के प्रकाश की प्रतीक्षा करता है।

लौटती डाक से सोम का उत्तर आया –'.... तारीख को नीता के लिये गाड़ी में एक जगह रिजर्व हो गई है। उस दिन हाई कोर्ट में मेरी हाजिरी बहुत आवश्यक है। यहाँ गर्मी अधिक है और बढ़ती ही जा रही है। मैं नीता को और कष्ट नहीं देना

चाहता। काठगोदान तक उसके लिए गाड़ी में जगह सुरक्षित है। उसे बस की भीड़ में न फँस कर टैक्सी पर जाने के लिए कह दिया है। तुम उसे मोटर स्टैण्ड पर मिल जाना। तुम हम लोगों के लिये जहाँ सब कुछ कर रहे हो, इतना और सही। हम दोनों कृतज्ञ होंगे.... ।'

जयराज मित्र की सुशिक्षित और सुसंस्कृत पत्नी को परेशानी से बचाने के लिए मोटर स्टैण्ड पर पहुँच कर उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा था। काठगोदाम से आनेवाली मोटरें पहाड़ी के पीछे से जिस मोड़ से सहसा प्रकट होती थीं, उसी ओर जयराज की आँख निरन्तर लगी हुई थी। एक टैक्सी दिखाई दी। जयराज आगे बढ़ गया। गाड़ी रूकी। पिछली सीट पर एक महिला अपने शरीर का बोझ सँभाल न सकने के कारण कुछ पसरी हुई-सी दिखाई दी। चेहरे पर रोग की थकावट का पीलापन और थकावट से फैली हुई निस्तेज आँखों के चारों ओर झाइयों के घेरे थे। जयराज ठिठका। महिला की आँखों में पहचान का भाव और नमस्कार में उसके हाथ उठते देख जयराज को स्वीकार करना पड़ा – "मैं जयराज हूँ।"
महिला ने मुस्कराने का यत्न किया – "मैं नीता हूँ।"

महिला की वह मुस्कान ऐसी थी जैसे पीड़ा को दबा कर कर्तव्य पूरा किया गया हो। महिला के साधारणतः दुबले हाथ-पाँवों पर लगभग एक शरीर का बोझ पेट पर बँध जाने के कारण उसे मोटर से उतरने में भी कष्ट हो रहा था। बिखरे जाते अपने शरीर को सँभालने में उसे ही असुविधा हो रही थी जैसे सफर में बिस्तर के बन्द टूट जाने पर उसे सँभलना कठिन हो जाता है। महिला लँगड़ाती हुई कुछ ही कदम चल पायी कि जयराज ने एक डाँडी (डोली) को पुकार उसे चार आदमियों के कंधों पर लदवा दिया।

सौजन्य के नाते उसे डाँडी के साथ चलना चाहिए था परन्तु उस शिथिल और विरूप आकृति के समीप रहने में जयराज को उबकाई और ग्लानि अनुभव हो रही थी।

नीता बंगले पर पहुँच कर एक अलग कमरे में पलंग पर लेट गई। जयराज के कानों में उस कमरे से निरन्तर 'आह! ऊँह!' की दबी कराहट पहुँच रही थी। उसने दोनों कानों में उँगलियाँ दबा कर कराहट सुनने से बचना चाहा परन्तु उसे शरीर के रोम-रोम से वह कराहट सुनाई दे रही थी। वह नीता की विरूप आकृति, रोग और बोझ से शिथिल, लंगड़ा-लंगड़ा कर चलते शरीर को अपनी स्मृति के पट से पोंछ डालना चाहता था परन्तु वह बरबस आकर उसके सामने खड़ा हो जाता। नीता जयराज को उस मकान के पूरे वातावरण में समा गई अनुभव हो रही थी। जयराज का मन चाह रहा था – बंगले से कहीं दूर भाग जाये।

दूसरे दिन सुबह सूर्य की प्रथम किरणें बरामदे में आ रही थीं। सुबह की हवा में कुछ खुश्की थी। जयराज नीता के कमरे से दूर, बरामदे में आरामकुर्सी पर बैठ गया। नीता भी लगातार लेटने से ऊब कर कुछ ताजी हवा पाने के लिये अपने शरीर को सँभाले, लँगड़ाती-लँगड़ाती बरामदे में दूसरी कुर्सी पर आ बैठी। उसने कराहट को गले में दबा, जयराज को नमस्कार कर हाल-चाल पूछ कर कहा – "मुझे तो शायद सफर की थकावट या नयी जगह के कारण रात नींद नहीं आ सकी...
।"

जयराज के लिए वहाँ बैठे रहना असम्भव हो गया। वह उठ खड़ा हुआ और कुछ देर में लौटने की बात कह बँगले से निकल गया। परेशानी में वह इस सड़क से उस सड़क पर मीलों घूमता इस संकट से मुक्ति का उपाय सोचता रहा। छुटकारे के लिए उसका मन वैसे ही तड़प रहा था जैसे चिड़िमार के हाथ में फँस गई चिड़िया फड़फड़ाती है। उसे उपाय सूझा। वह तेज कदमों से डाकखाने पहुँचा। एक तार उसने सोम को दे दिया – 'अभी बनारस से तार मिला है कि रोग-शैया पर पड़ी माँ मुझे देखने के लिए छटपटा रही हैं। इसी समय बनारस जाना अनिवार्य है। मकान का किराया छः महीने का पेशगी दे दिया है। नौकर यहीं रहेगा। हो सके तो तुम आकर पत्नी के पास रहो।'

यह तार दे वह बंगले पर लौटा। नौकर को इशारे से बुलाया। एक सूटकेस में आवश्यक कपड़े ले उसने नौकर को विश्वास दिलाया कि दो दिन के लिये बाहर जा रहा है। सोम को दी हुई तार की नकल अपने जाने के बाद नीता को

दिखाने के लिए दे दी और हिदायत की – "बीबी जी को किसी तरह का भी कष्ट न हो।"

बनारस में जयराज को रानीखेत से लिखा सोम का पत्र मिला। सोम ने मित्र की माता के स्वास्थ्य के लिये चिन्ता प्रकट की थी और लिखा था कि हाईकोर्ट में अवकाश हो गया है। वह रानीखेत पहुँच गया है। वह और नीता उसके लौट आने की प्रतीक्षा उत्सुकता से कर रहे हैं।

जयराज ने उत्तर में सोम को धन्यवाद देकर लिखा कि वह मकान और नौकर को अपना ही समझ कर निस्संकोच वहाँ रहे। वह स्वयं अनेक कारणों से जल्दी नहीं लौट सकेगा। सोम बार–बार पत्र लिखकर जयराज को बुलाता रहा परन्तु जयराज रानीखेत न लौटा। आखिर सोम मकान और सामान नौकर को सहेज, नीता के साथ इलाहाबाद लौट गया। यह समाचार मिलने पर जयराज ने नौकर को सामान सहित बनारस बुलवा लिया।

जयराज के जीवन में सूनेपन की शिकायत का स्थान अब सौन्दर्य के धोखे के प्रति ग्लानि ने ले लिया। जीवन की विरूपता और वीभत्सता का आतंक उसके मन पर छा गया। नीता का रोग से पीड़ित, बोझिल कराहता हुआ रूप उसकी आँखों के सामने से कभी न हटने की जिद कर रहा था। मस्तिष्क में समायी हुई ग्लानि से छुटकारा पाने का दृढ़ निश्चय कर वह सीधा कश्मीर पहुँचा। फिर बरफानी चोटियों क बीच कमल के फूलों से घिरी नीली डल झील में शिकारे पर बैठ उसने सौन्दर्य के प्रति अनुराग पैदा करना चाहा। पुरी और केरल में समुद्र के किनारे जा उसने चाँदनी रात में ज्वार–भाटे का दृश्य देखा। जीवन के संघर्ष से गूँजते नगरों में उसने अपने–आप को भुला देना चाहा परन्तु मस्तिष्क में भरे हुए नारी की विरूपता के यथार्थ ने उसका पीछा न छोड़ा। वह बनारस लौट आया और अपने ऊपर किये गये अत्याचार का बदला लेने के लिये रंग और कूची लेकर कैनवेस के सामने जा खड़ा हुआ।

जयराज ने एक चित्र बनाया, पलंग पर लेटी हुई नीता का। उसका पेट फूला हुआ था, चेहरे पर रोग का पीलापन, पीड़ा से फैली हुई आँखें, कराहट में खुल कर मुड़े हुए होंठ, हाथ–पाँव पीड़ा से ऐंठे हुए।

जयराज यह चित्र पूरा कर ही रहा था कि उसे सोम का पत्र मिला। सोम ने अपने पुत्र के नामकरण की तारीख बता कर बहुत ही प्रबल अनुरोध किया था कि उस अवसर पर उसे अवश्य ही इलाहाबाद आना पड़ेगा। जयराज ने झुंझलाहट में पत्र को मोड़ कर फेंक दिया, फिर औचित्य के विचार से एक पोस्टकार्ड लिख डाला – धन्यवाद, शुभकामना और बधाई। आता तो जरूर परन्तु इस समय स्वयं मेरी तबियत ठीक नहीं। शिशु को आशीर्वाद।

सोम और नीता को अपने सम्मानित और कृपालु मित्र का पोस्टकार्ड शनिवार को मिला। रविवार वे दोनों सुबह की गाड़ी से बनारस जयराज के मकान पर जा पहुँचे। नौकर उन्हें सीधे जयराज के चित्र बनाने की टिकटिकी पर ही चढ़ा हुआ था। सोम और नीता की आँखें उस चित्र पर पड़ी और वहीं जम गई।

जयराज अपराध की लज्जा से गड़ा जा रहा था। बहुत देर तक उसे अपने अतिथियों की ओर देखने का साहस ही न हुआ और जब देखा ते नीता गोद में किलकते बच्चे को एक हाथ से कठिनता से सँभाले, दूसरे हाथ से साड़ी का आँचल होठों पर रखे अपनी मुस्कराहट छिपाने की चेष्टा कर रही थी। उसकी आँखें गर्व और हँसी से तारों की तरह चमक रही थीं। लज्जा और पुलक की मिलवट से उसका चेहरा सिंदूरी हो रहा था।

जयराज के सामने खड़ी नीता, रानीखेत में नीता को देखने से पहले और उसके सम्बन्ध में बताई कल्पनाओं से कहीं अधिक सुन्दर थी। जयराज के मन को एक धक्का लगा – ओह धोखा! और उसका मन फिर धोखे की ग्लानि से भर गया।

जयराज ने उस चित्र को नष्ट कर देने के लिए समीप पड़ी छुरी हाथ में उठा ली। उसी समय नीता का पुलक भरा शब्द सुनाई दिया – "इस चित्र का शीर्षक आप क्या रखेंगे?"

जयराज का हाथ रूक गया। वह नीता के चेहरे पर गर्व और अभिमान के भाव को देखता स्तब्ध खड़ा था।

कलाकार को अपने इस बहुत ही उत्कृष्ट चित्र के लिए कोई शीर्षक न खोज सकते देख नीता ने अपने बालक को अभिमान से आगे बढ़ा, मुस्कुराकर सुझाया - "इस चित्र का शीर्षक रखिये 'सृजन की पीड़ा।!"

## 'चीफ़ की दावत' भीष्म साहनी

आज मिस्टर शामनाथ के घर चीफ की दावत थी।

शामनाथ और उनकी धर्मपत्नी को पसीना पोंछने की फुर्सत न थी। पत्नी ड्रेसिंग गाउन पहने, उलझे हुए बालों का जूड़ा बनाए, मुंह पर फैली हुई सुर्खी और पाउडर को मले और मिस्टर शामनाथ सिगरेट-पर-सिगरेट फूंकते हुए, चीजों की फेहरिस्त हाथ में थामे, एक कमरे से दूसरे कमरे में आ-जा रहे थे।

आखिर पांच बजते-बजते तैयारी मुकम्मल होने लगी। कुर्सियां, मेज़, तिपाइयां, नैपकिन, फूल, सब बरामदे में पहुंच गए। ड्रिंक का इन्तज़ाम बैठक में कर दिया गया। अब घर का फालतू सामान अलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी शामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गई, मां का क्या होगा?

इस बात की ओर न उनका और न उनकी कुशल गृहिणी का ध्यान गया था। मिस्टर शामनाथ, श्रीमती की ओर घूमकर अंग्रेजी में बोले - "मां का क्या होगा?"
श्रीमती काम करते-करते ठहर गई, और थोड़ी देर तक सोचने के बाद बोलीं - "इन्हें पिछवाड़े इनकी सहेली के घर भेज दो रात-भर बेशक वहीं रहें। कल आ जाएं।"

शामनाथ सिगरेट मुंह में रखे, सिकुड़ी आंखों से श्रीमती के चेहरे की ओर देखते हुए पल-भर सोचते रहे, फिर सिर हिलाकर बोले - "नहीं, मैं नहीं चाहता कि उस बुढ़िया का आना-जाना यहां फिर से शुरू हो। पहले ही बड़ी मुश्किल से बन्द किया था। मां से कहें कि जल्दी ही खाना खा के शाम को ही अपनी कोठरी में चली जाएं। मेहमान कहीं आठ बजे आएंगे इससे पहले ही अपने काम से निबट लें।"

सुझाव ठीक था। दोनों को पसन्द आया। मगर फिर सहसा श्रीमती बोल उठीं - "जो वह सो गयीं और नींद में खर्राटे लेने लगीं, तो? साथ ही तो बरामदा है, जहां लोग खाना खाएंगे।"
"तो इन्हें कह देंगे कि अन्दर से दरवाजा बन्द कर लें। मैं बाहर से ताला लगा दूंगा। या मां को कह देता हूं कि अन्दर जाकर सोयें नहीं, बैठी रहें, और क्या?"
"और जो सो गई, तो? डिनर का क्या मालूम कब तक चले। ग्यारह-ग्यारह बजे तक तो तुम ड्रिंक ही करते रहते हो।"
शामनाथ कुछ खीज उठे, हाथ झटकते हुए बोले - "अच्छी-भली यह भाई के पास जा रही थीं। तुमने यूंही खुद अच्छा बनने के लिए बीच में टांग अड़ा दी!"
"वाह! तुम मां और बेटे की बातों में मैं क्यों बुरी बनूं? तुम जानो और वह जानें।"

मिस्टर शामनाथ चुप रहे। यह मौका बहस का न था, समस्या का हल ढूंढ़ने का था। उन्होंने घूमकर मां की कोठरी की ओर देखा। कोठरी का दरवाज़ा बरामदे में खुलता था। बरामदे की ओर देखते हुए झट से बोले - 'मैंने सोच लिया है", - और उन्हीं कदमों मां की कोठरी के बाहर जा खड़े हुए। मां दीवार के साथ एक चौकी पर बैठी, दुपट्टे में मुंह-सिर लपेटे,

माला जप रही थीं। सुबह से तैयारी होती देखते हुए मां का भी दिल धड़क रहा था। बेटे के दफ्तर का बड़ा साहब घर पर आ रहा है, सारा काम सुभीते से चल जाय।

"मां, आज तुम खाना जल्दी खा लेना। मेहमान लोग साढ़े सात बजे आ जायेंगे।"
मां ने धीरे से मुंह पर से दुपट्टा हटाया और बेटे को देखते हुए कहा, "आज मुझे खाना नहीं खाना है, बेटा, तुम जो जानते हो, मांस-मछली बने, तो मैं कुछ नहीं खाती।"
"जैसे भी हो, अपने काम से जल्दी निबट लेना।"
"अच्छा, बेटा।"
"और मां, हम लोग पहले बैठक में बैठेंगे। उतनी देर तुम यहां बरामदे में बैठना। फिर जब हम यहां आ जाएं, तो तुम गुसलखाने के रास्ते बैठक में चली जाना।"
मां अवाक बेटे का चेहरा देखने लगीं। फिर धीरे से बोलीं – "अच्छा बेटा।"
"और मां आज जल्दी सो नहीं जाना। तुम्हारे खर्राटों की आवाज़ दूर तक जाती है।"
मां लज्जित-सी आवाज़ में बोली – "क्या करूं, बेटा, मेरे बस की बात नहीं है। जब से बीमारी से उठी हूं, नाक से सांस नहीं ले सकती।"

मिस्टर शामनाथ ने इन्तजाम तो कर दिया, फिर भी उनकी उधेड़-बुन खत्म नहीं हुई। जो चीफ अचानक उधर आ निकला, तो? आठ-दस मेहमान होंगे, देसी अफसर, उनकी स्त्रियां होंगी, कोई भी गुसलखाने की तरफ जा सकता है। क्षोभ और क्रोध में वह झुंझलाने लगे। एक कुर्सी को उठाकर बरामदे में कोठरी के बाहर रखते हुए बोले – "आओ मां, इस पर जरा बैठो तो।"
मां माला संभालतीं, पल्ला ठीक करती उठीं, और धीरे से कुर्सी पर आकर बैठ गई।
"यूं नहीं, मां, टांगे ऊपर चढ़ाकर नहीं बैठते। यह खाट नहीं हैं।"
मां ने टांगे नीचे उतार लीं।
"और खुदा के वास्ते नंगे पांव नहीं घूमना। न ही वह खडाऊं पहनकर सामने आना। किसी दिन तुम्हारी यह खड़ाऊ उठाकर मैं बाहर फेंक दूंगा।"
"मां चुप रहीं।"
"कपड़े कौनसे पहनोगी, मां?"
"जो है, वही पहनूंगी, बेटा! जो कहो, पहन लूं।"

मिस्टर शामनाथ सिगरेट मुंह में रखे, फिर अधखुली आंखों से मां की ओर देखने लगे, और मां के कपड़ों की सोचने लगे। शामनाथ हर बात में तरतीब चाहते थे। घर का सब संचालन उनके अपने हाथ में था। खूंटियां कमरों में कहां लगायी जायें, बिस्तर कहां पर बिछे, किस रंग के पर्दे लगायें जाएं, श्रीमती कौन-सी साड़ी पहनें, मेज किस साइज की हो ..
शामनाथ को चिन्ता थी कि अगर चीफ का साक्षात मां से हो गया, तो कहीं लज्जित नहीं होना पड़े। मां को सिर से पांव तक देखते हुए बोले – "तुम सफेद कमीज़ और सफेद सलवार पहन लो, मां। पहन के आओ तो, ज़रा देखूं।"
मां धीरे से उठीं और अपनी कोठरी में कपड़े पहनने चली गयीं।
"यह मां का झमेला ही रहेगा, उन्होंने फिर अंग्रेजी में अपनी स्त्री से कहा – "कोई ढंग की बात हो, तो भी कोई कहे। अगर कहीं कोई उल्टी-सीधी बात हो गयी, चीफ को बुरा लगा, तो सारा मज़ा जाता रहेगा।"

मां सफेद कमीज़ और सफेद सलवार पहनकर बाहर निकलीं। छोटा-सा कद, सफेद कपड़ों में लिपटा, छोटा-सा सूखा हुआ शरीर, धुंधली आंखें, केवल सिर के आधे झड़े हुए बाल पल्ले की ओट में छिप पाये थे। पहले से कुछ ही कम कुरूप नज़र आ रही थीं।
"चलो, ठीक है। कोई चूड़ियां-वूड़ियां हों, तो वह भी पहन लो। कोई हर्ज़ नहीं।"
"चूड़ियां कहां से लाऊं, बेटा? तुम तो जानते हो, सब जेवर तुम्हारी पढ़ाई में बिक गए।"

यह वाक्य शामनाथ को तीर की तरह लगा। तिनककर बोले – "यह कौन–सा राग छेड़ दिया, मां! सीधा कह दो, नहीं हैं जेवर, बस! इससे पढ़ाई–वढ़ाई का क्या तअल्लुक है! जो जेवर बिका, तो कुछ बनकर ही आया हूं, निरा लंडूरा तो नहीं लौट आया। जितना दिया था, उससे दुगना ले लेना।"
"मेरी जीभ जल जाय, बेटा, तुमसे जेवर लूंगी? मेरे मुंह से यूंही निकल गया। जो होते, तो लाख बार पहनती!"

साढ़े पांच बज चुके थे। अभी मिस्टर शामनाथ को खुद भी नहा–धोकर तैयार होना था। श्रीमती कब की अपने कमरे में जा चुकी थीं। शामनाथ जाते हुए एक बार फिर मां को हिदायत करते गए – "मां, रोज की तरह गुमसुम बन के नहीं बैठी रहना। अगर साहब इधर आ निकलें और कोई बात पूछें, तो ठीक तरह से बात का जवाब देना।"
"मैं न पढ़ी, न लिखी, बेटा, मैं क्या बात करूंगी। तुम कह देना, मां अनपढ़ है, कुछ जानती–समझती नहीं। वह नहीं पूछेगा।"

सात बजते–बजते मां का दिल धक–धक करने लगा। अगर चीफ सामने आ गया और उसने कुछ पूछा, तो वह क्या जवाब देंगी। अंग्रेज को तो दूर से ही देखकर घबरा उठती थीं, यह तो अमरीकी है। न मालूम क्या पूछे| मैं क्या कहूंगी। मां का जी चाहा कि चुपचाप पिछवाड़े विधवा सहेली के घर चली जाएं। मगर बेटे के हुक्म को कैसे टाल सकती थीं। चुपचाप कुर्सी पर से टांगे लटकाये वहीं बैठी रही।

एक कामयाब पार्टी वह है, जिसमें ड्रिंक कामयाबी से चल जाएं। शामनाथ की पार्टी सफलता के शिखर चूमने लगी। वार्तालाप उसी रौ में बह रहा था, जिस रौ में गिलास भरे जा रहे थे। कहीं कोई रूकावट न थी, कोई अड़चन न थी। साहब को व्हिस्की पसन्द आई थी। मेमसाहब को पर्दे पसन्द आए थे, सोफा–कवर का डिज़ाइन पसन्द आया था, कमरे की सजावट पसन्द आई थी। इससे बढ़कर क्या चाहिए। साहब तो ड्रिंक के दूसरे दौर में ही चुटकुले और कहानियां कहने लग गए थे। दफ्तर में जितना रोब रखते थे, यहां पर उतने ही दोस्त–परवर हो रहे थे और उनकी स्त्री, काला गाउन पहने, गले में सफेद मोतियों का हार, सेन्ट और पाउडर की महक से ओत–प्रोत, कमरे में बैठी सभी देसी स्त्रियों की आराधना का केन्द्र बनी हुई थीं। बात–बात पर हंसती, बात–बात पर सिर हिलातीं और शामनाथ की स्त्री से तो ऐसे बातें कर रही थीं, जैसे उनकी पुरानी सहेली हों।

और इसी रो में पीते–पिलाते साढ़े दस बज गए। वक्त गुज़रते पता ही न चला।

आखिर सब लोग अपने–अपने गिलासों में से आखिरी घूंट पीकर खाना खाने के लिए उठे और बैठक से बाहर निकले। आगे–आगे शामनाथ रास्ता दिखाते हुए, पीछे चीफ और दूसरे मेहमान।

बरामदे में पहुंचते ही शामनाथ सहसा ठिठक गए। जो दृश्य उन्होंने देखा, उससे उनकी टांगें लड़खड़ा गई, और क्षण–भर में सारा नशा हिरन होने लगा। बरामदे में ऐन कोठरी के बाहर मां अपनी कुर्सी पर ज्यों–की–त्यों बैठी थीं। मगर दोनों पांव कुर्सी की सीट पर रखे हुए, और सिर दायें से बायें और बायें से दायें झूल रहा था और मुंह में से लगातार गहरे खर्राटों की आवाज़ें आ रही थीं। जब सिर कुछ देर के लिए टेढ़ा होकर एक तरफ को थम जाता, तो खर्राटें और भी गहरे हो उठते। और फिर जब झटके–से नींद टूटती, तो सिर फिर दायें से बायें झूलने लगता। पल्ला सिर पर से खिसक आया था, और मां के झरे हुए बाल, आधे गंजे सिर पर अस्त–व्यस्त बिखर रहे थे।

देखते ही शामनाथ क्रुद्ध हो उठे। जी चाहा कि मां को धक्का देकर उठा दें, और उन्हें कोठरी में धकेल दें, मगर ऐसा करना सम्भव न था, चीफ और बाकी मेहमान पास खड़े थे।

मां को देखते ही देसी अफसरों की कुछ स्त्रियां हंस दीं कि इतने में चीफ ने धीरे से कहा – पुअर डियर!

मां हड़बड़ा के उठ बैठीं। सामने खड़े इतने लोगों को देखकर ऐसी घबराई कि कुछ कहते न बना। झट से पल्ला सिर पर रखती हुई खड़ी हो गयीं और जमीन को देखने लगीं। उनके पांव लड़खड़ाने लगे और हाथों की उंगलियां थर-थर कांपने लगीं।

"मां, तुम जाके सो जाओ, तुम क्यों इतनी देर तक जाग रही थीं? – और खिसियायी हुई नज़रों से शामनाथ चीफ के मुंह की ओर देखने लगे।

चीफ के चेहरे पर मुस्कराहट थी। वह वहीं खड़े-खड़े बोले, "नमस्ते!"
मां ने झिझकते हुए, अपने में सिमटते हुए दोनों हाथ जोड़े, मगर एक हाथ दुपट्टे के अन्दर माला को पकड़े हुए था, दूसरा बाहर, ठीक तरह से नमस्ते भी न कर पाई। शामनाथ इस पर भी खिन्न हो उठे।

इतने में चीफ ने अपना दायां हाथ, हाथ मिलाने के लिए मां के आगे किया। मां और भी घबरा उठीं।
"मां, हाथ मिलाओ।"
पर हाथ कैसे मिलातीं? दायें हाथ में तो माला थी। घबराहट में मां ने बायां हाथ ही साहब के दायें हाथ में रख दिया। शामनाथ दिल ही दिल में जल उठे। देसी अफसरों की स्त्रियां खिलखिलाकर हंस पड़ीं।

"यूं नहीं, मां! तुम तो जानती हो, दायां हाथ मिलाया जाता है। दायां हाथ मिलाओ।"
मगर तब तक चीफ मां का बायां हाथ ही बार-बार हिलाकर कह रहे थे – "हौ डू यू डू?"
"कहो मां, मैं ठीक हूं, खैरियत से हूं।"
मां कुछ बड़बड़ाई।
"मां कहती हैं, मैं ठीक हूं। कहो मां, हौ डू यू डू।"
मां धीरे से सकुचाते हुए बोलीं – "हौ डू डू..."

एक बार फिर कहकहा उठा।
वातावरण हल्का होने लगा। साहब ने स्थिति संभाल ली थी। लोग हंसने-चहकने लगे थे। शामनाथ के मन का क्षोभ भी कुछ-कुछ कम होने लगा था।

साहब अपने हाथ में मां का हाथ अब भी पकड़े हुए थे, और मां सिकुड़ी जा रही थीं। साहब के मुंह से शराब की बू आ रही थी।

शामनाथ अंग्रेज़ी में बोले – "मेरी मां गांव की रहने वाली हैं। उमर भर गांव में रही हैं। इसलिए आपसे लजाती है।"
साहब इस पर खुश नज़र आए। बोले – "सच? मुझे गांव के लोग बहुत पसन्द हैं, तब तो तुम्हारी मां गांव के गीत और नाच भी जानती होंगी?" चीफ खुशी से सिर हिलाते हुए मां को टिकटिकी बांधे देखने लगे।
"मां, साहब कहते हैं, कोई गाना सुनाओ। कोई पुराना गीत तुम्हें तो कितने ही याद होंगे।"
मां धीरे से बोली – "मैं क्या गाऊंगी बेटा। मैंने कब गाया है?"
"वाह, मां! मेहमान का कहा भी कोई टालता है?"
"साहब ने इतना रीझ से कहा है, नहीं गाओगी, तो साहब बुरा मानेंगे।"
"मैं क्या गाऊं, बेटा। मुझे क्या आता है?"
"वाह! कोई बढ़िया टप्पे सुना दो। दो पत्तर अनारां दे ..."

देसी अफसर और उनकी स्त्रियों ने इस सुझाव पर तालियां पीटी। मां कभी दीन दृष्टि से बेटे के चेहरे को देखतीं, कभी पास खड़ी बहू के चेहरे को।
इतने में बेटे ने गंभीर आदेश-भरे लिहाज में कहा – "मां!"

इसके बाद हां या ना सवाल ही न उठता था। मां बैठ गयीं और क्षीण, दुर्बल, लरजती आवाज़ में एक पुराना विवाह का गीत गाने लगीं –
हरिया नी माये, हरिया नी भैणे
हरिया ते भागी भरिया है!

देसी स्त्रियां खिलखिला के हंस उठीं। तीन पंक्तियां गा के मां चुप हो गयीं।

बरामदा तालियों से गूंज उठा। साहब तालियां पीटना बन्द ही न करते थे। शामनाथ की खीज प्रसन्नता और गर्व में बदल उठी थी। मां ने पार्टी में नया रंग भर दिया था।

तालियां थमने पर साहब बोले – "पंजाब के गांवों की दस्तकारी क्या है?"
शामनाथ खुशी में झूम रहे थे। बोले – "ओ, बहुत कुछ – साहब! मैं आपको एक सेट उन चीजों का भेंट करूंगा। आप उन्हें देखकर खुश होंगे।"
मगर साहब ने सिर हिलाकर अंग्रेजी में फिर पूछा – "नहीं, मैं दुकानों की चीज नहीं मांगता। पंजाबियों के घरों में क्या बनता है, औरतें खुद क्या बनाती हैं?"
शामनाथ कुछ सोचते हुए बोले – "लड़कियां गुड़ियां बनाती हैं, और फुलकारियां बनाती हैं।"
"फुलकारी क्या?"
शामनाथ फुलकारी का मतलब समझाने की असफल चेष्टा करने के बाद मां को बोले – "क्यों, मां, कोई पुरानी फुलकारी घर में हैं?"

मां चुपचाप अन्दर गयीं और अपनी पुरानी फुलकारी उठा लायीं।

साहब बड़ी रूचि से फुलकारी देखने लगे। पुरानी फुलकारी थी, जगह–जगह से उसके तागे टूट रहे थे और कपड़ा फटने लगा था। साहब की रूचि को देखकर शामनाथ बोले – "यह फटी हुई है, साहब, मैं आपको नयी बनवा दूंगा। मां बना देंगी। क्यों, मां साहब को फुलकारी बहुत पसन्द हैं, इन्हें ऐसी ही एक फुलकारी बना दोगी न?"

मां चुप रहीं। फिर डरते–डरते धीरे से बोलीं – "अब मेरी नज़र कहां है, बेटा! बूढ़ी आंखें क्या देखेंगी?"
मगर मां का वाक्य बीच में ही तोड़ते हुए शामनाथ साहब को बोले – "वह जरूर बना देंगी। आप उसे देखकर खुश होंगे।"

साहब ने सिर हिलाया, धन्यवाद किया और हल्के–हल्के झूमते हुए खाने की मेज़ की ओर बढ़ गये। बाकी मेहमान भी उनके पीछे–पीछे हो लिये।

जब मेहमान बैठ गये और मां पर से सबकी आंखें हट गयीं, तो मां धीरे से कुर्सी पर से उठीं, और सबसे नज़रें बचाती हुई अपनी कोठरी में चली गयीं।

मगर कोठरी में बैठने की देर थी कि आंखों में छल–छल आंसू बहने लगे। वह दुपट्टे से बार–बार उन्हें पोंछतीं, पर वह बार–बार उमड़ आते, जैसे बरसों का बांध तोड़कर उमड़ आये हों। मां ने बहुतेरा दिल को समझाया, हाथ जोड़े, भगवान का नाम लिया, बेटे के चिरायु होने की प्रार्थना की, बार–बार आंखें बन्द कीं, मगर आंसू बरसात के पानी की तरह जैसे थमने में ही न आते थे।

आधी रात का वक्त होगा। मेहमान खाना खाकर एक–एक करके जा चुके थे। मां दीवार से सटकर बैठी आंखें फाड़े दीवार को देखे जा रही थीं। घर के वातावरण में तनाव ढीला पड़ चुका था। मुहल्ले की निस्तब्धता शामनाथ के घर भी

छा चुकी थी, केवल रसोई में प्लेटों के खनकने की आवाज़ आ रही थी। तभी सहसा मां की कोठरी का दरवाजा जोर से खटकने लगा।

"मां, दरवाज़ा खोलो।"

मां का दिल बैठ गया| हड़बड़ाकर उठ बैठीं। क्या मुझसे फिर कोई भूल हो गयी? मां कितनी देर से अपने आपको कोस रही थीं कि क्यों उन्हें नींद आ गयी, क्यों वह ऊंघने लगीं। क्या बेटे ने अभी तक क्षमा नहीं किया? मां उठीं और कांपते हाथों से दरवाजा खोल दिया।

दरवाजे खुलते ही शामनाथ झूमते हुए आगे बढ़ आये और मां को आलिंगन में भर लिया|

"ओ अम्मी! तुमने तो आज रंग ला दिया!...साहब तुमसे इतना खुश हुआ कि क्या कहूं। ओ अम्मी! अम्मी!

मां की छोटी-सी काया सिमटकर बेटे के आलिंगन में छिप गयी। मां की आंखों में फिर आंसू आ गये। उन्हें पोंछती हुई धीरे से बोली - "बेटा, तुम मुझे हरिद्वार भेज दो। मैं कब से कह रही हूं।"
शामनाथ का झूमना सहसा बन्द हो गया और उनकी पेशानी पर फिर तनाव के बल पड़ने लगे। उनकी बाहें मां के शरीर पर से हट आयीं।
"क्या कहा, मां? यह कौन-सा राग तुमने फिर छेड़ दिया?"
शामनाथ का क्रोध बढ़ने लगा था, बोलते गये - तुम मुझे बदनाम करना चाहती हो, ताकि दुनिया कहे कि बेटा मां को अपने पास नहीं रख सकता।
"नहीं बेटा, अब तुम अपनी बहू के साथ जैसा मन चाहे रहो। मैंने अपना खा-पहन लिया। अब यहां क्या करूंगी। जो थोड़े दिन ज़िन्दगानी के बाकी हैं, भगवान का नाम लूंगी। तुम मुझे हरिद्वार भेज दो!"
"तुम चली जाओगी, तो फुलकारी कौन बनायेगा? साहब से तुम्हारे सामने ही फुलकारी देने का इकरार किया है।"
"मेरी आंखें अब नहीं हैं, बेटा, जो फुलकारी बना सकूं। तुम कहीं और से बनवा लो। बनी-बनायी ले लो।"
"मां, तुम मुझे धोखा देके यूं चली जाओगी? मेरा बनता काम बिगाड़ोगी? जानती नही, साहब खुश होगा, तो मुझे तरक्की मिलेगी!"

मां चुप हो गयीं। फिर बेटे के मुंह की ओर देखती हुई बोली - "क्या तेरी तरक्की होगी? क्या साहब तेरी तरक्की कर देगा? क्या उसने कुछ कहा है?"
"कहा नहीं, मगर देखती नहीं, कितना खुश गया है। कहता था, जब तेरी मां फुलकारी बनाना शुरू करेंगी, तो मैं देखने आऊंगा कि कैसे बनाती हैं। जो साहब खुश हो गया, तो मुझे इससे बड़ी नौकरी भी मिल सकती है, मैं बड़ा अफसर बन सकता हूं।"

मां के चेहरे का रंग बदलने लगा, धीरे-धीरे उनका झुर्रियों-भरा मुंह खिलने लगा, आंखों में हल्की-हल्की चमक आने लगी।
"तो तेरी तरक्की होगी बेटा?"
"तरक्की यूं ही हो जायेगी? साहब को खुश रखूंगा, तो कुछ करेगा, वरना उसकी खिदमत करने वाले और थोड़े हैं?
"तो मैं बना दूंगी, बेटा, जैसे बन पड़ेगा, बना दूंगी।

और मां दिल ही दिल में फिर बेटे के उज्ज्वल भविष्य की कामनायें करने लगीं और मिस्टर शामनाथ, "अब सो जाओ, मां," कहते हुए, तनिक लड़खड़ाते हुए अपने कमरे की ओर घूम गये।

## 'जयदोल'  अज्ञेय

लेफ्टिनेंट सागर ने अपना कीचड़ से सना चमड़े का दस्ताना उतार कर, ट्रक के दरवाजे पर पटकते हुए कहा,''गुरूंग, तुम गाड़ी के साथ ठहरो, हम कुछ बन्दोबस्त करेगा।''
गुरूंग सड़ाक् से जूतों की एड़ियां चटका कर बोला,''ठीक ए सा'ब -''

साँझ हो रही थी। तीन दिन मूसलाधार बारिश के कारण नवगाँव में रूके रहने के बाद, दोपहर को थोड़ी देर के लिए आकाश खुला तो लेफ्टिनेंट सागर ने और देर करना ठीक न समझा। ठीक क्या न समझा, आगे जाने के लिए वह इतना उतावला हो रहा था कि उसने लोगों की चेतावनी को अनावश्यक सावधानी माना और यह सोच कर कि वह कम से कम शिवसागर तो जा ही रहेगा रात तक, वह चल पड़ा था।

जोरहाट पहुँचने तक ही शाम हो गयी थी, पर उसे शिवसागर के मन्दिर देखने का इतना चाव था कि वह रूका नहीं, जल्दी से चाय पी कर आगे चल पड़ा। रात जोरहाट में रहे तो सबेरे चल कर सीधे डिबरूगढ़ जाना होगा, रात शिवसागर में रह कर सबेरे वह मन्दिर और ताल को देख सकेगा। शिवसागर, रूद्रसागर, जयसागर - कैसे सुन्दर नाम है। सागर कहलाते हैं तो बड़े-बड़े ताल होंगे — और प्रत्येक के किनारे पर बना हुआ मन्दिर कितना सुन्दर दीखता होगा... असमिया लोग हैं भी बड़े साफ-सुथरे, उनके गाँव इतने स्वच्छ होते हैं तो मन्दिरों का क्या कहना...

शिव-दोल, रूद्र-दोल, जय-दोल — सागर-तट के मन्दिर को दोल कहना कैसी सुन्दर कवि - कल्पना है। सचमुच जब ताल के जल में, मन्द-मन्द हवा से सिहरती चाँदनी में, मन्दिर की कुहासे-सी परछाई डोलती होगी, तब मन्दिर सचमुच सुन्दर हिंडोले-सा दीखता होगा... इसी उत्साह को लिए वह बढ़ता जा रहा था — तीस-पैंतीस मील का क्या है -- घण्टेभर की बात है....

लेकिन सात-एक मील बाकी थे कि गाड़ी कच्ची सड़क के कीचड़ में फँस गयी। पहले तो स्टीयरिंग ऐसा मक्खन-सा नरम चला मानो गाड़ी नहीं, नाव की पतवार हो और नाव बड़े से भँवर में हचकोले खाती झूम रही हो; फिर लेफ्टिनेंट के सँभालते-सँभालते गाड़ी धीमी हो कर रूक गयी, यद्यपि पहियों के घूमते रह कर कीचड़ उछालने की आवाज आती रही...

इसके लिए साधारणतः तैयार होकर ही ट्रक चलते थे। तुरन्त बेलचा निकाला गया, कीचड़ साफ करने की कोशिश हुई लेकिन कीचड़ गहरा और पतला था, बेलचे का नहीं, पम्प का काम था। फिर टायरों पर लोहे की जंजीरें चढ़ायी गयीं। पहिये घूमने पर कहीं पकड़ने को कुछ मिले तो गाड़ी आगे ठिले — मगर चलने की कोशिश पर लीक गहरी कटती गयी और ट्रक धँसता गया, यहाँ तक कि नीचे का गीयर-बक्स भी कीचड़ में डूबने को हो गया..... मानों इतना काफी न हो; तभी इंजन ने दो-चार बार फट्-फट्-फट्र का शब्द किया और चुप हो गया — फिर स्टार्ट ही न हुआ....

अँधेरे में गुरूंग का मुँह दीखता था और लेफ्टिनेंट ने मन-ही-मन सन्तोष किया कि गुरूंग को उसका मुँह भी नहीं दीखता होगा..... गुरूंग गोरखा था और फौजी गोरखों की भाषा कम-से-कम भावना की दृष्टि से गूँगी होती है मगर आँखें या चेहरे की झुर्रियाँ सब समय गूँगी नहीं होतीं.... और इस समय अगर उनमें लेफ्टिनेंट सा'ब की भावुक उतावली पर विनोद का आभास भी दीख गया, तो दोनों में मूक वैमनस्य की एक दीवार खड़ी हो जायेगी....

तभी सागर ने दस्तानें फेंक कर कहा, ''हम कुछ बन्दोबस्त करेगा'' और फिच्च-फिच्च कीचड़ में जमा-जमा कर बूट रखता हुआ आगे चढ़ चला।

कहने को तो उसने कह दिया, पर बन्दोबस्त वह क्या करेगा रात में? बादल फिर घिरने लगे; शिवसागर सात मील है तो दूसरे सागर भी तीन–चार मील तो होंगे और क्या जाने कोई बस्ती भी होगी कि नहीं; और जयसागर तो बड़े बीहड़ मैदान के बीच में हैं.... उसने पढ़ा था कि उस मैदान के बीच में ही रानी जयमती को यन्त्रणा दी गयी थी कि वह अपने पति का पता बता दे। पाँच लाख आदमी उसे देखने इकट्ठे हुए थे और कई दिनों तक रानी को सारी जनता के सामने सताया तथा अपमानित किया गया था।

एक बात हो सकती है कि पैदाल ही शिवसागर चला जाये। पर उस कीचड़ में फिच्च–फिच्च सात मील – उसी में भोर हो जायेगा, फिर तुरत गाड़ी के लिए वापस जाना पड़ेगा.... फिर नहीं, वह बेकार है। दूसरी सूरत.... रात गाड़ी में ही सोया जा सकता है। पर गुरूंग? वह भूखा ही होगा.... कच्ची रसद तो होगी पर बनायेगा कैसे? सागर ने तो गहरा नाश्ता किया था, उसके पास बिस्कुट वगैरह भी है.... पर अफसरी का बड़ा कायदा है कि अपने मातहत को कम–से–कम खाना तो ठीक खिलाये... शायद आस–पास कोई गाँव हो ––

कीचड़ में कुछ पता न लगता था कि सड़क कितनी है और अगल–बगल का मैदान कितना। पहले तो दो–चार पेड़ भी किनारे–किनारे थे, पर अब वह भी नहीं....दोनो ओर सपाट सूना मैदान था और दूर के पेड़ भी ऐसे धुँधले हो गये थे कि भ्रम हो, कहीं चश्मे पर नमी की ही करामात तो नहीं है.... अब रास्ता जानने का एक ही तरीका था, जहाँ कीचड़ कम गहरा हो वही सड़क; इधर–उधर हटते ही पिंडलियाँ तक पानी में डूब जाती थीं और तब वह फिर धीरे–धीरे पैर से टटोल कर मध्य में आ जाता था....

यह क्या है? हाँ, पुल–सा है — यह रेलिङ् हैं। मगर दो पुल है समकोण बनाते हुए....क्या दो रास्ते है? कौन–सा पकड़ें?

एक कुछ ऊँची जमीन की ओर जाता जान पड़ता था। ऊँचे पर कीचड़ कम होगा, इस बात का ही आकर्षण काफी था; फिर ऊँचाई पर से शायद कुछ दीख भी जाये। सागर उधर ही को चल पड़ा। पुल के पार ही सड़क एक ऊँची उठी हुई पटरी–सी बन गयी, तनिक आगे इसमें कई मोड़ से आये, फिर जैसे धन–खेत में कहीं–कहीं कई–एक छोटे–छोटे खेत एक–साथ पड़ने पर उनकी मेड़ मानो एक–साथ ही कई ओर जाती जान पड़ती है, इसी तरह वह पटरी भी कई ओर को जाती–सी जान पड़ी। सागर मानो एक बिन्दु पर खड़ा है, जहाँ से कई रास्ते हैं, प्रत्येक के दोनों ओर जल.... मानो अथाह समुद्र में पटरियाँ बिछा दी गयीं हों....

सागर ने एक बार चारों ओर नजर दौड़ायी। शून्य। उसने फिर आँखों की कोरें कस कर झाँक कर देखा, बादलों की रेखा में एक कुछ अधिक घनी–सी रेखा उसे दीखी..... बादल ऐसा समकोण नहीं हो सकता। नहीं, यह इमारत है.... सागर उसी ओर को बढ़ने लगा। रोशनी नहीं दीखती, पर शायद भीतर कोई हो ––

पर ज्यों–ज्यों वह निकट आता गया उसकी आशा धुँधली पड़ती गयी। वह असमिया घर नहीं हो सकता — इतने बड़े घर अब कहाँ हैं — फिर यहाँ, जहाँ बाँस और फूस के बासे ही हो सकते हैं, इंट के घर नहीं— अरे, यह तो कोई बड़ी इमारत है — क्या हो सकती है?

मानो उसके प्रश्न के उत्तर में ही सहसा आकाश में बादल कुछ फीका पड़ा और सहसा धुँधला–सा चाँद भी झलक गया। उसके अधूरे प्रकाश में सागर ने देखा — एक बड़ी–सी, ऊपर से चपटी–सी इमारत — मानो दुमंजिली बारादरी.... बरामदे से, जिसमें कई–एक महराबें; एक के बीच से मानो आकाश झाँक दिया....

सागर ठिठक कर क्षण–भर उसे देखता रहा। सहसा उसके भीतर कुछ जागा जिसने इमारत को पहचान लिया –– यह तो अहोम राजाओं का क्रीड़ा भवन है — क्या नाम है? — रंग–महल, नहीं, हवा–महल — नहीं, ठीक याद नहीं आता, पर यह उस बड़े पठार के किनारे पर है जिसमें जयमती ––

एकाएक हवा सनसना उठी। आस–पास के पानी में जहाँ–तहाँ नरसल के झोंप थे, झुक कर फुसफुसा उठे जैसे राजा के आने पर भृत्योंसेवकों में एक सिहरन दौड़ जाये... एकाएक यह लक्ष्य कर के कि चाँद फिर छिपा जा रहा है, सागर ने घूमकर चीन्ह लेना चाहा कि ट्रक किधर कितनी दूर है, पर वह अभी यह भी तय नहीं कर सका था कि कहाँ क्षितिज है जिसके नीचे पठार है और ऊपर आकाश या मेघाली कि चाँद छिप गया और अगर उसने खूब अच्छी तरह आकार पहचान न रखा होता तो रंग–महल या हवा–महल भी खो जाता।

महल में छत होगी। वहाँ सूखा होगा। वहाँ आग भी जल सकती है। शायद बिस्तर लाकर सोया भी जा सकता है। ट्रक से तो यही अच्छा रहेगा — गाड़ी को तो कोई खतरा नहीं —
सागर जल्दी–जल्दी आगे बढ़ने लगा।

रंग–महल बहुत बड़ा हो गया था। उसकी कुरसी ही इतनी ऊँची थी कि असमिया घर उसकी ओट छिप जाये। पक्के फर्श पर पैर पड़ते ही सागर ने अनुमान किया, तीस–पैंतीस सीढ़ियाँ होंगी.... सीढ़ियाँ चढ़ कर वह असली ड्योढ़ी तक पहुँचेगा।

ऊपर चढ़ते–चढ़ते हवा चीख उठी। कई मेहराबों से मानो उसने गुर्रा कर कहा, "कौन हो तुम, इतनी रात गये मेरा एकान्त भंग करनेवाले?" विरोध के फूत्कार का यह थपेड़ा इतना सच्चा था कि सागर मानो फुसफुसा ही उठा, "मैं — सागर, आसरा ढूँढ़ता हूँ — रैनबसेरा —"
पोपले मुँह का बूढ़ा जैसे खिसिया कर हँसे; वैसे ही हवा हँस उठी।
"ही —ही — ही –– खी –– खी —खीः – यह हवा–महल है, हवा–महल — अहोम राजा का लीलागार — अहोम राजा का — व्यसनी, विलासी, छहों इन्द्रियों से जीवन की लिसड़ी बोटी से छहों रसों को चूस कर उसे झँझोड़ कर फेंक देने वाले नृशंस लीलापिशाचों का — यहाँ आसरा — यहाँ बसेरा.... ही —ही –– ही — खी — खी —खीः।"

सीढ़ियों की चोटी से मेहराबों के तले खड़े सागर ने नीचे और बाहर की ओर देखा। शून्य, महाशून्य; बादलों में बसी नमी और ज्वाला से प्लवन, वज्र और बिजली से भरा हुआ शून्य। क्या उसी की गुर्राहट हवा में हैं, या कि नीचे फैले नंगे पठार की, जिसके चूतड़ों पर दिन–भर सड़ पानी के कोड़ों की बौछार पड़ती रही है? उसी पठार का आक्रोश, सिसकन, रिरियाहट?

इसी जगह, इसी मेहराब के नीचे खड़े कभी अधनंगे अहोम राज ने अपने गठीले शरीर को दर्प से अकड़ा कर, सितार की खूँटी की तरह उमेठ कर, बाँयें हाथ के अँगूठे को कमरबन्द में अटका कर, सीढ़ियों पर खड़े क्षत–शरीर राजकुमारों को देखा होगा, जैसे कोई साँड़ खसिया बैलों के झुण्ड को देखे, फिर दाहिने हाथ की तर्जनी को उठा कर दाहिने भ्रू को तनिक–सा कुञ्चित करके, संकेत से आदेश किया होगा कि यन्त्रणा को और कड़ी होने दो।

लेफ्टिनेण्ट सागर की टाँगें मानो शिथिल हो गयीं। वह सीढ़ी पर बैठ गया, पैर उसने नीचे को लटका दिये, पीठ मेहराब के निचले हिस्से से टेक दी। उसका शरीर थक गया था दिन–भर स्टीयरिंग पर बैठे–बैठे और पौने दो सौ मील तक कीचड़ की सड़क में बनी लीकों पर आँखें जमाये रहने से आँखें भी ऐसे चुनचुना रही थीं मानो उनमें बहुत बारीक पिसी हुई रेत डाल दी गई हो — आँखें बन्द भी वह करना चाहे और बन्द करने में क्लेश भी हो — वह आँख खुली रखकर ही किसी तरह दीठ को समेट ले, या बन्द करके देखता रह सके, तो....

अहोम राजा चूलिक–फा.... राजा में ईश्वर का अंश होता है, ऐसे अन्धविश्वास पालनेवाली अहोम जाति के लिए यह मानना स्वाभाविक ही था कि राजकुल का अक्षत–शरीर व्यक्ति ही राजा हो सकता है, जिसके शरीर में कोई क्षत है, उसमें देवत्व का अंश कैसे रह सकता है?

देवत्व — और क्षुण्ण? नहीं। ईश्वरत्व अक्षुण्ण ही होता है और राजा शरीर अक्षत....

अहोम परम्परा के अनुसार कुल-घात के सेतु से पार होकर चूलिक-फा भी राजसिंहासन पर पहुँचा। लेकिन वह सेतु सदा के लिए खुला रहे, इसके लिए उसने एक अत्यन्त नृशंस उपाय सोचा। अक्षत-शरीर राजकुमार ही राजा हो सकते हैं, अतः सारे अक्षत-शरीर राजकुमार उसके प्रतिस्पर्धी और सम्भाव्य घातक हो सकते हैं। उनके निराकरण का उपाय यह है कि सब का एक-एक कान या छिगुनी कटवा ली जाये — हत्या भी न करनी पड़े, मार्ग के रोड़े भी हट जायें। लाठी न टूटे, साँप भी मरे नहीं पर उसके विषदन्त उखड़ जायें। क्षत-शरीर, कनकटे या छिगुनी-कटे राजकुमार राजा हो ही नहीं सकेंगे, तब उन्हें राज-घात का लोभ भी न सतायेगा -

चूलिक-फा ने सेनापति को बुला कर गुप्त आज्ञा दी कि रात में चुपचाप राज-कुल के प्रत्येक व्यक्ति के कान (या छिगुनी) काट कर प्रातःकाल दरबार में राज-चरणों में अर्पित किये जायें।

और प्रातःकाल वहीं रंगमहल की सीढ़ियों पर, उसके चरणों में यह वीभत्स उपहार चढ़ाया गया होगा — और उसने उसी दर्प-भरी अवज्ञा में, होठों की तार-सी तनी पतली रेखा को तनिक मोड़-सी देकर, शब्द किया होगा, 'हूँ' और रक्त-सने थाल को पैर से तनिक-सा ठुकरा दिया होगा -

चूलिक-फा — निष्कंटक राजा - लेकिन नहीं यह तीर-सा कैसा साल गया? एक राजकुमार भाग गया --अक्षत -

लेफ्टिनेण्ट सागर मानो चूलिका-फा के चीत्कार को स्पष्ट सुन सका। अक्षत - भाग गया?

वहाँ सामने — लेफ्टिनेण्ट ने फिर आँखों को कस कर बादलों की दरार को भेदने की कोशिश की -- वहाँ सामने कहीं नगा पर्वत श्रेणी है। वनवासी वीर नगा जातियों से अहोम राजाओं की कभी नहीं बनी —वे अपने पर्वतों के नंगे राजा थे, ये अपनी समतल भूमि के कौशेय पहन कर भी अधनंगे रहने वाले महाराजा, पीढ़ियों के युद्ध के बाद दोनों ने अपनी-अपनी सीमाएँ बाँध ली थीं और कोई किसी से छेड़-छाड़ नहीं करता था — केवल सीमा-प्रदेश पर पड़ने वाली नमक की झीलों के लिए युद्ध होता था क्योंकि नमक दोनों को चाहिए था। पर अहोम राजद्रोही नगा जातियों के सरदार के पास आश्रय पाये — असह्य है - असह्य -

हवा ने साँय-साँय कर के दाद दी....असह्य। मानो चूलिक-फा के विवश क्रोध की लम्बी साँस सागर की देह को छू गयी— यहीं खड़े होकर उसने वह सांस खींची होगी — उस मेहराब ही की ईंट-ईंट में तो उसके सुलगते वायु-कण बसे होंगे?

लेकिन जायेगा कहाँ - उसकी वधू तो है? वह जानेगी उसका पति कहाँ है, उसे जानना होगा - जयमती अहोम राज्य की अद्वितीय सुन्दरी — जनता की लाडली — होने दो - चूलिक-फा राजा है, वह शत्रुविहीन निष्कण्टक राज्य करना चाहता है - जयमती को पति का पता देना होगा — उसे पकड़वाना होगा — चूलिक-फा उसका प्राण नहीं चाहता, केवल एक कान चाहता है, या एक छिगुनी -- चाहें बायें हाथ की भी छिगुनी - क्यों नहीं बतायेगी जयमती? वह प्रजा है; प्रजा की हड्डी-बोटी पर भी राजा का अधिकार है -

बहुत ही छोटे एक क्षण के लिए चाँद झलक गया। सागर ने देखा, सामने खुला, आकारहीन, दिशाहीन, मानातीत निरा विस्तार; जिसमें नरसलों की सायँ-सायँ, हवा का असंख्य कराहटों के साथ रोना, उसे घेरे हुए मेहराबों की क्रुद्ध साँपों की-सी फुँफकार... चाँद फिर छिप गया और पानी की नयी बौछार के साथ सागर ने आँखें बन्द कर लीं... असंख्य सहमी हुई कराहें और पानी की मार ऐसे जैसे नंगे चूतड़ों पर स-दिया प्रान्त के लचीले बेतों की सड़ाक्-सड़ाक्। स-दिया अर्थात् शव-दिया? कब किसका शव वहाँ मिलता था याद नहीं आता, पर था शव जरूर — किसका शव....

नहीं, जयमती का नहीं। वह तो — वह तो उन पाँच लाख बेबस देखने वालों के सामने एक लकड़ी के मंचपर खड़ी है, अपनी ही अस्पृश्य लज्जा में, अभेद्य मौन में, अटूट संकल्प और दुर्दमनीय स्पर्द्धा में लिपटी हुई; सात दिन की भूखी-प्यासी,

घाम और रक्त की कीच से लथपथ, लेकिन शेषनाग के माथे में ठुकी हुई कोली की भाँति अडिग, आकाश को छूने वाली प्रातःशिखा–सी निष्कम्प....

लेकिन यह क्या? सागर तिलमिला कर उठ बैठा। मानों अँधेरे में भुतही–सी दीख पड़नेवाली वह लाखों की भीड़ भी काँप कर फिर जड़ हो गयी — जयमती के गले से एक बड़ी तीखी करूण चीख निकल कर भारी वायु–मण्डल को भेद गयी — जैसे किसी थुलथुल कछुए के पेट को मछेरे की बर्छी.... सागर ने बड़े जोर से मुट्ठियाँ भींच ली.... क्या जयमती टूट गयी? नहीं, यह नहीं हो सकता, नरसलों की तरह बिना रीढ़ के गिरती–पड़ती इस लाख जनता के बीच वही तो देवदारू–सी तनी खड़ी है, मानवता की ज्योतिःशलाका....

सहसा उसके पीछे से एक दृप्त, रूखी, अवज्ञा–भरी हँसी से पीतल की तरह झनझनाते स्वर ने कहा, "मैं राजा हूँ –"

सागर ने चौक कर मुड़ कर देखा ––सुनहला, रेशमी वस्त्र, रेशमी उत्तरीय, सोने की कंठी और बड़े–बड़े अनगढ़ पन्नों की माला पहने भी अधनंगा एक व्यक्ति उसकी और ऐसी दया–भरी अवज्ञा से देख रहा था, जैसे कोई राह किनारे के कृमि–कीट को देखे। उसका सुगठित शरीर, छेनी से तराशी हुई चिकनी मांस–पेशियाँ, दर्प–स्फीत नासाएँ, तेल से चमक रही थीं, आँखों की कोर में लाली थी जो अपनी अलग अलग बात कहती थी –– मैं मद भी हो सकती हूँ, गर्व भी, विलास–लोलुपता भी और निरी नृशंस नर–रक्त–पिपासा भी....

सागर टुकुर–टुकुत देखता रह गया। न उड़ सका, न हिल सका। वह व्यक्ति फिर बोला, "जयमती? हुँः , जयमती – अँगूठे और तर्जनी की चुटकी बना कर उसने झटक दी, मानो हाथ का मैल कोई मसल कर फेंक दे। बिना क्रिया के भी वाक्य सार्थक होता है, कम–से–कम राजा का वाक्य.....

सागर ने कहना चाहा, "नृशंस– राक्षस– " लेकिन उसकी आँखों की लाली में एक बाध्य करनेवाली प्रेरणा थी, सागर ने उसकी दृष्टि का अनुसरण करते हुए देखा, जयमती सचमुच लड़खड़ा गयी थी। चीखने के बाद उसका शरीर ढीला होकर लटक गया था, कोड़ों की मार रूक गयी थी, जनता साँस रोके सुन रही थी.....

सागर ने भी साँस रोक ली। तब मानो स्तब्धता में उसे अधिक स्पष्ट दीखने लगा, जयमती के सामने एक नगा बाँका खड़ा था, सिर पर कलगी, गले में लकड़ी के मुंड़ों की माला, मुँह पर रंग की व्याघ्रोपम रेखाएँ, कमर के घास की चटाई की कौपीन, हाथ में बर्छी। और वह जयमती से कुछ कह रहा था।

सागर के पीछे एक दर्प–स्फीत स्वर फिर बोला, "चूलिक–फा के विधान में हस्तक्षेप करनेवाला यह ढीठ नगा कौन है? पर सहसा उस नंगे व्यक्ति का स्वर सुनाई पड़ने लगा और सब चुप हो गये.....
"जयमती, तुम्हारा साहस धन्य है। जनता तुम्हें देवी मानती है। पर और अपमान क्यों सहो? राजा का बल अपार है –– कुमार का पता बता दो और मुक्ति पाओ –"

अब की बार रानी चीखी नहीं। शिथिल–शरीर, फिर एक बार कराह कर रह गयी।

नगा वीर फिर बोला, "चुलिक–फा केवल अपनी रक्षा चाहता है, कुमार के प्राण नहीं। एक कान दे देने में क्या है? या छिगुनी? उतना तो भी खेल में या मल्ल–युद्ध में भी जा सकता है।"
रानी ने कोई उत्तर नहीं दिया।
"चूलिक–फा डरपोक है, डर नृशंस होता है। पर तुम कुमार का पता बता कर अपनी मान–रक्षा और पति की प्राण–रक्षा कर सकती हो।"
सागर ने पीछे सुना, "हुँः" , और मुड़ कर देखा, उस व्यक्ति के चेहरे पर एक क्रूर कुटिल मुसकान खेल रही है।

सागर ने उद्धत होकर कहा, "हुँः क्या?"
वह व्यक्ति तन कर खड़ा हो गया, थोड़ी देर सागर की ओर देखता रहा, मानो सोच रहा हो, इसे क्या वह उत्तर दे? फिर और भी कुटिल ओठों के बीच से बोला, "मैं चूलिक-फा, डरपोक! अभी जानेगा। पर अभी तो मेरे काम की कह रहा है – –"
नगा वीर जयमती के और निकट जाकर धीरे-धीरे कुछ कहने लगा।
चूलिक फा ने भौं सिकोड़ कर कहा क्या फुसफुसा रहा है?
सागर ने आगे झुक कर सुन लिया।
"जयमती, कुमार तो अपने मित्र नगा सरदार के पास सुरक्षित है। चूलिक तो उसे तो उसे पकड़ ही नहीं सकता, तुम पता बता कर अपनी रक्षा क्यों न करो? देखो, तुम्हारी कोमल देह ––"

आवेश में सागर खड़ा हो गया, क्योंकि उस कोमल देह में एक बिजली-सी दौड़ गयी और उसने तन कर, सहसा नगा वीर की ओर उन्मुख होकर कहा, "कायर, नपुंसक तुम नगा कैसे हुए? कुमार तो अमर है, कीड़ा चूलिक-फा उन्हें कैसे छुएगा? मगर क्या लोग कहेंगे, कुमार की रानी जयमती ने देह की यन्त्रणा से घबड़ा कर उसका पता बता दिया? हट जाओ, अपना कलंकी मुँह मेरे सामने से दूर करो – "

जनता में तीव्र सिहरन दौड़ गयी। नरसल बड़ी जोर से काँप गये; गँदले पानी में एक हलचल उठी जिसके लहराते गोल वृत्त फैले कि फैलते ही गये; हवा फुँककार उठी, बड़े जोर की गड़गड़ाहट हुई। मेघ और काले हो गये — यह निरी रात है कि महानिशा, कि यन्त्रणा की रात — सातवीं रात, कि नवीं रात? और जयमती क्या अब बोल भी सकती है, क्या यह उसके दृढ़ संकल्प का मौन है, कि अशक्तता का? और यह वही भीड़ है कि नयी भीड़, वही नगा वीर, कि दूसरा कोई, कि भीड़ में कई नगे बिखरे है....

चूलिक-फा ने कटु स्वर में कहा, "फिर आया वह नंगा?"
नगा वीर ने पुकार कर कहा, "जयमती – रानी जयमती – "
रानी हिली-डुली नहीं।
वीर फिर बोला, "रानी – मैं उसी नगा सरदार का दूत हूँ, जिसके यहाँ कुमार ने शरण ली है। मेरी बात सुनो।"
रानी का शरीर काँप गया। वह एक टक आँखों से उसे देखने लगी, कुछ बोली नहीं। सकी नहीं।
"तुम कुमार का पता दे दो। सरदार उसकी रक्षा करेंगे। वह सुरक्षित है।"
रानी की आँखों में कुछ घना हो आया। बड़े कष्ट से उसने कहा, "नीच – "एक बार उसने ओठों पर जीभ फेरी, कुछ और बोलना चाहा, पर सकी नहीं।
चूलिक-फा ने वहीं से आदेश दिया, "पानी दो इसे –– बोलने दो – "

किसी ने रानी के ओठों की ओर पानी बढ़ाया। वह थोड़ी देर मिट्टी के कसोरे की ओर वितृष्ण दृष्टि से देखती रही, फिर उसने आँख भर कर नगा युवक की ओर देखा, फिर एक घूँट पी लिया। तभी चूलिक-फा ने कहा, "बस, एक-एक घूँट, अधिक नहीं – "

रानी ने एक बार दृष्टि चारों ओर लाख-लाख जनता की ओर दौड़ायी। फिर आँखें नगा युवक पर गड़ा कर बोली, "कुमार सुरक्षित है। और कुमार की यह लाख-लाख प्रजा — जो उनके लिए आँखें बिछाये है –– एक नेता के लिए, जिसके पीछे चल कर आततायी का राज्य उलट दे — जो एक आदर्श माँगती है — मैं उसकी आशा तोड़ दूँ –– उसे हरा दूँ — कुमार को हरा दूँ?"
वह लक्षण भर चुप हुई। चूलिक-फा ने एक बार आँख दौड़ा कर सारी भीड़ को देख लिया। उसकी आँख कहीं टिकी नहीं .... मानो उस भीड़ में उसे टिकने लायक कुछ नहीं मिला, जैसे रेंगते कीड़ों पर दीठ नहीं जमती.....

नगा ने कहा, "प्रजा तो राजा चूलिक-फा की है न?"

रानी ने फिर उसे स्थिर दृष्टि से देखा। फिर धीरे-धीरे कहा, "चूलिक-" और फिर कुछ ऐसे भाव से अधूरा छोड़ दिया कि उसके उच्चारण से मुँह दूषित हो जायेगा। फिर कहा, "यह प्रजा कुमार की है — जा कर नगा सरदार से कहना कि कुमार — वह फिर रूक गयी। पर तू — तू नगा नहीं, तू तो उस — उस गिद्ध की प्रजा है -- जा उसके गन्दे पंजे को चाट -

रानी की आँखें चूलिक-फा की ओर मुड़ी पर उसकी दीठ ने उसे छुआ नहीं, जैसे किसी गिलगिली चीज की और आँखें चढ़ाने में भी घिन आती है.... नगा ने मुसकरा कर कहा, "कहाँ है मेरा राजा - " चूलिक-फा ने वहीं से पुकार कर कहा, "मैं यह हूँ -- अहोम राज्य का एकछत्र शासक - " नगा युवक सहसा उसके पास चला आया।

सागर ने देखा, भीड़ का रंग बदल गया है। वैसा ही अन्धकार, वैसा ही अथाह प्रसार, पर उसमें जैसे कहीं व्यवस्था, भीड़ में जगह-जगह नगा दर्शक बिखरे, पर बिखरेपन में भी एक माप.....
नगा ने पास से कहा, "मेरे राजा - "

एकाएक बड़े जोर की गड़गड़ाहट हुई। सागर खड़ा हो गया.... उसने आँखें फाड़ कर देखा, नगा युवक सहसा बर्छी के सहारे कई-एक सीढ़ियाँ फाँद कर चूलिक-फा के पास पहुँच गया है, बर्छी सीढ़ी की ईंटों की दरार में फँसी रह गयी है, पर नगा चूलिक-फा को धक्के से गिरा कर उसकी छाती पर चढ़ गया है; उधर जनता में एक बिजली कड़क गयी है, "कुमार की जय - "किसीने फाँद कर मंच पर चढ़ कर कोड़ा लिये जल्लादों को गिरा दिया है, किसीने अपना-अंग-वस्त्र जयमती पर डाला है और कोई उसके बन्धन की रस्सी टटोल रहा है....

पर चूलिक-फा और नगा... सागर मन्त्र-मुग्ध-सा खड़ा था; उसकी दीठ चूलिक-फा पर जमी थी.... सहसा उसने देखा, नगा तो निहत्था है, पर नीचे पड़े चूलिक-फा के हाथ में एक चन्द्रकार डाओ है जो वह नगा के कान के पीछे साध रहा है -- नगा को ध्यान नहीं है; मगर चूलिक-फा की आँखों में पहचान है कि नगा और कोई नहीं, स्वयं कुमार है; और वह डाओ साध रहा है....
कुमार छाती पर है, पर मर जायेगा.... या क्षत भी हो गया तो.... चूलिक-फा ही मर गया तो भी अगर कुमार क्षत हो गया तो — सागर उछला। वह चूलिक-फा का हाथ पकड़ लेगा — डाओ छीन लेगा।

पर वह असावधानी से उछला था, उसका कीचड़-सना बूट सीढ़ी पर फिसल गया और वह लुढ़कता-पुढ़कता नीचे जा गिरा।

अब? चूलिक-फा का हाथ सध गया है, डाओ पर उसकी पकड़ कड़ी हो गयी है, अब —

लेफ्टिनेन्ट सागर ने वहीं पड़े-पड़े कमर से रिवाल्वर खींचा और शिस्त लेकर दाग दिया.... धाँय -

धुआँ हो गया। हटेगा तो दीखेगा - पर धुआँ हटता क्यों नहीं? आग लग गयी -- रंग-महल जल रहा है, लपटें इधर-उधर दौड़ रही है। क्या चूलिक-फा जल गया? -- और कुमार -- क्या यह कुमार की जयध्वनि है? कि जयमती की यह अद्‌भुत, रोमांचकारी गूँज, जिसमें मानो वह डूबा जा रहा है, डूबा जा रहा है -- नहीं, उसे सँभलना होगा।

लेफ्टिनेन्ट सागर सहसा जाग कर उठ बैठा। एक बार हक्का-बक्का होकर चारों ओर देखा, फिर उसकी बिखरी चेतना केन्द्रित हो गयी। दूर से दो ट्रकों की दो जोड़ी बत्तियाँ पूरे प्रकाश से जगमगा रही थीं, और एक से सर्च-लाइट इधर-उधर भटकती हुई रंग-महल की सीढ़ियों को क्षण-क्षण ऐसे चमका देती थी मानो बादलों से पृथ्वी तक किसी वज्रदेवता के उतारने का मार्ग खुल जाता है। दोनों ट्रकों के हार्न पूरे जोर से बजाये जा रहे थे।

बौछार से भीगा हुआ बदन झाड़ कर लेफ्टिनेन्ट सागर उठ खड़ा हुआ। क्या वह रंग-महल की सीढ़ियों पर सो गया था? एक बार आँखें दौड़ा कर उसने मेहराब को देखा, चाँद निकल आया था, मेहराब की ईंटें दीख रही थीं। फिर धीरे-धीरे

उतरने लगा।

नीचे से आवाज आयी, "सा'ब, दूसरा गाड़ी आ गया, टो कर के ले जायेगा – "

सागर ने मुँह उठा कर सामने देखा, और देखता रह गया। दूर चौरस ताल चमक रहा था, जिसके किनारे पर मन्दिर भागते बादलों के बीच में काँपता हुआ, मानो शुभ्र चाँदनी से ढका हुआ हिंडोला –– क्या एक रानी के अभिमान का प्रतीक, जिसने राजा को बचाया, या एक नारी के साहस का, जिसने पुरूष का पथ–प्रदर्शन किया; या कि मानव मात्र की अदम्य स्वातंत्र प्रेरणा का अभीत, अज्ञेय, जय–दोल?

## "टोबा टेक सिंह" सआदत हसन मंटो

बंटवारे के दो–तीन साल बाद पाकिस्तान और हिंदुस्तान की हुकूमतों को ख़याल आया कि सामान्य क़ैदियों की तरह पागलों का भी तबादला होना चाहिए, यानी जो मुसलमान पागल हिंदुस्तान के पागलख़ानों में हैं, उन्हें पाकिस्तान पहुंचा दिया जाए और जो हिंदू और सिख पाकिस्तान के पागलख़ानो में हैं, उन्हें हिंदुस्तान के हवाले कर दिया जाए।

मालूम नहीं, यह बात माक़ूल थी या ग़ैर माक़ूल, बहरहाल दानिशमंदों के फ़ैसले के मुताबिक़ इधर–उधर ऊंची सतह की कान्फ़्रेंस हुई और बिल आख़िर पागलों के तबादले के लिए एक दिन मुक़र्रर हो गया।

अच्छी तरह छानबीन की गई – वे मुसलमान पागल जिनके संबंधी हिंदुस्तान ही में थे, वहीं रहने दिए गए; बाक़ी जो बचे, उनको सरहद पर रवाना कर दिया गया। पाकिस्तान से चूंकि क़रीब–क़रीब तमाम हिंदू–सिख जा चुके थे, इसलिए किसी को रखने–रखाने का सवाल ही पैदा नहीं हुआ; जितने हिंदू-सिख पागल थे, सबके-सब पुलिस की हिफ़ाज़त में बॉर्डर पर पहुंचा दिए गए।

उधर का मालूम नहीं लेकिन इधर लाहौर के पागलख़ाने में जब इस तबादले की ख़बर पहुंची तो बड़ी दिलचस्प गपशप होने लगी।

एक मुसलमान पागल जो बारह बरस से, हर रोज़, बाक़ायदगी के साथ 'ज़मींदार' पढ़ता था, उससे जब उसके एक दोस्त ने पूछा ः "मौलवी साब, यह पाकिस्तान क्या होता है... ?" तो उसने बड़े ग़ौरो–फ़िक्र के बाद जवाब दियाः "हिंदुस्तान में एक ऐसी जगह है जहां उस्तरे बनते हैं... !" यह जवाब सुनकर उसका दोस्त संतुष्ट हो गया।

इसी तरह एक सिख पागल ने एक दूसरे सिख पागल से पूछा ः "सरदार जी, हमें हिंदुस्तान क्यों भेजा जा रहा है... हमें तो वहां की बोली नहीं आती... ।" दूसरा मुस्कराया; "मुझे तो हिंदुस्तोड़ों की बोली आती है, हिंदुस्तानी बड़े शैतानी आकड़ आकड़ फिरते हैं... ।"

एक दिन, नहाते–नहाते, एक मुसलमान पागल ने 'पाकिस्तान ः 'ज़िंदाबाद' का नारा इस ज़ोर से बुलंद किया कि फ़र्श पर फिसलकर गिरा और बेहोश हो गया।

बाज़ पागल ऐसे भी थे जो पागल नहीं थे; उनमें बहुतायत ऐसे क़ातिलों की थी जिनके रिश्तेदारों ने अफ़सरों को कुछ दे दिलाकर पागलख़ाने भिजवा दिया था कि वह फांसी के फंदे से बच जाएं; यह पागल कुछ–कुछ समझते थे कि हिंदुस्तान क्यों तक़्सीम हुआ है और यह पाकिस्तान क्या है; लेकिन सही वाक़िआत से वह भी बेख़बर थे; अख़बारों से उन्हें कुछ

पता नहीं चलता था और पहरेदार सिपाही अनपढ़ और जाहिल थे, जिनकी गुफ़्तगू से भी वह कोई नतीजा बरामद नहीं कर सकते थे। उनको सिर्फ़ इतना मालूम था कि एक आदमी मुहम्मद अली जिन्नाह है जिसको क़ायदे-आज़म कहते हैं; उसने मुसलमानी के लिए एक अलहदा मुल्क बनाया है जिसका नाम पाकिस्तान है; यह कहां हैं, इसकी भौगोलिक स्थिति क्या है, इसके मुताल्लिक वह कुछ नहीं जानते थे – यही वजह है कि वह सब पागल जिनका दिमाग़ पूरी तरह बिगड़ा हुआ नहीं हुआ था, इस मखमसे में गिरफ़्तार थे कि वह पाकिस्तान में हैं या हिंदुस्तान में; अगर हिंदुस्तान में हैं तो पाकिस्तान कहां हैं; अगर वह पाकिस्तान में हैं तो यह कैसे हो सकता है कि वह कुछ अर्से पहले यहीं रहते हुए हिंदुस्तान में थे।

एक पागल तो हिंदुस्तान और पाकिस्तान, पाकिस्तान, पाकिस्तान और हिंदुस्तान के चक्कर में कुछ ऐसा गिरफ़्तार हुआ कि और ज़्यादा पागल हो गया। झाड़ू देते-देते वह एक दिन दरख़्त पर चढ़ गया और टहने पर बैठकर दो घंटे मुसलसल तक़रीर करता रहा, जो पाकिस्तान और हिंदुस्तान के नाजुक मसले पर थी... सिपाहियों ने जब उसे नीचे उतरने को कहा तो वह और ऊपर चढ़ गया। जब उसे डराया-धमकाया गया तो उसने कहा : "मैं हिंदुस्तान में रहना चाहता हूं न पाकिस्तान में... मैं इस दरख़्त पर रहूंगा...।" बड़ी देर के बाद जब उसका दौरा सर्द पड़ा तो वह नीचे उतरा और अपने हिंदू-सिख दोस्तों से गले मिल-मिलकर रोने लगा – इस ख़याल से उसका दिल भर आया था कि वह उसे छोड़कर हिंदुस्तान चले जाएंगे...

एक एम•एस-सी• पास रेडियो इंजीनियर में जो मुसलमान था और दूसरे पागलों से बिलकुल अलग-थलग बाग़ की एक खास पगडंडी पर सारा दिन ख़ामोश टहलता रहता था, यह तब्दीली ज़ाहिर हुई कि उसने अपने तमाम कपड़े उतारकर दफ़ादार के हवाले कर दिए और नंग-धड़ंग सारे बाग़ में चलना-फिरना शुरू कर दिया।

चियौट के एक मोटे मुसलमान ने, जो मुस्लिम लीग का सरगर्म कारकुन रह चुका था और दिन में पंद्रह-सोलह मर्तबा नहाया करता था, एकदम यह आदत तर्क कर दी – उसका नाम मुहम्मद अली था, चुनांचे उसने एक दिन अपने जंगले में एलान कर दिया कि वह क़ायदे-आज़म मुहम्मद अली जिन्नाह है; उसकी देखा-देखी एक सिख पागल मास्टर तारा सिंह बन गया – इससे पहले कि खून-ख़राबा हो जाए, दोनों को ख़तरनाक पागल क़रार देकर अलहदा-अलहदा बंद कर दिया गया।

लाहौर का एक नौजवान हिंदू वकील मुहब्बत में नाकाम होकर पागल हो गया था; जब उसने सुना कि अमृतसर हिंदुस्तान में चला गया है तो उसे बहुत दुख हुआ। अमृतसर की एक हिंदू लड़की से उसे मुहब्बत थी जिसने उसे ठुकरा दिया था मगर दीवानगी की हालत में भी वह उस लड़की को नहीं भूला था – वह उन तमाम हिंदू और मुसलमान लीडरों को गालियां देने लगा जिन्होंने मिल-मिलाकर हिंदुस्तान के दो टुकड़े कर दिए हैं, और उसकी महबूबा हिंदुस्तानी बन गई है और वह पाकिस्तानी।... जब तबादले की बात शुरू हुई तो उस वकील को कई पागलों ने समझाया कि वह दिल बुरा न करे... उसे हिंदुस्तान भेज दिया जाएगा, उसी हिंदुस्तान में जहां उसकी महबूबा रहती है – मगर वह लाहौर छोड़ना नहीं चाहता था; उसका ख़याल था कि अमृतसर में उसकी प्रैक्टिस नहीं चलेगी।

योरोपियन वार्ड में दो एंग्लो इंडियन पागल थे। उनको जब मालूम हुआ कि हिंदुस्तान को आज़ाद करके अंग्रेज़ चले गए हैं तो उनको बहुत सदमा हुआ; वह छुप-छुपकर घंटों आपस में इस अहम मसले पर गुफ़्तगू करते रहते कि पागलख़ाने में अब उनकी हैसियत किस किस्म की होगी; योरोपियन वार्ड रहेगा या उड़ा दिया जाएगा; ब्रेक-फास्ट मिला करेगा या नहीं; क्या उन्हें डबल रोटी के बजाय ब्लडी इंडियन चपाटी तो ज़बरदस्ती नहीं खानी पड़ेगी?

एक सिख था, जिसे पागलख़ाने में दाखिल हुए पंद्रह बरस हो चुके थे। हर वक्त उसकी जुबान से यह अजीबो-ग़रीब अल्फ़ाज़ सुनने में आते थे : "औपड़ दि गड़ दि अनैक्स दि बेध्यानां दि मुंग दि दाल ऑफ दी लालटेन...!" वह दिन को सोता था न रात को। पहरेदारों का यह कहना था कि पंद्रह बरस के तबील अर्से में वह एक लहज़े के लिए भी नहीं सोया था; वह लेटता भी नहीं था, अलबत्ता कभी-कभी किसी दीवार के साथ टेक लगा लेता था – हर वक्त खड़ा रहने से उसके पांव सूज गए थे और पिंडलियां भी फूल गई थीं, मगर जिस्मानी तकलीफ़ के बावजूद वह लेटकर आराम नहीं करता था।

हिंदुस्तान, पाकिस्तान और पागलों के तबादले के मुताल्लिक़ जब कभी पागलख़ानों में गुफ़्तगू होती थी तो वह ग़ौर से सुनता था; कोई उससे पूछता कि उसका क्या ख़याल है तो वह बड़ी संजीदगी से जवाब देता ः "औपड़ दि गड़ गड़ दि अनैक्स दि बेध्यानां दि मुंग दि दाल आफ दी पाकिस्तान गवर्नमेंट... !" लेकिन बाद में 'आफ दि पाकिस्तान गवर्नमेंट की जगह 'आफ दि टोबा टेक सिंह गवर्नमेंट' ने ले ली, और उसने दूसरे पागलों से पूछना शुरू कर दिया कि टोबा टेक सिंह कहां हैं, जहां का वह रहनेवाला है। किसी को भी मालूम नहीं था कि टोबा टेक सिंह पाकिस्तान में हैं या हिंदुस्तान में; जो बताने की कोशिश करते थे वह खुद इस उलझाव में गिरफ़्तार हो जाते थे कि सियालकोट पहले हिंदुस्तान में होता था, पर अब सुना है कि पाकिस्तान में हैं... क्या पता है कि लाहौर जो आज पकिस्तान में हैं, कल हिंदुस्तान में चला जाए... या सारा हिंदुस्तान ही पाकिस्तान बन जाए... और यह भी कौन सीने पर हाथ रखकर कह सकता है कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान, दोनों किसी दिन सिरे से ग़ायब ही हो जाएं...

इस सिख पागल के केश छिदरे होकर बहुत मुख़्तसर रह गए थे; चूंकि बहुत कम नहाता था, इसलिए दाढ़ी और सिर के बाल आपस में जम गए थे जिसके बायस उसकी शक्ल बड़ी भयानक हो गई थी; मगर आदमी हिंसक नहीं था – पंद्रह बरसों में उसने कभी किसी से झगड़ा–फ़साद नहीं किया था। पागलख़ाने के जो पुराने मुलाज़िम थे, वह उसके मुताल्लिक़ इतना जानते थे कि टोबा टेक सिंह में उसकी कई ज़मीनें थी; अच्छा खाता–पीता ज़मींदार था कि अचानक दिमाग़ उलट गया, उसके रिश्तेदार उसे लोहे की मोटी–मोटी ज़ंजीरों में बांधकर लाए और पागलख़ाने में दाखिल करा गए।

महीने में एक बार मुलाक़ात के लिए यह लोग आते थे और उसकी ख़ैर–ख़ैरियत दरयाफ़्त करके चले जाते थे; एक मुद्दत तक यह सिलसिला जारी रहा, पर जब पाकिस्तान, हिंदुस्तान की गड़बड़ शुरू हुई तो उनका आना–जाना बंद हो गया।

उसका नाम बिशन सिंह था मगर सब उसे टोबा टेक सिंह कहते थे। उसको यह बिलकुल मालूम नहीं था कि दिन कौन–सा है या कितने साल बीत चुके हैं; लेकिन हर महीने जब उसके निकट संबंधी उससे मिलने के लिए आने के क़रीब होते तो उसे अपने आप पता चल जाता; चुनांचे वह दफादार से कहता कि उसकी मुलाकात आ रही है; उस दिन वह अच्छी तरह नहाता, बदन पर खूब साबुन घिसता और बालों में तेल डालकर कंघा करता; अपने वह कपड़े जो वह कभी इस्तेमाल नहीं करता था, निकलवाकर पहनता और यों सज–बनकर मिलनेवालों के पास जाता। वह उससे कुछ पूछते तो वह ख़ामोश रहता या कभी–कभार 'औपड़ दि गड़ गड़ अनैक्स दि बेध्यानां दि मुंग दि दाल आफ दी लालटेन...' कह देता।

उसकी एक लड़की थी जो हर महीने एक उंगली बढ़ती–बढ़ती पंद्रह बरसों में जवान हो गई थी। बिशन सिंह उसको पहचानता ही नहीं था – वह बच्ची थी जब भी अपने आप को देखकर रोती थी, जवान हुई तब भी उसकी आंखों से आंसू बहते थे।

पाकिस्तान और हिंदुस्तान का किस्सा शुरू हुआ तो उसने दूसरे पागलों से पूछना शुरू किया कि टोबा टेक सिंह कहां हैं; जब उसे इत्मीनानबख़्श जवाब न मिला तो उसकी कुरेद दिन–ब–दिन बढ़ती गई। अब मुलाक़ात भी नहीं होती थी; पहले तो उसे अपने आप पता चल जाता था कि मिलनेवाले आ रहे हैं, पर अब जैसे उसके दिल की आवाज़ भी बंद हो गई थी जो उसे उनकी आमद की ख़बर दे दिया करती थी – उसकी बड़ी ख़्वाहिश थी कि वह लोग आएं जो उससे हमदर्दी का इज़हार करते थे और उसके लिए फल, मिठाइयां और कपड़े लाते थे। वह आएं तो वह उनसे पूछे कि टोबा टेक सिंह कहां हैं... वह उसे यक़ीनन बता देंगे कि टोबा टेक सिंह पाकिस्तान में हैं या हिंदुस्तान में – उसका ख़याल था कि वह टोबा टेक सिंह ही से आते हैं जहां उसकी ज़मीनें हैं।

पागलख़ाने में एक पागल ऐसा भी था जो खुद को खुदा कहता था। उससे जब एक रोज़ बिशन सिंह ने पूछा कि टोबा टेक सिंह पाकिस्तान में हैं या हिंदुस्तान में तो उसने हस्बे–आदत कहकहा लगाया और कहा ः "वह पाकिस्तान में हैं न हिंदुस्तान में, इसलिए कि हमने अभी तक हुक्म ही नहीं दिया... !"

बिशन सिंह ने उस ख़ुदा से कई मर्तबा बड़ी मिन्नत-समाजत से कहा कि वह हुक्म दे दें ताकि झंझट ख़त्म हो, मगर ख़ुदा बहुत मसरूफ़ था, इसलिए कि उसे और बे-शुमार हुक्म देने थे।

एक दिन तंग आकर बिशन सिंह ख़ुदा पर बरस पड़ा : "औपड़ दि गड़ गड़ दि अनैक्स दि बेध्यानां दि मुंग दि दाल आफ वाहे गुरू जी दा खालस एंड वाहे गुरू जी दि फ़तह... !" इसका शायद मतलब था कि तुम मुसलमानों के ख़ुदा हो, सिखों के ख़ुदा होते तो ज़रूर मेरी सुनते।

तबादले से कुछ दिन पहले टोबा टेक सिंह का एक मुसलमान जो बिशन सिंह का दोस्त था, मुलाक़ात के लिए आया; मुसलमान दोस्त पहले कभी नहीं आया था। जब बिशन सिंह ने उसे देखा तो एक तरफ़ हट गया, फिर वापस जाने लगा मगर सिपाहियों ने उसे रोकाः "यह तुमसे मिलने आया है...तुम्हारा दोस्त फ़ज़लदीन है... !"
बिशन सिंह ने फ़ज़लदीन को एक नज़र देखा और कुछ बड़बड़ाने लगा।
फ़ज़लदीन ने आगे बढ़कर उसके कंधे पर हाथ रखा : "मैं बहुत दिनों से सोच रहा था कि तुमसे मिलूं लेकिन फ़ुरसत ही न मिली...तुम्हारे सब आदमी ख़ैरियत से हिंदुस्तान चले गए थे...मुझसे जितनी मदद हो सकी, मैंने की...तुम्हारी बेटी रूपकौर ..." वह कहते-कहते रुक गया।
बिशन सिंह कुछ याद करने लगा : "बेटी रूपकौर..."
फ़ज़लदीन ने रुक-रुककर कहा : "हां...वह...वह भी ठीक-ठाक है...उनके साथ ही चली गई थी... !"
बिशन सिंह खामोश रहा।
फ़ज़लदीन ने फिर कहना शुरू किया : "उन्होंने मुझे कहा था कि तुम्हारी ख़ैर-ख़ैरियत पूछता रहूं...अब मैंने सुना है कि तुम हिंदुस्तान जा रहे हो...भाई बलबीर सिंह और भाई वधावा सिंह से मेरा सलाम कहना और बहन अमृतकौर से भी...भाई बलबीर से कहना कि फ़ज़लदीन राज़ीखुशी है...दो भूरी भैंसे जो वह छोड़ गए थे, उनमें से एक ने कट्टा दिया है...दूसरी के कट्टी हुई थी, पर वह छः दिन की होके मर गई...और मेरे लायक जो खिदमत हो, कहना, मैं हर वक्त तैयार हूं...और यह तुम्हारे लिए थोड़े-से मरोंडे लाया हूं... !"

बिशन सिंह ने मरोंडों की पोटली लेकर पास खड़े सिपाही के हवाले कर दी और फ़ज़लदीन से पूछा : "टोबा टेक सिंह कहां है... ?"
फ़ज़लदीन ने कदरे हैरत से कहा : "कहां है... ? वहीं है, जहां था... !"
बिशन सिंह ने फिर पूछा : "पाकिस्तान में है या हिंदुस्तान में... ?"
"हिंदुस्तान में...नहीं, नहीं पाकिस्तान में... !" फ़ज़लदीन बौखला-सा गया।

बिशन सिंह बड़बड़ाता हुआ चला गया : "औपड़ दि गड़ गड़ दि अनैक्स दि बेध्यानां दि मुंग दि दाल आफ दी पाकिस्तान एंड हिंदुस्तान आफ दी दुर फिटे मुंह... !"

तबादले की तैयारियां मुकम्मल हो चुकी थीं, इधर से उधर और उधर से इधर आनेवाले पागलों की फ़ेहरिस्तें पहुंच चुकी थीं और तबादले का दिन भी मुक़र्रर हो चुका था।

सख़्त सर्दियां थीं जब लाहौर के पागलख़ाने से हिंदू-सिख पागलों से भरी हुई लारियां पुलिस के रक्षक दस्ते के साथ रवाना हुई, संबंधित अफ़सर भी हमराह थे – वागह (एक गांव) के बॉर्डर पर तरफ़ीन (दोनों तरफ़) के सुपरिटेंडेंट एक-दूसरे से मिले और प्रारंभिक कार्रवाई ख़त्म होने के बाद तबादला शुरू हो गया, जो रात-भर जारी रहा।

पागलों को लारियों से निकालना और उनको दूसरे अफ़सरों के हवाले करना बड़ा कठिन काम था; बाज़ तो बाहर निकलते ही नहीं थे, जो निकलने पर रज़ामंद होते थे, उनको संभालना मुश्किल हो जाता था, क्योंकि वह इधर-उधर भाग उठते थे; जो नंगे थे, उनको कपड़े पहनाए जाते तो वह उन्हें फाड़कर अपने तन से जुदा कर देते – कोई गालियां बक रहा है...कोई

गा रहा है... कुछ आपस में झगड़ रहे हैं... कुछ रो रहे हैं, बिलख रहे हैं – कान पड़ी आवाज़ सुनाई नहीं देती थी – पागल औरतों का शोर–शराबा अलग था, और सर्दी इतनी कड़ाके की थी कि दांत से दांत बज रहे थे।

पागलों की अक्सरीयत इस तबादले के हक़ में नहीं थी, इसलिए कि उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि उन्हें अपनी जगह से उखाड़कर कहां फेंका जा रहा है; वह चंद जो कुछ सोच–समझ सकते थे, 'पाकिस्तान ः ज़िंदाबाद' और 'पाकिस्तान ः मुर्दाबाद' के नारे लगा रहे थे; दो–तीन मर्तबा फ़साद होते–होते बचा, क्योंकि बाज़ मुसलमानों और सिखों को यह नारे सुनकर तैश आ गया था।

जब बिशन सिंह की बारी आई और वागह के उस पार का मुताल्लिक़ अफ़सर उसका नाम रजिस्टर में दर्ज करने लगा तो उसने पूछा ः "टोबा टेक सिंह कहां है... पाकिस्तान में या हिंदुस्तान में... ?"
यह सुनकर बिशन सिंह उछलकर एक तरफ़ हटा और दौड़कर अपने बचे हुए साथियों के पास पहुंच गया।

पाकिस्तानी सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया और दूसरी तरफ़ ले जाने लगे, मगर उसने चलने से इनकार कर दिया ः "टोबा टेक सिंह यहां है... !" और ज़ोर–ज़ोर से चिल्लाने लगा ः "औपड़ दि गड़ गड़ दि अनैक्स दि बेध्यानां दि मुंग दि दाल आफ दी टोबा टेक सिंह एंड पाकिस्तान... !"

उसे बहुत समझाया गया कि देखो, अब टोबा टेक सिंह हिंदुस्तान में चला गया है... अगर नहीं गया है तो उसे फ़ौरन वहां भेज दिया जाएगा, मगर वह न माना! जब उसको ज़बर्दस्ती दूसरी तरफ़ ले जाने की कोशिश की गई तो वह दरमियान में एक जगह इस अंदाज़ में अपनी सूजी हुई टांगों पर खड़ा हो गया जैसे अब उसे कोई ताकत नहीं हिला सकेगी... आदमी चूंकि सीधा था, इसलिए उससे ज़्यादा ज़बर्दस्ती न की गई; उसको वहीं खड़ा रहने दिया गया, और तबादले का बाक़ी काम होता रहा।

सूरज निकलने से पहले शांत पड़े बिशन सिंह के हलक के एक गगन भेदी चीख़ निकली।

इधर–उधर से कई दौड़े आए और उन्होने देखा कि वह आदमी जो पंद्रह बरस तक दिन–रात अपनी टांगों पर खड़ा रहा था, औंधे मुंह लेटा है – उधर खरदार तारों के पीछे हिंदुस्तान था, इधर वैसे ही तारों के पीछे पाकिस्तान; दरमियान में ज़मीन के उस टुकड़े पर जिसका कोई नाम नहीं था, टोबा टेक सिंह पड़ा था।

## दोपहर का भोजन    अमरकांत

सिद्धेश्वरी ने खाना बनाने के बाद चूल्हे को बुझा दिया और दोनों घुटनों के बीच सिर रखकर शायद पैर की उंगलियां या जमीन पर चलते चीटें–चीटियों को देखने लगी।

अचानक उसे मालूम हुआ कि बहुत देर से उसे प्यास नहीं लगी हैं। वह मतवाले की तरह उठी ओर गगरे से लोटा–भर पानी लेकर गट–गट चढ़ा गई। खाली पानी उसके कलेजे में लग गया और वह 'हाय राम' कहकर वहीं जमीन पर लेट गई।

आधे घंटे तक वहीं उसी तरह पड़ी रहने के बाद उसके जी में जी आया। वह बैठ गई, आंखों को मल–मलकर इधर–उधर देखा और फिर उसकी दृष्टि ओसारे में अध–टूटे खटोले पर सोए अपने छह वर्षीय लड़के प्रमोद पर जम गई।

लड़का नंग-धड़ंग पड़ा था। उसके गले तथा छाती की हड्डियां साफ दिखाई देती थीं। उसके हाथ-पैर बासी ककड़ियों की तरह सूखे तथा बेजान पड़े थे और उसका पेट हंडिया की तरह फूला हुआ था। उसका मुख खुला हुआ था और उस पर अनगिनत मक्खियां उड़ रही थीं।

वह उठी, बच्चे के मुंह पर अपना एक फटा, गंदा ब्लाउज डाल दिया और एक-आध मिनट सुन्न खड़ी रहने के बाद बाहर दरवाजे पर जाकर किवाड़ की आड़ से गली निहारने लगी। बारह बज चुके थे। धूप अत्यंत तेज थी और कभी एक-दो व्यक्ति सिर पर तौलिया या गमछा रखे हुए या मजबूती से छाता ताने हुए फुर्ती के साथ लपकते हुए-से गुजर जाते।

दस-पंद्रह मिनट तक वह उसी तरह खड़ी रही, फिर उसके चेहरे पर व्यग्रता फैल गई और उसने आसमान तथा कड़ी धूप की ओर चिंता से देखा। एक-दो क्षण बाद उसने सिर को किवाड़ से काफी आगे बढ़ाकर गली के छोर की तरफ निहारा, तो उसका बड़ा लड़का रामचंद्र धीरे-धीरे घर की ओर सरकता नजर आया।

उसने फुर्ती से एक लोटा पानी ओसारे की चौकी के पास नीचे रख दिया और चौके में जाकर खाने के स्थान को जल्दी-जल्दी पानी से लीपने-पोतने लगी। वहां पीढ़ा रखकर उसने सिर को दरवाजे की ओर घुमाया ही था कि रामचंद्र ने अंदर कदम रखा।

रामचंद्र आकर धम-से चौंकी पर बैठ गया और फिर वहीं बेजान-सा लेट गया। उसका मुंह लाल तथा चढ़ा हुआ था, उसके बाल अस्त-व्यस्त थे और उसके फटे-पुराने जूतों पर गर्द जमी हुई थी।

सिद्धेश्वरी की पहले हिम्मत नहीं हुई कि उसके पास आए और वहीं से वह भयभीत हिरनी की भांति सिर उचका-घुमाकर बेटे को व्यग्रता से निहारती रही। किंतु, लगभग दस मिनट बीतने के पश्चार भी जब रामचंद्र नहीं उठा, तो वह घबरा गई। पास जाकर पुकारा - 'बड़कू, बड़कू!' लेकिन उसके कुछ उत्तर न देने पर डर गई और लड़के की नाक के पास हाथ रख दिया। सांस ठीक से चल रही थी। फिर सिर पर हाथ रखकर देखा, बुखार नहीं था। हाथ के स्पर्श से रामचंद्र ने आंखें खोलीं। पहले उसने मां की ओर सुस्त नजरों से देखा, फिर झट-से उठ बैठा। जूते निकालने और नीचे रखे लोटे के जल से हाथ-पैर धोने के बाद वह यंत्र की तरह चौकी पर आकर बैठ गया।
सिद्धेश्वर ने डरते-डरते पूछा, "खाना तैयार है। यहीं लगाऊं क्या?"
रामचंद्र ने उठते हुए प्रश्न किया, "बाबू जी खा चुके?"
सिद्धेश्वरी ने चौके की ओर भागते हुए उत्तर दिया, "आते ही होंगे।"

रामचंद्र पीढ़े पर बैठ गया। उसकी उम्र लगभग इक्कीस वर्ष की थी। लंबा, दुबला-पतला, गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आंखें तथा होठों पर झुर्रियां।

वह एक स्थानीय दैनिक समचार पत्र के दफ्तर में अपनी तबीयत से प्रूफरीडरी का काम सीखता था। पिछले साल ही उसने इंटर पास किया था।
सिद्धेश्वरी ने खाने की थाली सामने लाकर रख दी और पास ही बैठकर पंखा करने लगी। रामचंद्र ने खाने की ओर दार्शनिक की भांति देखा। कुल दो रोटियां, भर-कटोरा पनियाई दाल और चने की तली तरकारी।

रामचंद्र ने रोटी के प्रथम टुकड़े को निगलते हुए पूछा, "मोहन कहां हैं? बड़ी कड़ी धूप हो रही है।"
मोहन सिद्धेश्वरी का मंझला लड़का था। उम्र अट्ठारह वर्ष थी और वह इस साल हाईस्कूल का प्राइवेट इम्तहान देने की तैयारी कर रहा था। वह न मालूम कब से घर से गायब था और सिद्धेश्वरी को स्वयं पता नहीं था कि वह कहां गया है। किंतु सच बोलने की उसकी तबीयत नहीं हुई और झूठ-मूठ उसने कहा, "किसी लड़के के यहां पढ़ने गया है, आता ही होगा। दिमाग उसका बड़ा तेज है और उसकी तबीयत चौबीस घंटे पढ़ने में ही लगी रहती है। हमेशा उसी की बात करता रहता है।"

रामचंद्र ने कुछ नहीं कहा। एक टुकड़ा मुंह में रखकर भरा गिलास पानी पी गया, फिर खाने लग गया। वह काफी छोटे–छोटे टुकड़े तोड़कर उन्हें धीरे–धीरे चबा रहा था।

सिद्धेश्वरी भय तथा आतंक से अपने बेटे को एकटक निहार रही थी। कुछ क्षण बीतने के बाद डरते–डरते उसने पूछा, "वहां कुछ हुआ क्या?"
रामचंद्र ने अपनी बड़ी–बड़ी भावहीन आंखों से अपनी मां को देखा, फिर नीचा सिर करके कुछ रूखाई से बोला, "समय आने पर सब ठीक हो जाएगा।"

सिद्धेश्वरी चुप रही। धूप और तेज होती जा रही थी। छोटे आंगन के ऊपर आसमान में बादल में एक–दो टुकड़े पाल की नावों की तरह तैर रहे थे। बाहर की गली से गुजरते हुए एक खड़खड़िया इक्के की आवाज आ रही थी। और खटोले पर सोए बालक की सांस का खर–खर शब्द सुनाई दे रहा था।

रामचंद्र ने अचानक चुप्पी को भंग करते हुए पूछा, "प्रमोद खा चुका?"
सिद्धेश्वरी ने प्रमोद की ओर देखते हुए उदास स्वर में उत्तर दिया, "हां, खा चुका।"
"रोया तो नहीं था?"
सिद्धेश्वरी फिर झूठ बोल गई, "आज तो सचमुच नहीं रोया। वह बड़ा ही होशियार हो गया है। कहता था, बड़का भैया के यहां जाऊंगा। ऐसा लड़का ..."
पर वह आगे कुछ न बोल सकी, जैसे उसके गले में कुछ अटक गया। कल प्रमोद ने रेवड़ी खाने की जिद पकड ली थी और उसके लिए डेढ़ घंटे तक रोने के बाद सोया था।

रामचंद्र ने कुछ आश्चर्य के साथ अपनी मां की ओर देखा और फिर सिर नीचा करके कुछ तेजी से खाने लगा।
थाली में जब रोटी का केवल एक टुकड़ा शेष रह गया, तो सिद्धेश्वरी ने उठने का उपक्रम करते हुए प्रश्न किया, "एक रोटी और लाती हूं?"
रामचंद्र हाथ से मना करते हुए हड़बड़ाकर बोल पड़ा, "नहीं–नहीं, जरा भी नहीं। मेरा पेट पहले ही भर चुका है। मैं तो यह भी छोड़नेवाला हूं। बस, अब नहीं।"
सिद्धेश्वरी ने जिद की, "अच्छा आधी ही सही।"
रामचंद्र बिगड़ उठा, "अधिक खिलाकर बीमार डालने की तबीयत है क्या? तुम लोग जरा भी नहीं सोचती हो। बस, अपनी जिद। भूख रहती तो क्या ले नहीं लेता?"
सिद्धेश्वरी जहां–की–तहां बैठी ही रह गई। रामचंद्र ने थाली में बचे टुकड़े से हाथ खींच लिया और लोटे की ओर देखते हुए कहा, "पानी लाओ।"

सिद्धेश्वरी लोटा लेकर पानी लेने चली गई। रामचंद्र ने कटोरे को उंगलियों से बजाया, फिर हाथ को थाली में रख दिया। एक–दो क्षण बाद रोटी के टुकड़े को धीरे–से हाथ से उठाकर आंख से निहारा और अंत में इधर–उधर देखने के बाद टुकड़े को मुंह में इस सरलता से रख लिया, जैसे वह भोजन का ग्रास न होकर पान का बीड़ा हो।

मंझला लड़का मोहन आते ही हाथ–पैर धोकर पीढ़े पर बैठ गया। वह कुछ सांवला था और उसकी आंखें छोटी थीं। उसके चेहरे पर चेचक के दाग थे। वह अपने भाई ही की तरह दुबला–पतला था, किंतु उतना लंबा न था। वह उम्र की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर और उदास दिखाई पड़ रहा था।
सिद्धेश्वरी ने उसके सामने थाली रखते हुए प्रश्न किया, "कहां रह गए थे बेटा? भैया पूछ रहा था।"
मोहन ने रोटी के एक बड़े ग्रास को निगलने की कोशिश करते हुए अस्वाभाविक मोटे स्वर में जवाब दिया, "कहीं तो नहीं गया था। यहीं पर था।"
सिद्धेश्वरी वहीं बैठकर पंखा डुलाती हुई इस तरह बोली, जैसे स्वप्न में बड़बड़ा रही हो, "बड़का तुम्हारी बड़ी तारीफ कर

रहा था। कह रहा था, मोहन बड़ा दिमागी होगा, उसकी तबीयत चौबीसों घंटे पढ़ने में ही लगी रहती है।" यह कहकर उसने अपने मंझले लड़के की ओर इस तरह देखा, जैसे उसने कोई चोरी की हो।

मोहन अपनी मां की ओर देखकर फीकी हंसी हंस पड़ा और फिर खाने में जुट गया। वह परोसी गई दो रोटियों में से एक रोटी कटोरे की तीन-चौथाई दाल तथा अधिकांश तरकारी साफ कर चुका था।

सिद्धेश्वरी की समझ में नहीं आया कि वह क्या करे। इन दोनों लड़कों से उसे बहुत डर लगता था। अचानक उसकी आंखें भर आई। वह दूसरी ओर देखने लगी

थोड़ी देर बाद उसने मोहन की ओर मुंह फेरा, तो लड़का लगभग खाना समाप्त कर चुका था।
सिद्धेश्वरी ने चौंकते हुए पूछा, "एक रोटी देती हूं?"
मोहन ने रसोई की ओर रहस्यमय नेत्रों से देखा, फिर सुस्त स्वर में बोला, "नहीं।"
सिद्धेश्वरी ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "नहीं बेटा, मेरी कसम, थोड़ी ही ले लो। तुम्हारे भैया ने एक रोटी ली थी।"
मोहन ने अपनी मां को गौर से देखा, फिर धीरे-धीरे इस तरह उत्तर दिया, जैसे कोई शिक्षक अपने शिष्य को समझाता है, "नहीं रे, बस, अव्वल तो अब भूख नहीं। फिर रोटियां तूने ऐसी बनाई हैं कि खाई नहीं जातीं। न मालूम कैसी लग रही हैं। खैर, अगर तू चाहती ही है, तो कटोरे में थोड़ी दाल दे दे। दाल बड़ी अच्छी बनी है।"

सिद्धेश्वरी से कुछ कहते न बना और उसने कटोरे को दाल से भर दिया।
मोहन कटोरे को मुंह लगाकर सुड़-सुड़ पी रहा था कि मुंशी चंद्रिका प्रसाद जूतों को खस-खस घसीटते हुए आए और राम का नाम लेकर चौकी पर बैठ गए। सिद्धेश्वरी ने माथे पर साड़ी को कुछ नीचे खिसका लिया और मोहन दाल को एक सांस में पीकर तथा पानी के लोटे को हाथ में लेकर तेजी से बाहर चला गया।

दो रोटियां, कटोरा-भर दाल, चने की तली तरकारी। मुंशी चंद्रिका प्रसाद पीढ़े पर पालथी मारकर बैठे रोटी के एक-एक ग्रास को इस तरह चुभला-चबा रहे थे, जैसे बूढ़ी गाय जुगाली करती है। उनकी उम्र पैंतालीस वर्ष के लगभग थी, किंतु पचास-पचपन के लगत थे। शरीर का चमड़ा झूलने लगा था, गंजी खोपड़ी आईने की भांति चमक रही थी। गंदी धोती के ऊपर अपेक्षाकृत कुछ साफ बनियान तार-तार लटक रही थी।
मुंशी जी ने कटोरे को हाथ में लेकर दाल को थोड़ा सुड़कते हुए पूछा, "बड़का दिखाई नहीं दे रहा?"
सिद्धेश्वरी की समझ में नहीं आ रहा था कि उसके दिल में क्या हो गया है – जैसे कुछ काट रहा हो। पंखे को जरा और जोर से घुमाती हुई बोली, "अभी-अभी खाकर काम पर गया है। कह रहा था, कुछ दिनों में नौकरी लग जाएगी। हमेशा, 'बाबू जी, बाबू जी' किए रहता है। बोला, बाबू जी देवता के समान हैं।"
मुंशी जी के चेहरे पर कुछ चमक आई। शरमाते हुए पूछा, "ऐं, क्या कहता था कि बाबू जी देवता के समान हैं? बड़ा पागल है।"
सिद्धेश्वरी पर जैसे नशा चढ़ गया था। उन्माद की रोगिणी की भांति बड़बड़ाने लगी, "पागल नहीं हैं, बड़ा होशियार है। उस जमाने का कोई महात्मा है। मोहन तो उसकी बड़ी इज्जत करता है। आज कह रहा था कि भैया की शहर में बड़ी इज्जत होती हैं, पढ़ने-लिखनेवालों में बड़ा आदर होता है और बड़का तो छोटे भाइयों पर जान देता हैं। दुनिया में वह सबकुछ सह सकता है, पर यह नहीं देख सकता कि उसके प्रमोद को कुछ हो जाए।"
मुंशी जी दाल-लगे हाथ को चाट रहे थे। उन्होंने सामने की ताक की ओर देखते हुए हंसकर कहा, "बड़का का दिमाग तो खैर काफी तेज है, वैसे लड़कपन में नटखट भी था। हमेशा खेल-कूद में लगा रहता था, लेकिन यह भी बात थी कि जो सबक मैं उसे याद करने को देता था, उसे बर्राक रखता था। असल तो यह कि तीनों लड़के काफी होशियार हैं। प्रमोद को कम समझती हो?" यह कहकर वह अचानक जोर से हंस पड़े।

मुंशी जी डेढ़ रोटी खा चुकने के बाद एक ग्रास से युद्ध कर रहे थे। कठिनाई होने पर एक गिलास पानी चढ़ा गए। फिर खर-खर खांसकर खाने लगे।

फिर चुप्पी छा गई। दूर से किसी आटे की चक्की की पुक-पुक आवाज सुनाई दे रही थी और पास की नीम के पेड़ पर बैठा कोई पंडूक लगातार बोल रहा था।

सिद्धेश्वर की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहे। वह चाहती थी कि सभी चीजें ठीक से पूछ ले। सभी चीजें ठीक से जान ले और दुनिया की हर चीज पर पहले की तरह धडल्ले से बात करे। पर उसकी हिम्मत नहीं होती थी। उसके दिल में जाने कैसा भय समाया हुआ था।
अब मुंशी जी इस तरह चुपचाप दुबके हुए खा रहे थे, जैसे पिछले दो दिनों से मौन-व्रत धारण कर रखा हो और उसको कहीं जाकर आज शाम को तोड़ने वाले हों।
सिद्धेश्वरी से जैसे नहीं रहा गया। बोली, "मालूम होता है, अब बारिश नहीं होगी।"
मुंशी जी ने एक क्षण के लिए इधर-उधर देखा, फिर निर्विकार स्वर में राय दी, "मक्खियां बहुत हो गई हैं।"
सिद्धेश्वरी ने उत्सुकता प्रकट की, "फूफा जी बीमार हैं, कोई समाचार नहीं आया।
मुंशी जी ने चने के दानों की ओर इस दिलचस्पी से दृष्टिपात किया, जैसे उनसे बातचीत करनेवाले हों। फिर सूचना दी, "गंगाशरण बाबू की लड़की की शादी तय हो गई। लड़का एम॰ए॰ पास हैं।"
सिद्धेश्वरी हठात चुप हो गई। मुंशी जी भी आगे कुछ नहीं बोले। उनका खाना समाप्त हो गया था और वे थाली में बचे-खुचे दानों को बंदर की तरह बीन रहे थे।
सिद्धेश्वरीने पूछा, "बड़का की कसम, एक रोटी देती हूं। अभी बहुत-सी हैं।"
मुंशी जी ने पत्नी की ओर अपराधी के समान तथा रसोई की ओर कनखी से देखा, तत्पश्चात किसी छंटे उस्ताद की भांति बोले, "रोटी? रहने दो, पेट काफी भर चुका है। अन्न और नमकीन चीजों से तबीयत ऊब भी गई है। तुमने व्यर्थ में कसम धरा दी। खैर, कसम रखने के लिए ले रहा हूं। गुड़ होगा क्या?"
सिद्धेश्वरी ने बताया कि हंडिया में थोड़ा सा गुड़ है।
मुंशी जी ने उत्साह के साथ कहा, "तो थोड़े गुड़ का ठंडा रस बनाओ, पीऊंगा। तुम्हारी कसम भी रह जाएगी, जायका भी बदल जाएगा, साथ-ही-साथ हाजमा भी दुरूस्त होगा। हां, रोटी खाते-खाते नाक में दम आ गया है।" यह कहकर वे ठहाका मारकर हंस पड़े।

मुंशी जी के निबटने के पश्चात सिद्धेश्वरी उनकी जूठी थाली लेकर चौके की जमीन पर बैठ गई। बटलोई की दाल को कटोरे में उड़ेल दिया, पर वह पूरा भरा नहीं। छिपुली में थोड़ी-सी चने की तरकारी बची थी, उसे पास खींच लिया। रोटियों की थाली को भी उसने पास खींच लिया। उसमें केवल एक रोटी बची थी। मोटी-भद्दी और जली उस रोटी को वह जूठी थाली में रखने जा रही थी कि अचानक उसका ध्यान ओसारे में सोए प्रमोद की ओर आकर्षित हो गया। उसने लड़के को कुछ देर तक एकटक देखा, फिर रोटी को दो बराबर टुकड़ों में विभाजित कर दिया। एक टुकड़े को तो अलग रख दिया और दूसरे टुकड़े को अपनी जूठी थाली में रख लिया। तदुपरांत एक लोटा पानी लेकर खाने बैठ गई। उसने पहला ग्रास मुंह में रखा और तब न मालूम कहां से उसकी आंखों से टप-टप आंसू चूने लगे।

सारा घर मक्खियों से भनभन कर रहा था। आंगन की अलगनी पर एक गंदी साड़ी टंगी थी, जिसमें पैबंद लगे हुए थे। दोनों बड़े लड़कों का कहीं पता नहीं था। बाहर की कोठरी में मुंशी जी औंधे मुंह होकर निश्चिंतता के साथ सो रहे थे, जेसे डेढ़ महीने पूर्व मकान-किराया-नियंत्रण विभाग की क्लर्की से उनकी छंटनी न हुई हो और शाम को उनको काम की तलाश में कहीं जाना न हो ... ।

## "पहेली" उपेन्द्र नाथ अश्क

रामदयाल पूरा बहूरूपिया था। भेस और आवाज बदलने में उसे कमाल हासिल था। कॉलेज मे पढ़ता था तो वहां उसके अभिनय की धूम मची रहती थी; अब सिनेमा की दुनिया में आ गया था तो यहां उसकी चर्चा थी। कॉलेज से डिग्री लेते ही उसे बम्बई की एक फिल्म–कम्पनी में अच्छी जगह मिल गयी थी और अल्प–काल ही में उसकी गणना भारत के श्रेष्ठ अभिनेताओं में होने लगी थी। लोग उसके अभिनय को देख कर आश्चर्यचकित रह जाते थे। उसके पास प्रतिभा थी, कला थी और ख्याति के उच्च्व शिखर पर पहुंचने की महत्वाकांक्षा! इसीलिए जिस पात्र की भूमिका में काम करता बहुरूप और अभिनय मे वह बात पैदा कर देता था कि दर्शक अनायास ही 'वाह–वाह' कर उठते और फिर हफ्तों उसकी कला की चर्चा लोगों में चला करती।

दो महीने हुए, उस की शादी हुई थी। बम्बई की एक निकटवर्ती बस्ती में छोटी–सी एक कोठी किराये पर ले कर वह रहने लगा था। कभी समय था कि वह निर्धन कहता था, परन्तु अब तो वह धन–सम्पत्ति में खेलता था। रूपये की उसे क्या परवाह थी? उसका विवाह भी उच्च्व घराने में हुआ था। पत्नी भी सुन्दर और सुशिक्षित मिली थी। जिस प्रकार बादल सूखी धरती पर अमृत की वर्षा कर के उसे तृप्त कर देता है, उसी प्रकार निर्धनता से सूखे हुए रामदयाल के हृदय को विधाता ने वैभव की वर्षा से सींच दिया था।

सन्ध्या का समय था। साये बढ़ते–बढ़ते किसी भयानक देव की भांति संसार पर छा गये थे। रामदयाल लायब्रेरी में बैठा था। अभी तक कमरे में बिजली न जली थी और वह किवाड़ के समीप कुर्सी रखे एक लेख पढ़ने में निमग्न था।

चपरासी ने बिजली का बटन दबाया। क्षण भर में रोशनी से कमरा जगमगा उठा। रामदयाल ने रूमाल से ऐनक को साफ किया और फिर लेख पर अपनी दृष्टि जमा दी। वह 'नवयुग' का 'महिला–अंक' देख रहा था। अंक देखना तो उसने योंहीं शुरू किया था, परन्तु एक लेख कुछ ऐसा रोचक था कि एक बार जो पढ़ना आरम्भ किया तो समाप्त किये बिना जी न माना।

लेख में किसी अभिनेता के अभिनय की विवेचना न थी। छद्मवेष कला पर कोई नयी बात न लिखी गयी थी। एक सीधा–साधा लेख था, जिसमें नारी स्वभाव पर एक नूतन दृष्टि–कोण से प्रकाश डाला गया था। एक सर्वथा नयी बात थी। लिखा था —
"स्त्री प्रेम की देवी है। वह अपने प्रिय पति के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर सकती है। वह उस की पूजा कर सकती है, पर यदि उस का पति उस के प्रेम की अवहेलना करे, उसकी मुहब्बत को ठुकरा दे तो अवसर मिलने पर वह अपने प्रेम की तृषा बुझाने के लिए किसी दूसरी चीज को ढूंढ़ लेती है — चाहे वह चल हो या अचल, सजीव हो या निर्जीव! यही प्रकृति का नियम है।"

रामदयाल उठा और गम्भीर मुद्रा धारण किये हुए पुस्तकालय के बाहर निकल आया।

सड़क रोशनी से नव–वधू की भांति सज रही थी। रामदयाल अपने हृदय की गति के समान धीरे–धीरे चला जा रहा था। उसे देख कर कौन कह सकता था कि यह वही प्रसिद्ध अभिनेता है, जो अपनी कला से भारत भर को चकित कर देता है!

••

उर्मिला, उसकी पत्नी, अनुपम सुन्दरी थी, कल्पना से बनी हुई सुन्दर प्रतिमा–सी! मीठे, मादक स्वर में रूप में विधि ने उसे जादू दे डाला था। संगीत–कला में उसने विशेष क्षमता प्राप्त कर ली थी और यह गुण सोने में सुगन्ध का काम कर रहा था। जब भी कभी वह अपनी कोमल उंगलियों को सितार के पर्दो पर रखती और कान उमेठ कर तारों को छेड़ती तो सोये हुए उदगार जाग उठते और कानों के रास्ते मिठास और मस्ती का एक समुद्र श्रोता की नस–नस में व्याप्त हो कर रह

जाता। रामदयाल उस पर जी–जान से मुग्ध था और वह भी उसे हृदय की समस्त शक्तियों से प्यार करती थी। दोनों को एक–दूसरे पर गर्व था, किन्तु यह सब कुछ स्थायी न हो सका। असार संसार में कोई वस्तु स्थायी हो भी कैसे सकती है? मनोमालिन्य की आंधी ने मुहब्बत के इस छोटे–से पौधे को क्षण भर में बर्बाद कर दिया।

उर्मिला नीचे ड्राइंग–रूम में बैठी थी। वह रामदयाल की प्रतीक्षा कर रही थी। सामने के भवन में आज कोई युवक घूम रहा था। वह कुतूहलवश उसे भी देख रही थी। उसके कान सीढ़ियों की ओर लगे हुए थे, परन्तु आंखें उस युवक को बेचैनी से घूमते देख रही थीं। वह कोठी कई दिनों से खाली थी, परन्तु अब कुछ दिन से इसे किसी ने किराये पर ले लिया था उसने दो–तीन बार किसी युवक को बिजली के प्रकाश में घूमते देखा था। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे वह बेचैन हो, जैसे आकुलता उसे बैठने न देती हो।

अंगीठी पर रखी हुई घड़ी ने टन–टन नौ बजाये। सामने के भवन में रोशनी बुझ गयी। उर्मिला अपने आपको अकेली–सी महसूस करने लगी। उसने सितार उठाया, उसकी कोमल उंगलियां उसके पर्दो पर थिरकने लगीं, उसके अधर हिले और दूसरे क्षण एक करूणापूर्ण गीत वायुमण्डल में गूंज उठा ––
सखि इन नैनन ते घन हारे
स्वर में दर्द था, लोच था और लय थी, सीने में प्रतीक्षा की आग थी। वह तन्मय हो गयी, अपनी मधुर ध्वनि में खो गयी और उसे यह भी मालूम न हुआ कि रामदयाल कब आया और कब तक किवाड़ की ओट में खड़ा उसे देखता रहा।

वह गाती गयी, बेसुध हो कर गाती गयी। उसकी आंखें सितार पर जमी हुई थीं, उसके कान सितार के मादक स्वर में डूब गये थे। रामदयाल की भृकुटी तन गयी और वह चुपचाप मुड़ गया। खाने के कमरे में उसने दासी से खाना मंगाया और खा कर सोने चला गया। उर्मिला गाती रही, अपने दर्द–भरे गीत को वायु के कण–कण में बसाती रही। देवता आया और चला गया, पुजारी उसकी पूजा ही में व्यस्त रहा।

दूसरे दिन रामदयाल प्रातः ही घर से चला गया और बहुत रात गये घर लौटा। उर्मिला दौड़ी–दौड़ी गयी और गंगासागर में पानी ले आयी।
रामदयाल के चेहरे से क्रोध टपक रहा था।
"आप इतनी देर कहां रहे?"
रामदयाल चुप।
उर्मिला ने पानी का भरा हुआ गंगासागर आगे रख दिया। घर में दो दासियां तो थीं, परन्तु पति की सेवा वह स्वयं किया करती थी। रामदयाल जब सन्ध्या को घर आया करता तो वह उसका हाथ–मुंह धुलाती, तश्तरी में कुछ खाने को लाती और स्टूडियो की खबरें पूछती। रामदयाल ने हाथ न बढ़ाये। वह चुपचाप खड़ी उसकी गम्भीर मुद्रा को देखती रही।

उसका हृदय धड़कने लगा। बीसियों प्रकार की शंकाएं उसके मन में उठने लगीं। उसने उन्हें बुलाने का इरादा किया, किन्तु झिड़क न दें, यह सोच कर चुप हो रही। आशा ने फिर गुदगुदी की, निराशा ने फिर दामन पकड़ लिया। मनुष्य के हृदय में जब सन्देह हो जाता है तो निराशा हमदर्द की भांति समीप आ जाती है और आशा मरीचिका बन कर भाग जाती है। फिर भी उसने साहस करके पूछा —
"जी तो अच्छा है?"
"चुप रहो!"
"स्वामी?"
"मैं कहता हूं, खामोश रहो!"

उर्मिला खड़ी–की–खड़ी रह गयी। निराशा ने आशा को ठुकरा दिया और अब उस में उठने का भी साहस न रहा।

उसे कल की घटना याद हो आयी, परन्तु साधारण-सी बात पर इतना क्रोध! वह समझ न सकी। उन्हें तो इस बात पर प्रसन्न होना चाहिए था। नहीं, यह बात नहीं; उससे अवश्य कोई दूसरी अवज्ञा हो गयी है। हो सकता है, किसी से झगड़ पड़े हों अथवा कोई दूसरी घटना घटी हो। अशुभ की आशंका से उस का मन उद्विग्न हो उठा। उसके चरणों पर झुकते हुए उसने कहा "दासी से कोई अपराध हो गयाहो तो क्षमा कर दें।"
रामदयाल ने पांव खींच लिये, उर्मिला मुंह के बल गिरी। वह सोने चला गया।

उर्मिला बहुत देर तक उसी तरह बैठी रही और फिर लेट कर धरती में मुंह छिपा कर आंसू बहाने लगी। उसे विश्वास न होता था कि उसके पति ने इतनी-सी बात पर उसे नज़रों से गिरा दिया है। रामदयाल के प्रति उसके मन में कई प्रकार के विचार उठने लगे। उस ने उन्हें आज तक शिकायत का मौका न दिया था। उस ने उनकी साधारण-सी बात को भी सिर-आंखों पर लिया था, फिर यह निरादर क्यों?

उसे शंका होने लगी, 'कोई अभिनेत्री उनके जीवन-वृक्ष को विष से सींच रही है, ' किन्तु दूसरे क्षण अपने इन विचारों पर उसे घृणा हो आयी। ग्लानि से उसका सिर झुक गया। रामदयाल चाहे किसी के मोह में फंस जाये, परन्तु उर्मिला के लिये ऐसा सोचना भी पाप है। तो फिर वह अपने पति से इस अन्यमनस्कता का कारण ही क्यों न पूछ ले? क्या उसे इस बात का अधिकार नहीं? वह सहधर्मिणी नहीं क्या? अर्धांगिनी नहीं क्या? यह सोच कर वह उठी। उसके शरीर में स्फूर्ति का संचार हो आया। वह जायेगी, अपने पति से इस क्रोध का कारण पूछ कर रहेगी और उस समय तक न छोडेगी, जब तक वे उसे सब कुछ न बता दें, या अपनी भुजाओं में भींच कर यह न कह दें — मैं तो हंसी कर रहा था!

उसके मुख पर दृढ़-संकल्प के चिह्न प्रस्फुटित हो गये। वह उठी और धीरे-धीरे रामदयाल के कमरे में दाखिल हुई। वह लेटा हुआ था। उस के चेहरे पर एक गम्भीर मुस्कराहट खेल रही थी — अव्यक्त वेदना की अथवा गुप्त-उल्लास की, कौन जाने?
उर्मिला के आते ही वह उठ बैठा। उसने कड़क कर कहा, "मेरे कमरे से निकल जाओ, जा कर सो रहो, मुझे तंग मत करो।"
"क्या अपराध ..."
"मैं कहता हूं, चली जाओ!

उर्मिला खड़ी-की-खड़ी रह गयी। जैसे किसी जादूगरनी ने उसके सिर पर जादू की छड़ी फेर दी हो। वह स्फूर्ति और संकल्प, जो कुछ देर पहले उसके मन में पैदा हुए थे, सब हवा हो गये। इच्छा होने पर भी वह दोबारा न पूछ सकी। उदासी का कारण पूछना, उस अकारण क्रोध का गिला करना, अपने कसूर की माफी मांगना, सब कुछ भूल गयी। कल्पनाओं के भव्य प्रासाद पल भर में धराशायी हो गये।

वह चुपचाप वापस चली आयी और सारी रात गीले बिस्तर पर सोये हुए मनुष्य की भांति करवटें बदलती रही। नींद न जाने कहां उड़ गयी थी?

••

समय के पंख लगा कर दिन उड़ते गये। रामदयाल अब घर में बहुत कम आता था। उर्मिला को सेवा के लिए दो दासियों में एक और की वृद्धि हो गयी थी। वह उनसे तंग आ गयी थी। वह सेवा की भूखी न थी, मुहब्बत की भूखी थी और मुहब्बत के फूल से उसकी जीवन-वाटिका सर्वथा शून्य थी। बरसात के बादल आकाश पर घिरे हुए थे। ठण्डी हवा साकी की चाल चल रही थी। बाहर किसी जगह पपीहा रह-रह कूक उठता था। वायु का एक झोंका अन्दर आया। उर्मिला के हृदय में उल्लास के बदले अवसाद की एक लहर दौड़ गयी। हृदय की गहराइयों से एक लम्बी सांस निकल गयी। उसने सितार उठाया और विरह का एक गीत गाने लगी। उसकी आवाज़ में दर्द था, गम था और जलन

थी। वायु-मण्डल उसके गीत से झंकृत हो कर रह गया। अपने गीत की तन्मयता में वह बाह्य संसार को भूल गयी। रात की नीरवता में उसका गीत वायु के कण-कण में बस गया।

सहसा सामने के भवन से, जैसे किसी ने सितार की आवाज़ के उत्तर में गाना आरम्भ किया –
पिया बिन चैन कहां मन को राग क्या था, किसी ने उर्मिला का दिल चीर कर सामने रख दिया था। वह अपना गाना भूल गयी और तन्मय हो कर सुनने लगी। क्या आवाज थी, कैसा जादू था? रूह खिंची चली जाती थी। एक महीने से वहां कोई सितार बजाया करता था, किन्तु उर्मिला ने कभी उस ओर ध्यान न दिया था। आज न जाने क्यों, उसका हृदय अनायास ही गीत की ओर आकर्षित हुआ जा रहा था। इच्छा हुई खिड़की में जा कर बैठ जाय, परन्तु फिर झिझक गयी, उसी तरह जैसे नया चोर चोरी करने से पहले हिचकिचाता है।

वह खिड़की से झांकने के लिए उठी। उसे अपने पति का ध्यान हो आया, वह फिर बैठ गयी। उसने सितार को उठाया, फिर रख दिया कि गाने वाला यह न समझ ले कि उसके गीत का उत्तर दिया जा रहा है। उठ कर उसने एक पुस्तक ले ली और पढ़ना आरम्भ कर दिया, परन्तु पढ़ने में उसका जी न लगा। उसे हर पंक्ति में यही अक्षर लिखे हुए दिखायी दिये —
पिया बिन चैन कहां मन को उठ कर उसने पुस्तक को फेंक दिया और आराम-कुर्सी पर लेट गयी। गाने वाला अब भी गा रहा था ओर गीत उसकी एक-एक नस में बसा जा रहा था। विवश हो कर वह उठी। उस ने सितार को उठाया, तारों में झनकार पैदा हुई, तारों पर उंगलियां थिरकने लगीं और वह धीरे-धीरे गाने लगी। शनैः-शनैः उसका स्वर ऊंचा होता गया, यहां तक कि वह बेसुध हो कर पूरी आवाज से गा उठी ः
पिया बिन चैन कहां मन को
गीत समाप्त हो गया, वायु-मण्डल के कण-कण पर छाया हुआ जादू टूट गया। वह जल्दी से उठ कर खिड़की में चली गयी। उसने देखा, युवक सितार पर हाथ रखे उस का गाना सुन रहा है।

उसके शरीर में सनसनी दौड़ गयी — विजय की सनसनी! उस समय वह रामदयाल, उसकी मुहब्बत, उसकी जुदाई, सब कुछ भूल गयी। उसके हृदय में, उसके मस्तिष्क में केवल एक ही विचार बस गया — उसने दूसरे रागी को मात कर दिया है!

इसके बाद प्रतिदिन दोनों ओर से गीत उठते और वायु-मण्डल में बिखर जाते। दो दुखी आत्माएं संगीत द्वारा एक-दूसे से सहानुभूति प्रकट करतीं, दिल के दर्द गीतों की जबान से एक-दूसरे को सुनाये जाते।

एक महीना और बीत गया। कम्पनी एक नयी फिल्म तैयार कर रही थी और इन दिनों रामदयाल को रात में भी वहीं काम करना पड़ता था। कई रातें वह कम्पनी के स्टूडियो में ही बिता देता। इतने दिनों में वह केवल एक बार घर आया था। उर्मिला का दिल धड़क उठा था। पहली धड़कन और इस धड़कन में कितना अंतर था। पहले वह इस डर से कांप उठती थी कि रामदयाल कहीं उससे रूष्ट न हो जाये, अब वह इस भय से मरी जाती थी कि कहीं उस के दिल की बात न जान ले, कहीं वह रात भर रह कर उनके प्रेम-संगीत में बाधा न डाल दे।

अक्तूबर का अन्तिम सप्ताह था। रामदयाल घर आया। उर्मिला उसके मुख की ओर देख भी न सकी, उसके सामने भी न हो सकी। रामदयाल ने उसे बुलाया भी नहीं। वह दासी से केवल इतना कह कर चला गया,'मैं अभी और एक महीने तक घर न आ सकूंगा। चित्रपट के कुछ दृश्य खराब हो गये हैं, उन्हें फिर दुबारा लिया जायेगा।' जब वह चला गया तो उर्मिला ने सुख की एक सांस ली, उसे के हृदय से एक बोझ-सा उतर गया। वह कोई ऐसा हमदर्द चाहती थी, जिस के सामने वह अपना प्रेमभरा दिल खोल कर रख दे। रामदयाल वह नहीं था, उस तक उसकी पहुंच न थी। पानी ऊंचाई की ओर नहीं जाता, निचाई की ओर ही बहता है। रामदयाल ऊंची जगह खड़ा था और गाने वाला नीची जगह। उर्मिला का हृदय अनायास उसकी ओर बह चला।

उस दिन उर्मिला ने एक मीठा गीत गाया, जिसमें उदासीनता के स्थान पर उल्लास हिलोरें ले रहा था। अब वह कमरे में बैठ कर गाने के बदले बाहर बरामदें में बैठ कर गाया करती थी। दोनों की तानें एक-दूसे की तानों में मिल कर रह जाती। उनके हृदय कब के मिल चुके थे।

सन्ध्या का समय था। उर्मिला वाटिका में घूम रही थी। उसकी आंखें रह-रह कर सामने वाले भवन की ओर उठ जाती थीं। उस समय वह चाहती थी, कहीं वह युवक उसकी वाटिका में आ जाय और वह उस के सामने दिल के समस्त उद्‌गार खोल कर रख दे।

वह अकेला ही था, यह उसे ज्ञात हो चुका था, किन्तु कभी उसने दिन के समय उसे वहां नहीं देखा था। अंधेरा बढ़ चला था और डूबते हुए सूरज की लाली धीरे-धीरे उसमें विलीन हो रही थी ठण्डी बयार चल रही थी; प्रकृति झूम रही थी और उर्मिला के दिल को कुछ हुआ जाता था, कुछ गुदगुदी-सी उठ रही थी। वह एक बेंच पर बैठ गयी और गुनगुनाने लगी --

धीरे-धीरे यह गुनगुनाहट गीत बन गयी और वह पूरी आवाज से गाने लगी। अपने गीत की धून में मस्त वह गाती गयी। वाटिका की फसील के दूसरी ओर से किसी ने धीरे से कन्धे को छुआ। उसके स्वर में कम्पन पैदा हो गया और वह सिहर उठी।
"आप तो खूब गाती है!"

बैठे-बैठे उर्मिला ने देखा वह एक सुन्दर बलिष्ठ युवक था। छोटी-छोटी मूंछें ऊपर को उठी हुई थीं। बाल लम्बे थे और बंगाली फैशन से कटे हुए थे। गले में सिल्क का एक कुर्ता था और कमर में धोती।
उर्मिला ने कनखियों से युवक को देखा। दिल ने कहा, भाग चल, पर पांव वहीं जम गये। पंछी जाल के पास था, दाना सामने था, अब फंसा कि अब फंसा।
"आप के गले में जादू हैं!"
उर्मिला ने युवक की ओर देखा और मुस्कुरायी। वह भी मुस्करा दिया। बोली, "यह तो आपकी कृपा है, नहीं मैं तो आपके चरणों में बैठ कर मुद्दत तक सीख सकती हूं!"
वह हंसा।
"आप अकेले रहते हैं?"
"हां"
"और आपकी पत्नी?"
वह एक फीकी हंसी हंसा ..."मेरी पत्नी, मेरी पत्नी कहां हैं? इस संसार में मैं सर्वथा एकाकी हूं, मुहब्बत से ठुकराया हुआ, यहां आ गया हूं, कोई मुझे पूछने वाला नहीं, कोई मुझसे बात करने वाला नहीं।"

युवक के स्वर में कम्पन था। उर्मिला ने देखा, उसका मुख पीला पड़ गया है और अवसाद तथा निराशा की एक हल्की-सी रेखा वहां साफ दिखायी देती है। उसके हृदय में सहानुभूति का समुद्र उमड़ पड़ा और उसकी आंखें डबडबा आयीं।

वह दीवार फांद कर बेंच पर आ बैठा। उर्मिला अभी तक बैठी ही थी, उठी न थी। वह तनिक खिसक गयी, किन्तु उठने का साहस अब उसमें नहीं था।

युवक ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। उर्मिला के शरीर में सनसनी दौड़ गयी। उसने हाथ छुड़ाना चाहा। युवक की आंखें सजल हो गयीं। उसका हाथ वहीं-का-वहीं रह गया। वह फिर बोला —
"मेरा विचार था, मैं यहां आ कर, एकान्त में गा कर अपना दिल बहला लिया करूंगा। मेरे पास धन और वैभव का अभाव नहीं, परन्तु उससे मुझे चैन नहीं मिलता, हृदय को शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसीलिए मैं सितार बजाता था! उसकी

मनमोहक झंकार मेरे चंचल मन को एकाग्र कर देती थी, उसमें मुझे अपार शान्ति मिलती थी, परन्तु अब तो सितार भी बेबस हो गया है, वह भी मुझे शान्त नहीं कर सकता, मेरी शान्ति का आधार अब मेरे सितार बजाने पर नहीं रहा।"

उर्मिला सब कुछ समझ रही थी। उसने फिर हाथ छुड़ाने का प्रयास किया। युवक ने उसे नहीं छोड़ा और विद्युत वेग से उसे अपने प्यासे होठों से लगा लिया। उर्मिला के समस्त शरीर में आग-सी दौड़ गयी। उसने हाथ छुड़ा लिया और भाग गयी।

"फिर कब दर्शन होंगे?"
उर्मिला ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह अपने कमरे में आ गयी और पलंग पर लेट कर रोने लगी। पक्षी जाल में फंस चुका था और अब मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था।

••

कितनी देर तक वह लेटे-लेटे रोती रही। उसे रह-रहकर अपने पति की निष्ठुरता का ध्यान आता था। आत्मग्लानि से उस का हृदय जला जा रहा था। वह इस मार्ग को छोड़ देना चाहती थी। पश्चाताप को आग उसे जलाये डालती थी। वह चाहती थी, उसका पति आ जाये, उसके पास बैठे, उससे प्रेम करे और वह उस के चरणों में बैठ कर इतना रोये, इतना रोये कि उसका पाषाण-हृदय पानी पानी हो जाये।

उठ कर वह रामदयाल के पुस्तकालय में गयी। एक छोटी-सी मेज़ पर एक कोने में उसके पति का एक फोटो चौखटे में जड़ा रखा था। उस ने उसे उठाया, कई बार चूमा और उसकी आंखों से आंसू बह निकले।

रामदयाल के पैरों की चाप से उसके विचारों का क्रम टूट गया। वह उठी और सच्चे हृदय से उस का स्वागत करने को तैयार हो गयी। उस समय उसका मन साफ था। विशुद्ध-प्रेम का एक सागर वहां उमड़ा आ रहा था, जिसके पानी को पश्चाताप की आग ने स्वच्छ और निर्मल कर दिया था।

वह रसोई-घर से पानी ले आयी और रामदयाल के सामने जा खड़ी हुई। उसकी आंखें सजल थीं और मन आशा के तार से बंधा डोल रहा था। उसने देखा, रामदयाल ने उसके हाथ से गिलास ले कर मुंह धो लिया और फिर उसे कुछ नाश्ता लाने को कहा और जब वह मिठाई ले आयी तो रामदयाल ने तश्तरी लेने के बदले उसे अपनी भुजाओं में ले कर उसके मुंह में मिठाई का एक टुकड़ा रख दिया। निमिष भर के लिए उसके मुख पर स्वर्गीय-आनन्द की ज्योति चमक उठी। उसने सिर उठाया, देखा — रामदयाल उसी तरह बैठा है। और वह उसी तरह गिलास लिये खड़ी है। आशा का तार टूट गया, मादक कल्पना हवा हो गयी। सत्य सामने था — कितना कटु, कितना भयानक?

रामदयाल ने इशारे से उसे चले जाने को कहा। वह चुपचाप पुतली की भांति चली आयी मानो वह सजीव नारी न हो कर अपने आविष्कारक के संकेत पर चलने वाली एक निर्जीव मूर्ति हो। अपने कमरे में आ कर उसने पानी का गिलास अंगीठी पर रख दिया और धरती पर लोट कर रोने लगी। धरती में, मूक और ठण्डी धरती में उसे कुछ आत्मीयता का आभास हुआ, एक बहनापा-सा महसूस हुआ और वह उसके अंक में लिपट कर रोयी। खूब रोयी। ऐसे मानो एक दुखी बहन अपनी सुखी बहन के गले लिपट कर आंसू बहा रही हो।

कई दिन तक वह अपने कमरे के बाहर न निकली। रामदयाल दासी से कह गया था, 'मैं और पन्द्रह दिन घर न आ सकूंगा, इसलिए तुम सावधानी से रहना।' उर्मिला को अपने पति की निर्दयता पर रोना आता था। वह पाप की नदी में बहे जा रही थी और उसका पति उसे बचाने को हाथ तक न हिलाता था। भ्रान्ति की विकराल लहरें लपलपाती हुई उस की ओर बढ़ी आ रही थीं और उसका पति निश्चेष्ट और निष्क्रिय एक ओर खड़ा तमाशा देख रहा था।

साथ के भवन से बराबर गीत उठते थे। उनमें उल्लास की तानें न होती थीं, दुख और वेदना का बाहुल्य रहता था। उर्मि ला की संगीत-प्रिय आत्मा तड़प उठती थी, परन्तु वह अपने कमरे के बाहर न निकलती थी।

शाम का वक्त था। गाने वाला प्रलय के गीत गा रहा था। उस का एक-एक स्वर उर्मिला के हृदय में चुभा जा रहा था। वह उठी, ड्राइंग-रूम में आ गयी। उसका सितार असहाय भिखारी की भांति एक ओर पड़ा था। उस पर मिट्टी की एक हल्की-सी तह जम गयी थी। उसने उसे कपड़े से साफ किया और आवेश में आ कर चूम लिया। उसकी आंखों से आंसू छलक आये। गाने वाला गा रहा था।

क्यों रूठ गये हमसे

उर्मिला ने एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ा और उस की कम्पित उंगलियां सितार के तारों पर थिरकने लगीं। बेखयाली में यही गीत उस के सितार से निकलने लगा --
क्यों रूठ गये हमसे

वह गाता हुआ अपने भवन से उतरा और फसील को फांद कर उर्मिला के पास आ बैठा। वह सितार बजाती रही और वह गाता रहा।

दोनों अपनी कला के शिखर पर जा पहुंचे। उसने शायद इससे पहले इतना अच्छा न गाया हो और इसने शायद इससे पहले इतना अच्छा सितार न बजाया हो। गीत की लय और सितार की झनकार दोनों एक हो कर मानों रूठे हुए दिलों को प्रेम का मार्ग बता रही थीं।

गीत समाप्त हो गया। उर्मिला युवक की भूजाओं में थीं। अपने विशाल वक्षस्थल से भींचते हुए युवक ने उसे चूम लिया। उर्मिला चौकी, युवक पीछे हटा। वह उठ कर भागने को हुई। युवक ने उसे बैठा लिया और अपनी लम्बी मूंछें उतार दीं और सिर के लम्बे-लम्बे बाल दूर कर दिये।

गोधूलि का समय था। सन्ध्या के क्षीण प्रकाश में उर्मिला ने देखा वह अपने पति के सामने बैठी है। वह हंस रहा था, परन्तु उर्मिला के मुख पर मौत की नीरव स्याही पुत गयी।
"देखा हमारा बहुरूप उम्मी!" रामदयाल ने विजय की खुशी में उसे अपनी ओर खींचते हुए कहा। कौन जानता है कि वह 'नवयुग' में छपे लेख की परीक्षा न कर रहा था!
"अभी आयी!" और उर्मिला ऊपर अपने कमरे में भाग गयी।

कुछ समय बीत गया। रामदयाल अपने विचारों में निमग्न रहा।
उस के विचारों का क्रम उर्मिला के कमरे से आने वाली एक चीख से टूट गया। भाग कर ऊपर पहुंचा। देखा उर्मिला के कपड़ों को आग लगी हुई है और वह शान्त भाव से जल रही है।

रामदयाल कांप उठा। उसने उसे बचाने का भरसक प्रयत्न किया, पर वह सफल न हुआ।

•

श्मशान में उर्मिला का शव जल रहा था। और मूर्तिवत बैठा रामदयाल अपनी मूर्खता और नारी-हृदय की इस पहेली को समझने का प्रयास कर रहा था।

## 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' गजानन माधव मुक्तिबोध

उस महाभव्य भवन की आठवीं मंजिल के जीने से सातवीं मंजिल के जीने की सूनी-सूनी सीढ़ियों पर उतरते हुए, उस विद्यार्थी का चेहरा भीतर से किसी प्रकाश से लाल हो रहा था।

वह चमत्कार उसे प्रभावित नहीं कर रहा था, जो उसने हाल-हाल में देखा। तीन कमरे पार करता हुआ वह विशाल वज्रबाहु हाथ उसकी आँखों के सामने फिर से खिंच जाता। उस हाथ की पवित्रता ही उसके खयाल में जाती किन्तु वह चमत्कार, चमत्कार के रूप में उसे प्रभावित नहीं करता था। उस चमत्कार के पीछे ऐसा कुछ है, जिसमें वह घुल रहा है, लगातार घुलता जा रहा है। वह 'कुछ' क्या एक महापण्डित की जिन्दगी का सत्य नहीं है? नहीं, वही है! वही है!

पाँचवी मंजिल से चौथी मंजिल पर उतरते हुए, ब्रह्मचारी विद्यार्थी, उस प्राचीन भव्य भवन की सूनी-सूनी सीढ़ियों पर यह श्लोक गाने लगता है।
मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभवः श्यामास्तमालद्रुमैः – इस भवन से ठीक बारह वर्ष के बाद यह विद्यार्थी बाहर निकला है। उसके गुरू ने जाते समय, राधा-माधव की यमुना-कूल-क्रीड़ा में घर भूली हुई राधा को बुला रहे नन्द के भाव प्रकट किये हैं। गुरू ने एक साथ श्रृंगार और वात्सल्य का बोध विद्यार्थी को करवाया। विद्याध्ययन के बाद, अब उसे पिता के चरण छूना है। पिताजी! पिताजी! माँ! माँ! यह ध्वनि उसके हृदय से फूट निकली।

किन्तु ज्यों-ज्यों वह छन्द सूने भवन में गूँजता, घूमता गया त्यों-त्यों विद्यार्थी के हृदय में अपने गुरू की तसवीर और भी तीव्रता से चमकने लगी।

भाग्यवान् है वह जिसे ऐसा गुरू मिले!

जब वह चिड़ियों के घोंसलों और बर्रो के छत्तों-भरे सूने ऊँचे सिंहाद्वार के बाहर निकला तो एकाएक राह से गुजरते हुए लोग 'भूत' 'भूत' कह कर भाग खड़े हुए। आज तक उस भवन में कोई नहीं गया था। लोगों की धारणा थी कि वहाँ एक ब्रह्मराक्षस रहता है।

बारह साल और कुछ दिन पहले —

सड़क पर दोपहर के दो बजे, एक देहाती लड़का, भूखा-प्यासा अपने सूखे होठों पर जीभ फेरता हुआ, उसी बगल वाले ऊँचे सेमल के वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। हवा के झोकों से, फूलों के फलों का रेशमी कपास हवा में तैरता हुआ, दूर-दूर तक और इधर-उधर बिखर रहा था। उसके माथे पर फिक्रें गुँथ-बिंध रही थीं। उसने पास में पड़ी हुई एक मोटी ईट सिरहाने रखी और पेड़-तले लेट गया।

धीरे-धीरे, उसकी विचार-मग्नता को तोड़ते हुए कान के पास उसे कुछ फुसफुसाहट सुनाई दी। उसने ध्यान से सुनने की कोशिश की। वे कौन थे?

उनमें से एक कह रहा था, "अरे, वह भट्ट। नितान्त मूर्ख है और दम्भी भी। मैंने जब उसे ईशावास्योपनिषद् की कुछ पंक्तियों का अर्थ पूछा, तो वह बौखला उठा। इस काशी में कैसे-कैसे दम्भी इकट्ठे हुए हैं?

वार्तालाप सुनकर वह लेटा हुआ लड़का खट से उठ बैठा। उसका चेहरा धूल और पसीने से म्लान और मलिन हो गया था, भूख और प्यास से निर्जीव।

वह एकदम, बात करनेवालों के पास खड़ा हुआ। हाथ जोड़े, माथा जमीन पर टेका। चेहरे पर आश्चर्य और प्रार्थना के दयनीय भाव! कहने लगा, ' हे विद्वानों! मैं मूर्ख हूँ। अपढ़ देहाती हूँ किन्तु ज्ञान-प्राप्ति की महत्वाकांक्षा रखता हूँ। हे महाभागो! आप विद्यार्थी प्रतीत होते हैं। मुझे विद्वान गुरू के घर की राह बताओ।'
पेड़-तले बैठे हुए दो बटुक विद्यार्थी उस देहाती को देखकर हँसने लगे; पूछा -
'कहाँ से आया है?'
'दक्षिण के एक देहात से!... पढ़ने-लिखने से मैंने बैर किया तो विद्वान् पिताजी ने घर से निकाल दिया। तब मैंने पक्का निश्चय कर लिया कि काशी जाकर विद्याध्ययन करूँगा। जंगल-जंगल घूमता, राह पूछता, मैं आज ही काशी पहुँचा हूँ। कृपा करके गुरू का दर्शन कराइए।'
अब दोनों विद्यार्थी जोर-जोर से हँसने लगे। उनमें-से एक, जो विदूषक था, कहने लगा —
'देख बे सामने सिंहद्वार है। उसमें घुस जा, तुझे गुरू मिल जायेगा।' कह कर वह ठठाकर हँस पड़ा।

आशा न थी कि गुरू बिलकुल सामने ही है। देहाती लड़के ने अपना डेरा-डण्डा सँभाला और बिना प्रणाम किये तेजी से कदम बढ़ाता हुआ भवन में दाखिल हो गया।
दूसरे बटुक ने पहले से पूछा, 'तुमने अच्छा किया उसे वहाँ भेज कर?' उसके हृदय में खेद था और पाप की भावना। दूसरा बटुक चुप था। उसने अपने किये पर खिन्न होकर सिर्फ इतना ही कहा, 'आखिर ब्रम्हराक्षस का रहस्य भी तो मालूम हो।'

सिंहद्वार की लाल-लाल बरें गूँ-गूँ करती उसे चारों ओर से काटने के लिए दौड़ी; लेकिन ज्यों ही उसने उसे पार कर लिया तो सूरज की धूप में चमकनेवाली भूरी घास से भरे, विशाल, सूने आँगन के आस-पास, चारों ओर उसे बरामदे दिखाई दिये — विशाल, भव्य और सूने बरामदे जिनकी छतों में फानूस लटक रहे थे। लगता था कि जैसे अभी-अभी उन्हें कोई साफ करके गया हो! लेकिन वहाँ कोई नहीं था।

आँगन से दीखनेवाली तीसरी मंजिल की छज्जेवाली मुँडेरे पर एक बिल्ली सावधानी से चलती हुई दिखाई दे रही थी। उसे एक जीना भी दिखाई दिया, लम्बा-चौड़ा, साफ-सुथरा। उसकी सीढ़ियाँ ताजे गोबर से पुती हुई थीं। उसकी महक नाक में घुस रही थी। सीढ़ियों पर उसके चलने की आवाज गूँजती; पर कहीं, कुछ नहीं!
वह आगे-आगे चढ़ता-बढ़ता गया। दूसरी मंजिल के छज्जे मिले जो बीच के आँगन के चारों ओर फैले हुए थे। उनमें सफेद चादर लगी गद्दियाँ दूर-दूर तक बिछी हुई थीं। एक ओर मृदंग, तबला, सितार आदि अनेक वाद्य-यन्त्र करीने से रखे हुए थे। रंग-बिरंगे फानूस लटक रहे थे और कहीं अगरबत्तियाँ जल रही थीं।

इतनी प्रबन्ध-व्यवस्था के बाद भी उसे कहीं मनुष्य के दर्शन नहीं हुए। और न कोई पैरों की आवाजें सुनाई दीं, सिवाय अपनी पग-ध्वनि के। उसने सोचा शायद ऊपर कोई होगा।

उसने तीसरी मंजिल पर जाकर देखा। फिर वही सफेद-सफेद गद्दियाँ, फिर वही फानूस, फिर वही अगरबत्तियाँ। वही खाली-खालीपन, वही सूनापन, वही विशालता, वही भव्यता और वही 'मनुष्य-हीनता।'

अब उस देहाती के दिल में से आह निकली। यह क्या? यह कहाँ फँस गया; लेकिन इतनी व्यवस्था है तो कहीं कोई और जरूर होगा। इस खयाल से उसका डर कम हुआ और वह बरामदे में से गुजरता हुआ अगले जीने पर चढ़ने लगा।

इन बरामदों में कोई सजावट नहीं थी। सिर्फ दरियाँ बिछी हुई थीं। कुछ तैल-चित्र टँगे थे। खिड़कियाँ खुली हुई थीं जिनमें-से सूरज की पीली किरणें आ रही थीं। दूर ही से खिड़की के बाहर जो नजर जाती तो बाहर का हरा-भरा ऊँचा-नीचा, माल-तलैयों, पेड़ों-पहाड़ों वाला नजारा देखकर पता चलता कि यह मंजिल कितनी ऊँची हैं और कितनी निर्जन।

अब वह देहाती लड़का भयभीत हो गया। यह विशालता और निर्जनता उसे आतंकित करने लगी। वह डरने लगा। लेकिन वह इतना ऊपर आ गया था कि नीचे देखने ही से आँखों में चक्कर आ जाता। उसने ऊपर देखा तो सिर्फ एक ही मंजिल शेष थी। उसने अगले जीने से ऊपर की मंजिल चढ़ना तय किया।

डण्डा कन्धे पर रखे और गठरी खोंसे वह लड़का धीरे-धीरे अगली मंजिल का जीना चढ़ने लगा। उसके पैरों की आवाज उसी से जाने क्या फुसलाती और उसकी रीढ़
की हड्डी में-से सर्द संवेदनाएँ गुजरने लगतीं।

जीन खत्म हुआ तो फिर एक भव्य बरामदा मिला, लिपा-पुता और अगरू-गन्ध से महकता हुआ। सभी ओर मृगासन, व्याघ्रासन बिछे हुए। एक ओर योजनों विस्तार-दृश्य देखती, खिड़की के पास देव-पूजा में संलग्न-मन मुँदी आँखोंवाले ऋषि-मनीषि कश्मीर की कीमती शाल ओढ़े ध्यानस्थ बैठे।

लड़के को हर्ष हुआ। उसने दरवाजे पर मत्था टेका। आनन्द के आँसू आँखों में खिल उठे। उसे स्वर्ग मिल गया।

'ध्यान-मुद्रा' भंग नहीं हुई तो मन-ही-मन माने हुए गुरू को प्रणाम कर लड़का जीने की सर्वोच्च सीढ़ी पर लेट गया। तुरन्त ही उसे नींद आ गयी। वह गहरे सपनों में खो गया। थकित शरीर और सन्तुष्ट मन ने उसकी इच्छाओं को मूर्त-रूप दिया।... वह विद्वान् बन कर देहात में अपने पिता के पास वापस पहुँच गया है। उनके चरणों को पकड़े, उन्हें अपने आँसुओं से तर कर रहा है और आर्द्र-हृदय हो कर कह रहा है, 'पिताजी! मैं विद्वान बन कर आ गया, मुझे और सिखाइए। मुझे राह बताइए। पिताजी! पिताजी! और माँ अंचल से अपनी आँखें पोंछती हुई, पुत्र के ज्ञान-गौरव से भर कर, उसे अपने हाथ से खींचती हुई गोद में भर रही है। साश्रुमुख पिता का वात्सल्य-भरा हाथ उसके शीश पर आशीर्वाद का छत्र बन कर फैला हुआ है।...

वह देहाती लड़का चल पड़ा और देखा कि उस 'तेजस्वी ब्राह्मण' का दैदिप्यमान चेहरा, जो अभी-अभी मृदु और कोमल होकर उस पर किरनें बिखेर रहा था, कठोर और अजनबी होता जा रहा है।

ब्राह्मण ने कठोर होकर कहा, 'तुमने यहाँ आने का कैसे साहस किया? यहाँ कैसे आये?'
लड़के ने मत्था टेका, 'भगवन्! मैं मूढ़ हूँ, निरक्षर हूँ, ज्ञानार्जन करने के लिए आया हूँ।'
ब्राह्मण कुछ हँसा। उसकी आवाज धीमी हो गयी किन्तु दृढ़ता वही रही। सूखापन और कठोरता वही।
'तूने निश्चय कर लिया है?'
'जी!'
'नहीं, तुझे निश्चय की आदत नहीं है; एक बार और सोच ले!... जा फिलहाल नहा-धो उस कमरे में, वहाँ जाकर भोजन कर लेट, सोच-विचार! कल मुझ से मिलना।'

दूसरे दिन प्रत्युष काल में लड़का गुरू से पूर्व जागृत हुआ। नहाया-धोया। गुरू की पूजा की थाली सजायी और आज्ञाकारी शिष्य की भांति आदेश की प्रतीक्षा करने लगा। उसके शरीर में अब एक नयी चेतना आ गयी थी। नेत्र प्रकाशमान थे।

विशालबाहु पृथु-वक्ष तेजस्वी ललाटवाले अपने गुरू की चर्या देखकर लड़का भावुक-रूप से मुग्ध हो गया था। वह छोटे-से-छोटा होना चाहता था कि जिससे लालची चींटी की भाँति जमीन पर पड़ा, मिट्टी में मिला, ज्ञान की शक्कर का एक-एक कण साफ देख सके और तुरन्त पकड़ सके!
गुरू ने संशयपूर्ण दृष्टि से देख उसे डपट कर पूछा; 'सोच-विचार लिया?'
'जी!' की डरी हुई आवाज!
कुछ सोच कर गुरू ने कहा, 'नहीं, तुझे निश्चय करने की आदत नहीं है। एक बार पढ़ाई शुरू करने पर तुम बारह वर्ष तक फिर यहाँ से निकल नहीं सकते।

सोच-विचार लो। अच्छा, मेरे साथ एक बजे भोजन करना, अलग नहीं!'
और गुरू व्याघ्रासन पर बैठकर पूजा-अर्चा में लीन हो गये। इस प्रकार दो दिन और बीत गये। लड़के ने अपना एक कार्य क्रम बना लिय था, जिसके अनुसार वह काम करता रहा। उसे प्रतीत हुआ कि गुरू उससे सन्तुष्ट हैं।
एक दिन गुरू ने पूछा, 'तुमने तय कर लिया है कि बारह वर्ष तक तुम इस भवन के बाहर पग नहीं रखोगे?'
नतमस्तक हो कर लड़के ने कहा, 'जी!'
गुरू को थोड़ी हँसी आयी, शायद उसकी मूर्खता पर या अपनी मूर्खता पर, कहा नहीं जा सकता। उन्हें लगा कि क्या इस निरे निरक्षर के आँखें नहीं है? क्या यहाँ का वातावरण सचमुच अच्छा मालूम होता है? उन्होंने अपने शिष्य के मुख का ध्यान से अवलोकन किया। एक सीधा, भोला-भाला निरक्षर बालमुख! चेहरे पर निष्कपट, निश्छल ज्योति!

अपने चेहरे पर गुरू की गड़ी हुई दृष्टि से किंचित विचलित होकर शिष्य ने अपनी निरक्षर बुद्धिवाला मस्तक और नीचा कर लिया।

गुरू का हृदय पिघला! उन्होंने दिल दहलाने वाली आवाज से, जो काफी धीमी थी, कहा, ' देख! बारह वर्ष के भीतर तू वेद, संगीत, शास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, साहित्य, गणित आदि-आदि समस्त शास्त्र और कलाओं में पारंगत हो जावेगा। केवल भवन त्याग कर तुझे बाहर जाने की अनुज्ञा नहीं मिलेगी। ला, वह आसन। वहाँ बैठ।'

और इस प्रकार गुरू ने पूजा-पाठ के स्थान के समीप एक कुशासन पर अपने शिष्य को बैठा, परम्परा के अनुसार पहले शब्द-रूपावली से उसका विद्याध्ययन प्रारम्भ कराया।
गुरू ने मृदुता ने कहा, — 'बोलो बेटे —
रामः, रामौ, रामाः
और इस बाल-विद्यार्थी की अस्फुट हृदय की वाणी उस भयानक निःसंग, शून्य, निर्जन, वीरान भवन में गूँज-गूँज उठती।

सारा भवन गाने लगा —
'रामः रामौ रामाः — प्रथमा!'

धीरे-धीरे उसका अध्ययन ' सिद्धान्तकौमुदी' तक आया और फिर अनेक विद्याओं को आत्मसात् कर, वर्ष एक-के-बाद-एक बीतने लगे। नियमित आहार-विहार और संयम के फलस्वरूप विद्यार्थी की देह पुष्ट हो गयी और आँखों में नवीन तारूण्य की चमक प्रस्फुटित हो उठी। लड़का, जो देहाती था अब गुरू से संस्कृत में वार्तालाप भी करने लगा।

केवल एक ही बात वह आज तक नहीं जान सका। उसने कभी जानने का प्रयत्न नहीं किया। वह यह कि इस भव्य-भवन में गुरू के समीप इस छोटी-सी दुनिया में यदि और कोई व्यक्ति नहीं है तो सारा मामला चलता कैसे है? निश्चित समय पर दोनों गुरू-शिष्य भोजन करते। सुव्यवस्थित रूप से उन्हें सादा किन्तु सुचारू भोजन मिलता। इस आठवीं मंज़िल से उतर सातवीं मंज़िल तक उनमें से कोई कभी नहीं गया। दोनों भोजन के समय अनेक विवादग्रस्त प्रश्नों पर चर्चा करते। यहाँ इस आठवीं मंज़िल पर एक नयी दुनिया बस गयी।

जब गुरू उसे कोई छन्द सिखलाते और जब विद्यार्थी मन्दाक्रान्ता या शार्दूलविक्रीड़ित गाने लगता तो एकाएक उस भवन में हलके-हलके मृदंग और वीणा बज उठती और वह वीरान, निर्जन, शून्य भवन वह छन्द गा उठता।

एक दिन गुरू ने शिष्य से कहा, 'बेटा! आज से तेरा अध्ययन समाप्त हो गया है। आज ही तुझे घर जाना है। आज बारहवें वर्ष की अन्तिम तिथि है। स्नान-सन्ध्यादि से निवृत्त हो कर आओ और अपना अन्तिम पाठ लो।'

पाठ के समय गुरू और शिष्य दोनों उदास थे। दोनों गम्भीर। उनका हृदय भर रहा था। पाठ के अनन्तर यथाविधि भोजन के लिए बैठे।

दूसरे कक्ष में वे भोजन के लिए बैठे थे। गुरू और शिष्य दोनों अपनी अन्तिम बातचीत के लिए स्वयं को तैयार करते हुए कौर मुँह में डालने ही वाले थे कि गुरू ने कहा, 'बेटे, खिचड़ी में घी नहीं डाला है?'
शिष्य उठने ही वाला था कि गुरू ने कहा, 'नहीं, नहीं, उठो मत!' और उन्होंने अपना हाथ इतना बढ़ा दिया कि वह कक्ष पार जाता हुआ, अन्य कक्ष में प्रवेश कर क्षण के भीतर, घी की चमचमाती लुटिया लेकर शिष्य की खिचड़ी में घी उड़ेलने लगा। शिष्य काँप कर स्तम्भित रह गया। वह गुरू के कोमल वृद्ध मुख को कठोरता से देखने लगा कि यह कौन है? मानव है या दानव? उसने आज तक गुरू के व्यवहार में कोई अप्राकृतिक चमत्कार नहीं देखा था। वह भयभीत, स्तम्भित रह गया।

गुरू ने दुःखपूर्ण कोमलता से कहा, ' शिष्य! स्पष्ट कर दूँ कि मैं ब्रह्मराक्षस हूँ किन्तु फिर भी तुम्हारा गुरू हूँ। मुझे तुम्हारा स्नेह चाहिए। अपने मानव-जीवन में मैंने विश्व की समस्त विद्या को मथ डाला किन्तु दुर्भाग्य से कोई योग्य शिष्य न मिल पाया कि जिसे मैं समस्त ज्ञान दे पाता। इसीलिए मेरी आत्मा इस संसार में अटकी रह गयी और मैं ब्रह्मराक्षस के रूप में यहाँ विराजमान रहा।'
'तुम आये, मैंने तुम्हें बार-बार कहा, लौट जाओ। कदाचित् तुममें ज्ञान के लिए आवश्यक श्रम और संयम न हो किन्तु मैंने तुम्हारी जीवन-गाथा सुनी। विद्या से वैर रखने के कारण, पिता-द्वारा अनेक ताड़नाओं के बावजूद तुम गँवार रहे और बाद में माता-पिता-द्वारा निकाल दिये जाने पर तुम्हारे व्यथित अहंकार ने तुम्हें ज्ञान-लोक का पथ खोज निकालने की ओर प्रवृत्त किया। मैं प्रवृत्तिवादी हूँ, साधु नहीं। सैंकड़ों मील जंगल की बाधाएँ पार कर तुम काशी आये। तुम्हारे चेहरे पर जिज्ञासा का आलोक था। मैंने अज्ञान से तुम्हारी मुक्ति की। तुमने मेरा ज्ञान प्राप्त कर मेरी आत्मा को मुक्ति दिला दी। ज्ञान का पाया हुआ उत्तदायित्व मैंने पूरा किया। अब मेरा यह उत्तरदायित्व तुम पर आ गया है। जब तक मेरा दिया तुम किसी और को न दोगे तब तक तुम्हारी मुक्ति नहीं।'

' शिष्य, आओ, मुझे विदा दो।'
'अपने पिताजी और माँजी को प्रणाम कहना।'

शिष्य ने साश्रुमुख ज्यों ही चरणों पर मस्तक रखा आशीर्वाद का अन्तिम कर-स्पर्श पाया और ज्यों ही सिर ऊपर उठाया तो वहाँ से वह ब्रह्मराक्षस तिरोधान हो गया।

वह भयानक वीरान, निर्जन बरामदा सूना था। शिष्य ने ब्रह्मराक्षस गुरू का व्याघ्रासन लिया और उनका सिखाया पाठ मन-ही-मन गुनगुनाते हुए आगे बढ़ गया

## "माया दर्पण" निर्मल वर्मा

छज्जे पर भूरी, जलती रेत की परतें जम गई है। हवा चलने पर अलसाए-से धूल-कण धूप में झिलमिल-से नाचते रहते हैं। लड़ाई के दिनों में जो बैरक बनाए गए थे, वे अब उखाड़े जा रहे हैं। रेत और मलबे के ढूह ऐसे खड़े हैं, मानो कच्ची सड़क के माथे पर गोमड़े निकल आए हों।

खिड़की से सबकुछ दीखता है। दिन और शाम के बीच कितने विचित्र रंगों की छायाएं टीलों पर फिसलती रहती है!

दूर से निरंतर सुनाई देता है, पत्थर तोड़ने की मशीन का शोर, दैत्य के घुर्राटों की तरह.... घुर्र-घुर्र-घुर्र...

दोपहर की नींद के कच्चे कगारों पर ये आवाज़ें लहरों–जैसी थप–थप टकराती है।...तरन अकबकाकर जाग गई। हाथ माथे पर गया तो लगा, पसीने की बूंदों पर बाल चिपक गए हैं, बिंदी की रोली दोनों भौहों के बीच फैल गई है। उसे लगा, मानो वह अब तक जाग रही थी। सचमुच जागने पर पता चला था कि सोते समय भी वह यही बराबर सोच रही थी। दुपहर की नींद जो ठहरी, आधी आंखों में, आधी बाहर।

आंखें धोई, बिंदी पोंछ दी, पंप के पानी को चुल्लू में लेकर आंखों में छिड़का। गुसलखाने की खुली खिड़की से मैदान का वह हिस्सा दीखता था, जहां बैरकों को ढहाया जा रहा था। आधी टूटी इमारतें, सूखे–भग्न कंकालों–सी खड़ी थी। सूखी रेत के कण तितीरी धूप में मोतियों–से झिलमिला उठते थे। तरन को लगा, मानो उसके दांतों के भीतर भी रेत चरमरा रही हो।

– देख तो, तरन, बाबू उठ गए हों, तो हुक्का उनके कमरे में रख आ। – बुआ ने रसोई से सटी कोठरी से आवाज़ दी। इतनी उम्र में भी बुआ को सबकुछ याद रहता है। लगता है, जैसे उठते–बैठते, सोते–जागते उनकी चेतना की डोर बाबू की दिनचर्या से जुड़ी रहती है। अपनी कोठरी की देहरी पर ऊंघती रहती है बुआ, आसपास के कार्य–कलाप से सर्वथा निर्लिप्त। इस पर भी उन्हें बाबू की हर ज़रूरत का आभास कैसे हो जाते हैं, तरन के लिए यही सबसे बड़ा आश्चर्य है।

शाम होते ही दीवान साहब अधीर आतुरता से मेहमानों की प्रतीक्षा करने लगते हैं। थोड़ी देर के लिए कुछ दूर छोटी लाइन के स्टेशन पर टहलने निकलते हैं, तो भी जल्दी वापस लौट आते हैं, ताकि कोई अचानक उनकी अनुपस्थिति में घर न आ जाए। आते ही बुआ से पूछते हैं कि उनके पीछे कोई आया तो नहीं था? बुआ 'ह–न' के अलावा कोई उत्तर नहीं दे पातीं। बरसों के बाद आज भी उन्हें दीवान साहब से विचित्र अज्ञात–सा भय लगा रहता है। छोटी थी, तो भी भाई के सामने सिर झुका रहता था, विधवा होने पर दीवान साहब ने कुछ रुपये महीने बांध दिए थे। अब इस उम्र में, मालकिन के न रहने पर आई हैं, वह भी इसलिए कि इतने बड़े घर में तरन अकेली है। तरन न होती तो क्षण–भर के लिए भी उनका इस उजाड़ अकेले घर में रहना दूभर हो जाता।

धूप मिटते ही बरामदे में जमघट लग जाता है। सरकारी सुपरवाइज़र मिस्टर दास से लेकर बड़े ठेकेदार मेहरचंद तक काम ख़त्म होने पर दीवान साहब के बरामदे में कुछ देर के लिए सुस्ताने आ बैठते हैं। और है भी क्या इस उजाड़ बस्ती में, जहां दिन की थकान उतारी जा सके? अहीरों के मिट्टी के झोंपड़ें, इक्की–दुक्की पान–बीड़ी की दुकानें, ढाबे और ऊपर टीले पर काल–भैरव का मंदिर। ले–देकर एक दीवान साहब का ही तो घर है, जहां दूर शहरों से आए प्रवासी भद्र लोग घड़ी–दो–घड़ी हंस–बोलकर जी हल्का कर लेते हैं।

– देख तो, तरन, जरा चिलम तो भर लाना दास बाबू के लिए। – दरवाज़े की ओर मुंह मोड़कर बाबू ने कहा। उनके चेहरे की मुस्कान में अब ऊब का भाव डूबने लगा था। दास बाबू आए हैं, तो और लोग भी आते होंगे।

– आज इतनी देर कैसे हो गई? भोंपू तो कब का बज चुका।

दास बाबू का थुल–थुल गेंद–सा शरीर आरामकुर्सी में धंस गया। बोले, तो नकली पीले दांत कटकटा गए – नहर–पार ज़मीन देखने गया था। वापस लौटते हुए नया पेट्रोल–पंप देखने रुक गया। अब यहां पेट्रोल की दिक्कत नहीं रहेगी, दीवान साहब!

तरन भीतर से हुक्का लेकर आई, तो दास बाबू सिमट गए अपने में। पचास से ऊपर उनकी उम्र लांघ गई है, किंतु किसी स्त्री के सामने आज भी घबरा–से जाते हैं।

तरन के पांव पीछे मुड़े, तो वह तनिक स्वस्थ हुए। गले को साफ़ किया, फिर भी जब बोले, तो आवाज़ खंखारती रही –

कुछ दिनों के लिए हरिद्वार-ऋषिकेश क्यों नहीं घूम आते, दीवान साहब? न हो, बिटिया का मन ही बहल जाएगा। दिन-रात अकेले में क्या ऊब नहीं जाती होगी?

दास बाबू तरन का नाम नहीं ले पाते। वह ज़रा उम्र में छोटी होती, तो उसके सम्मुख इतना घना-सा संकोच न घिर आता; जरा उम्र में छोटी होती, तो नाम सहज-स्वाभाविक हो जाता। किंतु इन दो सीधी, स्पष्ट सीमाओं के बीच आयु की धुरी समय के जिस दलदल में फंसी रह गई हैं, उम्र जहां न बढ़ती है, न घटती है, उसे क्या कहकर संबोधित करें, दास बाबू कभी समझ नहीं पाते।

बाबू कुछ भी न कहकर चुप बैठे रहे। वह अपने इन मित्रों से हंस-बोल लेते हैं, यह बात और है; किंतु मन में हमेशा उन्हें अपने से छोटा समझते हैं। इतनी घनिष्ठता के बावजूद उन्होंने अपने और दूसरों के बीच कहीं एक लकीर खींच रखी है, जिसका उल्लंघन करने का दुस्साहस कोई भी नहीं कर पाता।

तरन के पांव, जो दास बाबू की बात पर सहसा देहरी पर ठिठक गए थे, फिर आगे बढ़ गए। दूसरे कमरे में बुआ पुराने कपड़े सी रही थीं। उनकी आंख बचाकर वह अपने कमरे में चली आई। दरवाज़ा बंद करके भी देर तक दरवाज़े के आगे खड़ी रही। बरामदे की आवाज़ों को नहीं सुनती, सुनती है उस निर्भेद्य मौन कों, जो सारे घर में छाया है, जिसके भीतर ये आवाज़ें पराई, अपरिचित, भयावह-सी जान पड़ती है।

खिड़की से बरामदा दीखता है। जब किसी शाम बाबू के मित्र नहीं आते, तो वह अकेले आंखें मूंदे कुर्सी पर बैठे रहते हैं। ऐसे क्षणों में कितना गहन-सा मौन बाबू के इर्द-गिर्द घिर जाता है! उसने कई बार सोचा है कि ऐसे में वह बरामदे में उनके पास जाकर बैठ जाए, इधर-उधर की बातें करे। आख़िर इस घर में अब वे दो ही तो रह गए है, जो विगत दिनों की स्मृतियों में एक-दूसरे के साझीदार हो सके। किंतु इतने पर भी कभी पांव नहीं उठते, सिर्फ़ खिड़की से ही वह चुपचाप उन्हें देखती रही है।

हवा चलती है, दुपहर-शाम, सांय-सांय। मैदानों के टीलों-ढूहों से मिट्टी, रेत के ग़रम रेले बार-बार दरवाज़े खटखटाते है और रास्ता न पाकर आंगन में बिखर जाते हैं।

कभी-कभी सड़क को समतल बनाने के लिए बारूद से चट्टानों को फोड़ा जाता। विस्फोट होते ही कंपकंपाता-सा धमाका होता, आर-पार धरती हिल जाती, दूर-दूर तक ख़तरे की लाल झंडियां हवा में लहराती रहतीं।

ऊंघती हुई तरन अचानक अचकचाकर चौंक-सी गई, मानो किसी ने झटका देकर उसे झिंझोड दिया हो। शाम का बुझा-बुझा-सा पीलापन चुपके-से सारे मैदान में फैल गया था।

बुआ कमरे में आई। उसे खिड़की के पास ऊंघते देखा, तो झिड़ककर कहा- कितनी बार कहा है, दोनों वक्त मिलते समय अंधेरे कमरे में नहीं बैठते। शंभु को लेकर तनिक बाहर क्यों नहीं घूम आतीं?

किंतु उसी समय सीढ़ियों पर भारी पदचाप सुनाई दी। तरन की आंखें अनायास खिड़की की ओर उठ गई, इंजीनियर बाबू आए थे। यह इंजीनियर बाबू भी अजीब है! इस तरह धम-धम करते आते हैं कि सारा घर हिल उठता है।

चार-पांच महीने पहले इधर सरकारी आर्किटेक्ट होकर आए थे, किंतु यहां सब उन्हें 'इंजीनियर बाबू' के नाम से ही संबोधित करते हैं। उनकी चाल-ढाल और बातचीत से ऐसा जान पड़ता है, मानो बरसों से यहां रहते आए हों। वह बाबू के रोज़मर्रा आनेवाले मित्रों में नहीं हैं, बाबू के मित्र हैं, यह कहना भी कठिन है, शायद इसलिए कि उम्र में वह बाबू से आधे हैं और कोशिश करने पर भी बाबू उनसे हंस-खुलकर बातचीत नहीं कर पाते।

तरन ने हड़बड़ाकर बालों को समेट लिया, दो-तीन बार जल्दी-जल्दी कंघी से उन्हें कहीं धीरे-से दबाया, कहीं हल्के-से उठाया। पाउडर लगाया तो आंखें फड़फड़ा उठीं। मांग के नीचे, माथे के बीचोबीच बिंदी लगाते हुए तरन का हाथ क्षण-भर के लिए ठिठक-सा गया। सोचा, क्या यह भ्रम है? न, अपने लिए उसे कोई भ्रम नहीं था। चेहरे का आकर्षण, चाहे जिसमें जैसा होता हो, वह जानती थी कि उसमें नहीं है। उसके लिए अब मन क्लांत नहीं होता। बरसों पहले सड़क पर चलते हुए कोई उसकी ओर देखता, तो तन-मन सिहर उठता था। वह दौड़कर वापस आती थी, घंटों आईने के सामने खड़ी रहती थी। क्या देखते हैं लोग उसमें? यह प्रश्न कितना विचित्र था और इसका उत्तर पाने के लिए कितनी देर तक दिल धौंकनी की तरह चलता रहता था।

आज जब कभी लोग देखते हैं, तो उसे स्वयं अपने पर आश्चर्य होता है। लगता है, जैसे वह अपने को छोड़कर उसके संग मिल गई है, उन्हीं की कौतूहल-भरी दृष्टी से अपने को देख रही है...

- आप अभी तक यहीं बैठी हैं?
तरन एकाएक चौंक-सी गई। दरवाज़े पर इंजीनियर बाबू खड़े थे।
- मैं अभी बरामदे में आ रही थी। आप चाय पी चुके?
- चाय फिर किसी दिन पीने आऊंगा, जब आपको बरामदे में आने की फुरसत होगी!... इस वक्त तो झटपट घर पहुंचना है।
तरन ने उनके सामने चौकी रख दी।
- ठहरिए, कुछ खाकर जाइए! अभी तो आप आए हैं!

तरन रसोई की ओर जाने लगी, किंतु इंजीनियर बाबू ने उसे बीच में ही रोक दिया- देखिए, इस वक्त यह झंझट रहने दीजिए। अभी-अभी शहर से लौट रहा हूं। रास्ते में धूल-गर्द खाई है, उससे बिल्कुल पेट भर गया है।

जब कभी इंजीनियर बाबू हंसते हैं, तरन को हमेशा यह महसूस होता है कि इस बस्ती के लोग चाहे आदर-भाव से उन्हें 'इंजीनियर बाबू' कहकर पुकारें, उम्र में वह उससे छोटे ही है। पहले-पहले जब उसने उन्हें दीवान साहब की मित्र-मंडली के बीच बरामदे में देखा था, तो गहरा आश्चर्य हुआ था। इतने बड़े बुजुर्गों के बीच कॉलेज के छात्र-से दीखनेवाले यह इंजीनियर बाबू ठीक से फिट नहीं बैठते थे।

- आप उस तरफ़ आई नहीं, मोंटू आपके बारे में रोज़ पूछता है। मोंटू इंजीनियर बाबू का नौकर है, जब कभी तरन रेल्वे लाइन के पार टहलने जाती है, वह उसे हमेशा मिलता है।
- इस बार आऊंगी। आप रहेंगे?
- अगले हफ़्ते आइएगा। चार-पांच दिन के लिए एकदम बहुत काम आ पड़ा है।

इंजीनियर बाबू जाने से पहले एक क्षण रुके, रूमाल से अपनी ऐनक का शीशा साफ़ किया।

तरन की आंखें चुपचाप ऊपर उठ गई और देर तक उसी रिक्त स्थान पर टिकी रहीं, जहां कुछ क्षण पहले इंजीनियर बाबू खड़े थे।

कैसे है यह इंजीनियर बाबू!... खट-खट करके जब सीढ़ियां उतरते हैं तो सारा घर हिल उठता है।

खिड़की के परे रेलवे लाइन के ऊपर डूबता सूरज खून की लंबी-सी रेखा खींच गया था। ऊंची-नीची चट्टानों के बीच मज़दूरों के खोखल, शाम की पीली धूप में छोटे-छोटे लकड़ी के बक्सों-से दिखाई देते थे। काली देवी के मंदिर के आस-पास फीके गुलाबी धुएं का बादल क्षण-प्रतिक्षण गाढ़ा होने लगा था।

तरन खिड़की से उठकर पलंग के पास चली आई। अधलिखा पत्र तकिये के नीचे अब भी दबा था। सुबह से भाई को पत्र लिखने बैठी है, किंतु अभी तक मुश्किल से पांच-छः सतरें ही लिख सकी है। जब-जब लिखने की कोशिश करती है, भाई का चेहरा समय की बुझी-बासी परतों को काटता हुआ आंखों के सामने घूम जाता है - वह चेहरा नहीं, एक और शक्ल है, बहुत सादी, बहुत उदास...तब मां नहीं रही थी। शुरू से ही बाबू का इतना डर था कि जी भरकर रोने में भी झिझक होती थी। और तब भाई आए थे।...
- देखती नहीं तरन, बाबू कितने अकेले रह गए हैं! - उन्होंने कांपते होठों से कहा था - हमें उनके संग रहना होगा।... कुछ दिनों में फिर सबकुछ पहले-जैसा ही हो जाएगा।

और आज तरन सोचती है, कहां हो पाया सबकुछ पहले-जैसा? उन दिनों वह काफ़ी छोटी थी। भाई क्यों चले गए और बाबू उन्हें क्यों नहीं रोक पाए, तब कुछ भी समझ में नहीं आया था। आज लगता है, मां एक कड़ी थीं परिवार और बाबू के बीच, उनके जाते ही वे एक घर में रहते हुए भी सहसा एक-दूसरे के लिए अजनबी-से बन गए थे।

बुआ उसे भोजन के लिए बुलाने आई। तरन के हाथ में काग़ज़ देखकर पूछा - क्या कोई चिट्ठी आई है?
- भाई को लिख रही थी। कल से उनका पत्र आया पड़ा है।
- क्या कुछ आने के लिए लिखा है?
- लिखा है, कुछ दिनों के लिए मैं उनके पास चली जाऊं...क्यों बुआ, चली जाऊं तो कैसा रहेगा?

बुआ विस्मय से आंखें फाड़ते हुए तरन को देखती रहीं। इतनी दूर आसाम तरन अकेली जाएगी, इसकी कल्पना करना भी पागलपन लगता है।

बहन के लिए इतनी मोह-ममता होती, तो इतने बरसों में क्या एक बार भी वह देखने नहीं आता? - बुआ बोलीं- बाप से लड़ाई है, तो क्या सबसे किनारा कर लेना चाहिए?

दमा के कारण बुआ से अधिक नहीं बोला जाता। जितने शब्द मुंह से बाहर निकलते हैं, उनसे कहीं ज़्यादा चढ़ती सांस के भंवर में डूब जाते हैं। बुआ की आंखों में आंसू देखकर तरन एकाएक निश्चय नहीं कर सकी कि वे उसके भाई के लिए हैं, अथवा खांसी के कारण खुद-ब-खुद उमड़ आए हैं।

- तुम चलो बुआ, मैं अभी आती हूं। - कमरे में बोझिल-सा सन्नाटा छा जाता है। बरामदे में चहलकदमी करते हुए बाबू की थकी, अनिश्चित-सी पदचाप सुनाई दे जाती है। खिड़की के बाहर मैदान के अंधेरे में मिट्टी के लंबे-लंबे ढूहों की पतली छायाएं फीकी चांदनी में उघड़ आई है।

एक धुंधली-सी तस्वीर उभर आती है। ढलवां घाटियों पर दूर-दूर तक ऊपर-नीचे चाय के बाग फैले हैं...इन्हीं बागों के बीच पेड़ों के झुरमुट के पीछे कहीं भाई रहते होंगे। कहते हैं, वहां स्टीमर पर जाना पड़ता है...जाने स्टीमर पर बैठकर कैसा लगता होगा!

तरन उस छोटे-से स्टेशन के सिग्नल की बत्ती देखती रही। पास आती ट्रेन के पहियों की गड़गड़ाहट मकान की दीवारों, मैदान में दूर खड़े घट्टों और टीलों को झिंझोड़-सी जाती है। कुछ देर के लिए पत्थर तोड़ने की मशीन की भयावह घुर्र-घुर्र ट्रेन के पहियों-तले डूब जाती है। इंजन की हेडलाइट के घूमते प्रकाश-वृत्त में आस-पास खड़े झाड़-झंखाड़ झिलमिला उठते हैं...और फिर वही पहले-जैसी घनी, बोझिल चुप्पी चारों ओर फैल जाती है।

उस रात बुआ तरन के कमरे में आई और देर तक बैठी रहीं। तरन की ओर कभी-कभी देख लेतीं और फिर एक लंबी गहरी सांस लेकर सुपारी कतरने लगतीं।
- सो गई, तरन? - बुआ कभी-कभी शंकित स्वर में सिर उठाकर पूछ लेतीं।

– न बुआ, अभी नहीं।

तरन समझ जाती कि बुआ कोई बात शुरू करने से पहले रास्ता टटोल रही है। वह चुपचाप आंखें मूंदकर प्रतीक्षा करती रहती।
– आज तेरी मां के कमरे में गई थी, – बुआ कुछ देर बाद धीरे-धीरे बोलीं – मैं तो देखकर हैरत में आ गई, तरन! न जाने कितने बरसों से उसने ये सब चीज़ें जोड़-जोड़कर जमा की है! उसने ब्याह की साड़ी तक संदूक में अभी तक संभालकर रखी है।

तरन के मन में हल्का-सा कौतूहल जाग उठा, मां का भी ब्याह हुआ होगा, इस पर कभी-कभी विश्वास नहीं होता।
– तेरे बाबू उन दिनों नये-नये दीवान बने थे।.... बड़ी धूमधाम से उनका ब्याह हुआ था।

सिखों के दरबार में एक वही तो हिंदू दीवान थे, जो बेरोक-टोक राजा से मिलने जाया करते थे।

बुआ की आंखों में एक बहुत पुराना, कभी न मिटनेवाला सपना तिर आया, हाथ का सरौता चलते-चलते रुक गया – एक दिन रिसायत के अंग्रेज़ रेजिडेंट उनसे मिलने आए थे। मुहल्ले के सब लोग आश्चर्य में अपने-अपने घरों से निकलकर हमारे घर के सामने जमा हो गए थे। किंतु तेरे बाबू अपने नेम-धर्म के इतने पक्के थे कि उनके जाने के बाद उन्होंने स्नान किया और सब बर्तनों को दुबारा धुलवाया था।

तरन उठकर पलंग पर बैठ गई। कितनी बार उसने बुआ के मुंह से ये सब बातें सुनी है, किंतु हर बार मन में नये सिरे से उत्सुक हो उठती है। लगता है, जैसे वह चोरी-चुपके, दबे पांवों किसी विचित्र, मायावी प्रदेश में चली आई है...
– बुआ, तुमने तो उन दिनों बाबू को देखा होगा। क्या तब भी तुम्हें उनसे आज की तरह डर लगता था?
– अरे, कौन नहीं डरता था तेरे बाबू से? – बुआ के होठों पर एक ग्लान महीन-सी मुस्कराहट सिमट आई– उन दिनों का डर ही तो आज तक चला आता है।.. तेरी मां को तो मुझसे भी ज़्यादा डर लगता था। वह तो बस टुकुर-टुकुर उन्हें देखती ही रहती थी। जिस दिन तेरे बाबू दरबार जाते थे, मैं और वह झरोखे में खड़े होकर लुक-छिपकर उन्हें देखा करती थीं। चूड़ीदार चमचमाता पाजामा, सफ़ेद रेशमी अचकन और सिर पर राजसी, प्याजी रंग की पगड़ी...हमारी आंखें उन पर से उठती ही न थीं।

बुआ के हाथ सरौते पर टिके रहे, आंखें शून्य के न जाने किस कोने में जाकर अटक गईं।
– सोचती हूं जब आज बाबू तेरे लिए ऊंची जात और बड़े घरने की बात चलाते हैं, तो क्या यह ठीक है? वह बात आज कहां रही, जो वर्षों पहले थी? आज अपनी कौन इज़्ज़त रह गई है, जो बड़े घर-घराने का लड़का मिले! लेकिन उन्हें यह बात समझाए कौन?

बुआ की आंखों में एक घना, अभेद्य-सा आश्चर्य घिर जाता है, मानो वह खुद न समझ पा रही हो कि जो नहीं रहा, आज भी कैसे नोंक की तरह चिपटा है। मान-गौरव नहीं रहा, ज़मीन-जायदाद कब की बिक-लुट गई, बाप-दादा की विरासत के नाम पर बचा रह गया है एक यह मकान और समय की धूल में लदा-फंदा फटे-चिथड़े-सा 'दीवान' का ख़िताब, जिसे चाहे ओढ़ लो, चाहे बिछा लो, पर जो नहीं है, उसे कोई कब तक मानेगा?

बुआ का कंठ भारी हो उठता है, आंखों के आगे गीला-सा झिलमिला तैर जाता है, किंतु मुस्कराहट उनके होठों पर तब भी जमी रहती है, मानो वह उसे मिटाना भूल गई हों।

किंतु तरन को बात का पहलू अब बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। अच्छा लगता था पहले, जब मां हंसी-हंसी में वे गहने दिखाया करती थीं, जो उसे ब्याह पर दिए जाएंगे। तब हल्की-सी गुदगुदी होती, ब्याह के लिए नहीं, गहनों के लिए नहीं, बल्कि उस अजीब, अनजानी खुशी के लिए, जो उसकी अपनी थी, जिसमें वह बिल्कुल अकेली थी।

तरन फिर लेट गई। खिड़की से सिग्नल की लाल बत्ती दीखती है, दूर अंधेरे में। नहर के पीछे बैरकें हैं, जिन पर रात चुपचाप झुक आई है। इन्हीं बैरकों की किसी संकरी अंधेरी कोठरी में इंजीनियर बाबू रहते होंगे, तरन ने सोचा और आंखें मूंद लीं।

उस पल उसे कुछ भी महसूस नहीं हुआ। यह भी याद नहीं रहा कि बुआ ने उससे कुछ कहा है। टांगों पर एक हल्की मीठी–सी थकान उतर आई। बरसों पहले की एक धुंधली–सी अनुभूति कहीं भीतर धीमे–से उमड़ आई है। लगता है, जैसे वह टब के पानी में अपनी नंगी देह पसारे लेटी है। बीच में कुछ भी नहीं है, कोई घटना नहीं घटी है। जो बीता है, जो कुछ भी घटा–बढ़ा है, वह सब पानी के ऊपर है...
– सो गई, तरन? – बुआ ने पूछा।

इस बार तरन स्वयं निश्चय नहीं कर सकी कि वह नींद के इस तरफ़ है या दूसरी तरफ़... पानी के ऊपर छायाएं तिरती है, किंतु उसके नीचे कितना ढेर–सा मौन बिखरा है!

फिर अनेक दिन ऐसे आते हैं, जब दीवान साहब अपने कमरे से बाहर नहीं निकलते। बरामदा सूना पड़ा रहता। खाली कुर्सियों पर सूखी गरम रेत और चूने की परते इकट्ठी होती रहतीं। बुआ कई बार बाबू के कमरे तक गई है और चुपचाप वापस लौट आई है। खाना भी वह अपने कमरे में मंगवा लेते। आते–जाते कभी सामने पड़ जाती थी, तो देखते भी नहीं, देख भी लेते तो इस तरह से मानो उसे पहचान पाने में दुविधा हो रही हो। उनकी कोशिश यही रहती कि जहां वह बैठी हो, वहां न जाना हो, अकस्मात मुठभेड़ भी हो जाए, तो दूसरी तरफ़ देखने लगें, या रास्ता बचाकर निकल जाएं।

तरन समझती है, बाबू उससे दूर–दूर क्यों रहने लगे हैं, क्यों घर में तनाव रहने लगा है। पहले, बहुत दिन गुस्सा आता था ...अब वह भी नहीं आता, केवल रूखी–सी रिक्तता मन में भर जाती है। कभी–कभी वह सोचती है कि यदि बाबू को उससे इतनी विरक्ति है, तो क्यों नहीं उससे छुटकारा पा लेते? कई बार बुआ ने ज़ोर डालकर बाबू से पत्र लिखवाए हैं, बातचीत आगे भी बढ़ी है, उसकी फोटो और जन्म–पत्री बाहर भेजी गई है, किंतु हर बार बीच में ही सबकुछ रुक जाता है, क्यों रुक जाता है, आज तक तरन की समझ में नहीं आया है...

आज भी तरन जब उस रात की घटना पर सोचतीं है, तो सारी देह में झुरझुरी–सी दौड़ जाती है...

उस रोज आधी रात से कुछ पहले बुआ उसके कमरे में आई थीं। वह जाग रही थी। अंधेरे में बुआ की पदचाप धीरे–धीरे उसके पलंग के पास सरकती सुनाई दी थी। वह सांस रोके लेटी रही थी।
– बुआ, तुम हो?

बुआ का स्वर कांप रहा था – तूने कुछ सुना?
तरन उठकर बैठ गई। आंखें फाड़ते हुए अंधेरे में धुएं की काली छाया को देखा।
– क्या बात है, बुआ?
– मुझसे अब इस घर में नहीं रहा जाएगा।
– क्या बात है, बुआ?
– कहना अब कुछ बाकी रहा है, तरन? – बुआ का गला रूंध–सा–गया।

तरन स्तब्ध आंखों से अंधेरे के उस भाग को देखती रही, जहां बुआ खड़ी थीं।
– तुमसे कुछ बात हुई थी? – तरन ने पूछा।
– मैं तो कमरे में ही बैठी रही थीं, वह खुद आए थे।... मैं कहती हूं कि जो कुछ उन्हें कहना है, तुझसे क्यों नहीं कहते?... तू अब बच्ची तो नहीं रहीं...

नाहक मुझे बीच में क्यों घसीटते है?
– क्या कहते थे, बुआ? – तरन के स्वर में एक अजीब-सा खोखलापन उभर आया।
– उनकी बात मुझे कुछ समझ में नहीं आती।...कहते थे, मां के सामने सबकुछ हो जाता, तो ठीक रहता। फिर देर तक चुपचाप कमरे में घूमते रहे।...मैंने मौका देखकर कहा कि ऊंचे खानदान को लेकर आजकल कौन बैठा रहता है? अच्छा लड़का मिले तो सबकुछ है। लेकिन मेरी बात सुनने ही वह एक मिनट भी कमरे में नहीं ठहरे। तेजी से अपने कमरे में गए और फटाक से दरवाज़ा बंद कर लिया। कुछ देर बाद जब बाहर आए, तो एकाएक उन्हें पहचान नहीं सकी। आंखें सूर्ख हो रही थीं, माथे पर बाल बिखरे थे, तेरी मां के मरने के बाद मैंने उन्हें कभी इस रूप में नहीं देखा। हाथ में एक पोटली थी, जो उन्होंने मेरे सामने फेंक दी...इसकी मां के गहने इसमें रखे हैं, इन्हें लेकर वह जहां जाना चाहे, चली जाए। लड़का चला गया, तो मर नहीं गया; यह चली जाएगी, तो भी मुझे कुछ नहीं होगा।...मैं तो भौचक्की रह गई, तरन! क्या अपनी लड़की के लिए कोई ऐसे कहता है?

उस रात बुआ का प्रश्न अंधेरे में भटकता रहा था। वह कुछ भी नहीं समझ पाई थी कि बाबू उससे क्या चाहते हैं। उसे अपने से ही डर लगने लगा था। लगा, जैसे बाबू को उस पर संदेह है, मानो वह भी भाई की तरह किसी-न-किसी दिन उन्हें धोखा देकर चली जाएगी।...पहले उसने कभी ऐसा नहीं सोचा था किंतु उस रात बाबू के संदेह ने उसके मन को भी अस्थिर कर दिया। क्या सचमुच वह इस घर में रहना चाहती है? उसने बार-बार अपने से पूछा था और उसे लगा था कि शायद बाबू का संदेह सही हो, शायद उसे उस घर से, घर के सांय-सांय करते कमरों से डर लगता है, जिसे आज तक वह छिपाती आई है – क्या यह सच है?

यह कैसा प्रश्न था, सीधा-सादा सहज, किंतु उन हज़ारों प्रश्नों में एक, जिनका शायद कोई उत्तर नहीं होता, तरन यह नहीं जानती थी और तभी वह रात-भर तकिये में मुंह छिपाकर थर-थर कांपती रही थी।

उस रात तरन ने अचानक निश्चय कर लिया कि वह कुछ दिनों के लिए भाई के पास जाकर रहेगी...

दूसरे दिन तरन चाहने पर भी बाबू से अपने जाने की बात कहने का साहस न कर पाई। कई बार उनके कमरे तक गई, किंतु बिना कुछ कहे-सुने उल्टे पांव वापस लौट आई। उसे बाबू से एक विचित्र-सा भय लगता था, जिसे मिटाना कभी संभव नहीं हो पाता। उसने बुआ से कहा कि वह बाबू से जाकर कह दे।

बुआ विस्मित-सी उसकी ओर देखती रही थीं। किंतु बाद में जब उन्होंने उस पर विचार किया, तो लगा कि शायद तरन का चले जाना ही बेहतर है।

उस शाम बाबू ने उसे अपने कमरे में बुलाया था। दरवाज़े की देहरी पर तरन के पांव सहसा ठिठक गए थे, सांस घुटने-सी लगी थी।
– आ जाओ, इधर बैठो। – बाबू का भारी, धीमा-सा स्वर सुनाई दिया।

दीवार के संग तकिये का सहारा लेकर बाबू बैठे थे, चुप, निश्चल। एक बार विचार आया कि जैसे वह दबे पांव आई है, वैसे ही वापस लौट जाए, किंतु उसके पांव फ़र्श से चिपके रहे!
– सुना है, तुम कुछ दिनों के लिए बाहर जाना चाहती हो।

तरन चुपचाप बैठी रही। उसे लगा, मानो बाबू भाई का नाम उसके सामने नहीं लेना चाहते, उसने कभी बाबू के मुंह से भाई की चर्चा नहीं सुनी। जब कभी उनकी चिट्ठी आती है, बाबू बिना पढ़े उसे उनके पास भिजवा देते हैं।
– यहां मन नहीं लगता, तरन? – बाबू के स्वर में एक निरीह, अबोध-सी जिज्ञासा थी, मानो उन्होंने पहली बार इस संबंध में सोचा हो।

तरन की आंखें एक पल के लिए ऊपर उठी। उसके भीतर एक अजीब-सी उथल-पुथल होने लगी। शायद बाबू उसे रोक लेंगे, शायद उसके बिना उन्हें भी अकेलापन महसूस होता होगा। उसका दिल तेजी से धड़कने लगा। यदि एक बार भी बाबू उसे रुकने के लिए कहेंगे तो वह एकदम अपना इरादा बदल देगी।
फिर जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

किंतु बाबू चुप बैठे रहे। तरन की आंखें नीचे झुक गई। कमरे की नीरवता फिर बोझिल-सी बन आई।
– अच्छा है, जाना चाहती हो, तो चली जाओ।... मेरी ओर से चिंता मत करना।
– बाबू का स्वर बिल्कुल स्थिर और भावहीन था।
कमरे से बाहर जाते हुए तरन के पांव एक बार देहरी पर ठिठके थे, सोचा था शायद बाबू कुछ कहेंगे, किंतु कमरे में सन्नाटा घिरा रहा।...

शायद कुछ भी कहना शेष नहीं रहा था। उस दुपहर तरन अपने कमरे में ही लेटी रही। इतने दिनों से अगर कोई एक इच्छा होती है, तो यही कि जब इच्छा करें, तभी, उसी क्षण नींद आ जाए। कभी-कभी तो लगता है कि इतने बरसों में जागने के, आंखें खोलकर चारों ओर देखने के जो क्षण आए हैं, वे भी जैसे ग़लत हों, अवास्तविक हो; लगता है, जैसे वे भी पूरी तरह से उसके पास न आए हों, नींद की ड्योढ़ी पर खड़े-खड़े वापस लौट गए हो।

शाम को तरन अपने कमरे से बाहर आई। दुपहर-भर लेटे रहने के कारण शरीर भारी लग रहा था। बाहर दिन-भर रेत उड़ी थी, आकाश पर पीली, बुझी-बुझी-सी धूप चमक रही थी। तरन ने देखा, बाबू अभी बरामदे में नहीं आए हैं। उनके कमरे का दरवाज़ा अब भी बंद पड़ा था।

बुआ अपनी कोठरी में खांस रही थीं और मन-ही-मन कुछ बुड़बुड़ाती जाती थीं। जब कभी हवा का झोंका आता था, उस सूने मकान के दरवाज़े खटखटा उठते थे... तरन ने जल्दी-जल्दी चप्पल पहनी। भीतर बुआ से कह आई कि वह कुछ देर टहलने के लिए बाहर जा रही है। न जाने बुआ ने उसकी बात सुनी या नहीं, सीढ़ियां उतरे हुए भी तरन को उनकी खांसी का खंखराता स्वर सुनाई दे जाता था।

दूर-दूर तक रेतीली ज़मीन फैली थीं। अस्त होने से पहले सूरज की पीली किरणें कच्चे सोने की-सी रेत पर बिखरी गई थीं। नयी सड़क के दोनों ओर रोड़ी-पत्थरों के ढेर छोटे-छोटे पिरामिड-जैसे खड़े थे। उन्हीं के संग-संग चलती हुई तरन पानी के टैंक तक पहुंच गई थी।

सबकुछ कितना दूर और फिर भी कितना अपना था, तरन ने सोचा। कितने वर्षो से वह इन्हें देखती आई है! लड़ाई के दिनों में जब बैरक बनाए जा रहे थे, और मिलिट्री ट्रकें गर्द उड़ाती हुई जब शहर से आती थीं, तब भी वह यहां थी, आज... बरसों बाद जब भीमकाय चट्टानों को तोड़कर नयी सड़क खोदी जा रही है, बैरकों को ढाया जा रहा है, यह भी वह सुबह-शाम कमरे की खिड़की से देखती आई है... तरन को यह सोचकर हल्की-सी खुशी हुई कि अब कुछ दिनों के लिए वह इनसे छुटकारा पा लेगी। उसे लगा, मानो उसके भीतर का तनाव बह गया है, और जब उसने दूर से कच्ची सड़क पर इंजीनियर बाबू को आते देखा, तो वह बिना मुस्कुराए न रह सकी।

इंजीनियर बाबू टैंक के पास आकर रुक गए। उनके सिर पर सोला हैट धूप में चमक रहा था, कमीज़ की बांहें ऊपर चढ़ी थीं, जिनके नीचे नंगी बांहों के बाल धूल-रेत में सने थे। गले के बटन खुले थे और गले के निचले हिस्से पर पसीने की दो-चार बूंदे दिखाई दे जाती थीं। उनके हाथ में एक लंबा-चौड़ा-सा बोर्ड था। ऐनक के पीछे आंखें वैसी ही चंचल, बेचैन, किंतु निहायत गंभीर दिखाई देती थीं।

–आप यहां कैसे खड़ी हैं?
– यों ही जरा टहलने की सोच रही थी। घर में तो उमस के मारे बैठा नहीं जाता।... आपको मैंने दूर से ही देख लिया था,

इंजीनियर बाबू, हालांकि सोला हैट में आपको पहचानना मुश्किल था।

इंजीनियर बाबू हंस पड़े। तरन को याद आया कि जब वह शुरू-शुरू में दरवाज़े के पीछे खड़ी होकर बरामदे में इंजीनियर बाबू की हंसी सुनती थी, तो उसे लगता था कि वह उम्र में उससे काफ़ी छोटे हैं।

– इधर शहर जाना हुआ, इंजीनियर बाबू?
– कैसे होगा? – इंजीनियर बाबू अपनी परेशानियों को कुछ इस ढंग से कहते हैं कि तरन को लगता है, माने उन्हें उनसे काफ़ी सुख अनुभव हो रहा हो।
–कैसे होगा? तीन दिन से कोई लारी नहीं गई है। उतनी दूर न मैं जा सकता हूं, न बेचारा मोंटू।
– लारी नहीं गई है? – तरन आश्चर्य से उन्हें देखने लगी – फिर खाने-पीने का सामान कौन लाता होगा? यहां तो कोई अच्छा होटल भी नहीं है।
– आप मोंटू को नहीं जानतीं, – इंजीनियर बाबू ठहाका मारकर हंस पड़े – शहर जाने में हम दोनों को ही आलस लगता है, इसलिए उसने यहां एक अच्छा-सा ढाबा खोज निकाला है, वहीं से अपने और मेरे लिए दोनों जून खाना ले जाता है।

तरन ने इंजीनियर बाबू को देखा। बड़ा विचित्र-सा लगा। कैसे है यह इंजीनियर बाबू? अपने शहर, अपने घर को छोड़कर इतनी दूर चले आए हैं। नौकर के अलावा कोई भी तो नहीं है इस उजाड़ प्रांत में, जिसे वह अपना कह सकें।
– चलिए, आप टहलने आई है न!

ऊंची-नीची, ऊबड़-खाबड़ कच्ची सड़क पर वे दोनों चुपचाप चलने लगे। जब कभी हवा का झोंका आता, आंखें मूंद जातीं, मुंह में रेत करकराने लगती, आंखों के आगे सफ़ेद परदा-सा खिंच जाता। मज़दूरों के खोखलों और झाड़-फूंस के छप्परों के ऊपर काली देवी के मंदिर का दीया जल गया था, हालांकि धूप अभी तक आस-पास खड़ी चट्टानों और मिट्टी के ढूहों पर रेंग रही थी।

चलते-चलते अचानक इंजीनियर बाबू रुक गए।

– आपने वे टीले देखे हैं, उन खोखलों के पीछे? – इंजीनियर बाबू की दृष्टि कहीं दूर जाकर अटक गई थी।
तरन जिज्ञासा-भरी दृष्टि से उनकी ओर देखने लगी।
– सड़क बनने के बाद उन सबको गिरा दिया जाएगा। रेलवे लाइन के सामने आप जो बंजर भूमि देखती है, उसे जोता जाएगा। नहर के इस तरफ़ कारखाने बनेंगे। आपके देखते-देखते सबकुछ बदल जाएगा।

इंजीनियर बाबू का स्वर एकदम बहुत उत्साहपूर्ण हो गया था। शाम की धूप में उनके चश्मे का शीशा बार-बार झिलमिला उठता था।

और भी न जाने इंजीनियर बाबू ने कैसी-कैसी अजीब बातें कही थीं। तरन विस्मय से देखती रही थी, सोचती रही थी, कि देखने में चाहे इंजीनियर बाबू कालेज के छात्र-से लगते हों, जानते बहुत-कुछ है। उसे हंसी केवल इस बात पर आई थी कि वह इतना उत्तेजित होकर क्यों बोल रहे हैं, वह कोई उनका विरोध थोड़े ही कर रही है!

रेलवे लाइन के फाटक के पास आकर वे रुक गए। इंजीनियर बाबू एकाएक चुप हो गए थे, मानो शाम के घिरते अंधियारे का सूनापन उन्हें भी छू गया हो। आकाश पर हंसिया चांद उग आया था, टीलों की ऊंची-नीची रेखाएं, जो दुपहर के समय तीखी और सख्त दिखाई देती थीं, संध्या के फीके आलोक में बेहद नरम और हल्की पड़ गई थीं, मानो अपना अलगाव छोड़कर वे चुप एक-दूसरे के पास सरक आई हों।
– इंजीनियर बाबू! आप कभी आसाम गए हैं?
– आसाम? नहीं तो! क्यों, वहां क्या है?

– कुछ नहीं, ऐसे ही याद आ गया। वहां हमारे भाई रहते हैं, आप ही की उम्र के हैं।
– ओह! इंजीनियर बाबू चुपचाप दूसरी ओर देखने लगे थे।
तरन को यहां से लौट जाना था, किंतु वह चुपचाप खड़ी थी। हवा का वेग अचानक कम हो गया था। पानी के टैंक के पीछे छोटे-छोटे घरों की नीली छतें शाम की ढलती धूप में चमक रही थीं।
– अब आप वापस लौट जाइए, अंधेरा होने लगा है। कहिए तो मोंटू को साथ भेज दूं?
– नहीं, मैं चली जाऊंगी, दूर ही कितना है!

इंजीनियर बाबू रेल की पटरी पार करके धीरे-धीरे मैदान की दूसरी ओर चलने लगे थे। तरन देर तक उनकी ओर देखती रही। डूबते सूरज के रंग का अंतिम आभास भी मिटने लगा था।

वापस लौटते हुए तरन एक बार रुकी थी। उसे लगा था, जैसे बरसों बाद उसके पास एक रहस्यमय, अनिर्वचनीय सूख आया है। चारों ओर घिरते अंधकार की स्निग्ध छाया के बीच उसे अपनी सब चिंताएं निरर्थक-सी जान पड़ी थीं। वह समझ न पाई कि उसे अब तक जो इतना डर लगता रहा था, वह किसलिए था, किससे था? ज़िंदगी में केवल एक बार जीना होता है और उसे उसके अलावा कोई और नहीं जियेगा। इंजीनियर बाबू को ही देखो, अपना घर-बार छोड़कर इतनी दूर आए हैं, भला किसलिए, उन्हें कैसा लगता होगा?

मैदान के अंधेरे ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर चलते हुए तरन को लगा था, जैसे बीते बरसों का बासीपन धुल गया है। उसकी नस-नस में आनंद की लहर दौड़ गई थी।

– नहीं, अब वह इस घर में कभी वापस नहीं आएगी... वह अपनी ज़िंदगी स्वयं जियेगी... उसे यहां अब रहने के लिए किसी का मोह पीछे नहीं खींचेगा...

सीढ़ियां चढ़ते हुए तरन ने ऊपर देखा, बरामदे में निपट अंधेरा था। सारे घर में सन्नाटा फैला था। केवल रसोई की बत्ती जल रही थी, जिसकी रोशनी की एक धूमिल, फीकी-सी रेखा बाबू के कमरे के दरवाज़े पर खिंच आई थी।

दरवाज़ा खुला था। तरन का दिल तेज़ी से धड़कने लगा। क्या बाबूजी अकेले अंधेरे कमरे में बैठे हैं?

वह दबे पांव दरवाज़े के पास गई, कांपते हाथों से दरवाज़े को हल्के-से पीछे ठेल दिया। आंखें अंधेरे में पहले कुछ भी न पकड़ पाईं, इधर-उधर भटकती रहीं, फिर एक कोने में वे सहसा ठहर गईं।

एकटक देखती रही तरन। निद्रा में चलते मरीज़ की तरह बाबू कमरे में घूम रहे थे। कभी-कभी अकस्मात कमरे के बीच खड़े हो जाते थे, मानो किसी भूली हुई चीज़ को याद कर रहे हों। फिर अचानक उनके पांव मुड़ जाते और वह कोने की ताख में रखी हुई बरसों पुरानी तस्वीर के सामने खड़े होते। उभरी हुई नीली नसों से भरे, कांपते, बूढ़े हाथों से वह फ्रेम पर जमी हुई धूल की परतों को साफ़ करते। धूल कहां साफ़ हो पाती है! केवल उनकी उंगलियों की छाप तस्वीर के पुराने, ज़र्द शीशे पर उभर आती है।

कोई शक्ल है, जो अतीत के धूमिल परदे पर दीये की लौ-सी झिलमिला जाती है। जार्ज पंचम के सिल्वर जुबली के समारोह के अवसर पर... बरसों पहले जो फोटो लिया गया था, बाबू मंत्रमुग्ध होकर अपलक उसे देख रहे थे। रियासत के अंग्रेज़ी रेजीडेंट और अन्य राज्याधिकारियों के बीच जहां दीवान साहब बैठे हैं, फोटो के उस कोने पर बाबू की आंखें स्थिर, स्तंभित-सी जमीं रह गई हैं, मानो वह अपने को ही पहचान पाने का प्रयास कर रहे हों।

क्षण-भर के लिए भ्रम होता है, क्या बाबू सचमुच वहां हैं, जहां खड़े दीखते हैं? क्या इस घड़ी उनके संग कोई नहीं है?

दरवाज़े के पास दीवार से सटकर तरन पत्थर–सी खड़ी रही। आंखों पर एकाएक विश्वास नहीं हुआ। पहली बार तरन ने बुढ़ापे को ऐसी निरावृत्त अवस्था में देखा था और वह बिना हिले–डुले सुन्न–सी खड़ी रही थी।...बाबू के रुखे–सफ़ेद बाल, पतले, लकड़ी–से हाथों पर नीली नसें, चेहरे की असंख्य उदास झुर्रियां, क्या यह सबकुछ उसकी आंखों के सामने, उसके देखते–देखते हो गया है?
– बाबू! – तरन के होठ फड़फड़ा उठे। वह अंधेरे कमरे में बाबू के सामने आकर खड़ी हो गई। जीवन में पहली बार उसने बाबू के इतने निकट जाने का साहस किया था।

बाबू ने धीरे–से सिर ऊपर उठाया, तरन को देखा,...और देखते रहे।
तुम यहां क्यों आई, तरन? – उनका गला भर्रा–सा आया, आंखों में कातरता छलछला उठी।
तरन कमरे से बाहर चली आई। देर तक अंधेरे बरामदे में खड़ी रही। एक भयावह–सा विचार उसके मस्तिष्क में धीरे–धीरे रेंगता रहा। बाबू उसे कभी नहीं छोड़ेंगे और वह उनसे कभी अलग नहीं हो सकेगी...
वह अकेली रहेगी, किंतु बाबू की छाया से बंधी हुई।...और बाबू का अकेलापन हमेशा, ज़िंदगी–भर उससे जुड़कर रहेगा।

वह क्षण, जो आज शाम आया था, रेलवे लाइन के सामने, जब वह इंजीनियर बाबू के संग खड़ी थी, वह शायद ग़लत था, अपने संबंध में एक सुखद भ्रम से अधिक कुछ नहीं...वह क्षण फिर उसके जीवन में कभी नहीं आएगा।

रात–भर बुआ के कमरे में खांसने का स्वर सुनाई देता रहा। आधी रात के समय तरन बाबू के कमरे तक गई थी और न जाने कितनी देर तक अंधेरे में दरवाज़े से सटकर खड़ी रही थी। उसे लगा था, मानों मां उस रात दुबारा मर गई हो और जो आंसू बचपन में नहीं बह सके थे वे इतने बरसों से इसी रात की प्रतीक्षा कर रहे थे...

अपने कमरे में वापस आकर तरन चुपचाप खुली खिड़की के आगे खड़ी रही थी। दूर–दूर तक मैदान में फीकी–सी चांदनी बिखरी थी। रेलवे लाइन के परे तीन–चार बत्तियां टिमटिमा रही थीं। इन्हीं के आसपास कहीं इंजीनियर बाबू रहते होंगे, तरन ने सोचा। उसे उस क्षण इंजीनियर बाबू की बात याद हो आई कि कुछ वर्षों में सबकुछ बदल जाएगा।...क्या इंजीनियर बाबू सच कह रहे थे? क्या सचमुच सब बदल जाएगा? और तरन के होठों पर एक रुखी–सी मुस्कराहट फैल गई थी...

खिड़की से हटकर तरन अपने पलंग पर लेट गई। थकान के मारे पलकें भारी हो गई थीं, फिर भी देर तक सोना नहीं हो सका। एक बार बीच में कच्ची नींद का हल्का–सा झोंका आया था, तो लगा था जैसे सामने भाई खड़े हों... वैसी ही शक्ल थी, वही उदास–सी आंखें...और तरन देर तक भाई के बारे में सोचती रही थी। कितने बरसों से उन्हें नहीं देखा है!...अब तक तो शायद वह बिल्कुल बदल गए होंगे...

एक धुंधली–सी तस्वीर आंखों के सामने उभर जाती है, कहीं बहुत दूर, चाय के बागों के झुरमुट में उनका बंगला छिपा होगा। कहते हैं, वहां स्टीमर पर जाना पड़ता है। न जाने, स्टीमर में बैठकर कैसा लगता होगा!

## 'मारे गये गुलफाम' फणीश्वर नाथ रेणु

हिरामन गाड़ीवान की पीठ में गुदगुदी लगती है।...

पिछले बीस साल से गाड़ी हाँकता है हीरामन। बैलगाड़ी। सीमा के उस पार, मोरंग राज नेपाल से धान और लकड़ी ढो

चुका है। कंट्रोल के ज़माने में चोरबाज़ारी का माल इस पार से उस पार पहुँचाया है। लेकिन कभी तो ऐसी गुदगुदी नहीं लगी पीठ में!

कंट्रोल का जमाना! हिरामन कभी भूल सकता है उस जमाने को! एक बार चार खेप सीमेंट और कपड़े की गाँठों से भरी गाड़ी, जोगबनी में विराटनगर पहुँचने के बाद हिरामन का कलेजा पोख्ता हो गया था। फारबिसगंज का हर चोर-व्यापारी उसको पक्का गाड़ीवान मानता। उसके बैलों की बड़ाई बड़ी गद्दी के बड़े सेठ जी खुद करते, अपनी भाषा में।

गाड़ी पकड़ी गई पाँचवी बार, सीमा के इस पार तराई में।

महाजन का मुनीम उसी की गाड़ी पर गाँठों के बीच चुक्की-मुक्की लगाकर छिपा हुआ था। दारोगा साहब की डेढ़ हाथ लंबी चोरबत्ती की रोशनी कितनी तेज होती है, हिरामन जानता हैं। एक घंटे के लिए आदमी अंधा हो जाता है, एक छटक भी पड़ जाए आँखों पर! रोशनी के साथ कड़कती हुई आवाज - "ऐ-य! गाड़ी रोको! साले, गोली मार देंगे?"

बीसों गाड़ियाँ एक साथ कचकचाकर रूक गई। हिरामन ने पहले ही कहा था,"यह बीस विषावेगा!" दारोगा साहब उसकी गाड़ी में दुबके हुए मुनीम जी पर रोशनी डालकर पिशाची हँसी हँसे - "हा-हा-हा! मुँणीम जी-ई-ई-ई! ही-ही-ही! ऐ-य, साला गाड़ीवान, मुँह क्या देखता है रे-ए-ए! कंबल हटाओ इस बोरे के मुँह पर से!" हाथ की छोटी लाठी से मुनीम जी के पेट में खोंचा मारे हुए कहा था,"इस बोरे को! स-स्साला!"

बहुत पुरानी अखज-अदाबत होगी दारोगा साहब और मुनीम जी में। नहीं तो उतना रूपया कबूलने पर भी पुलिस-दरोगा का मन न डोले भला! चार हजार तो गाड़ी पर बैठा ही दे रहा है। लाठी से दूसरी बार खोंचा मारा दारोगा ने। "पाँच हजार!" फिर खोंचा - "उतरो पहले... "

मुनीम को गाड़ी से नीचे उतारकर दारोगा ने उसकी आँखों पर रोशनी डाल दी। फिर दो सिपाहियों के साथ सड़क से बीस-पच्चीस रस्सी दूर झाड़ी के पास ले गए। गाड़ीवान और गाड़ियों पर पाँच-पाँच बंदूकवाले सिपाहियों का पहरा! हिरामन समझ गया, इस बार निस्तार नहीं। जेल? हिरामन को जेल का डर नहीं। लेकिन उसके बैल? न जाने कितने दिनों तक बिना चारा-पानी के सरकारी फाटक में पड़े रहेंगे - भूखे-प्यासे। फिर नीलाम हो जाएँगे। भैया और भौजी को वह मुँह नहीं दिखा सकेगा कभी। नीलाम की बोली उसके कानों के पास गूँज गई - एक-दो-तीन! दारोगा और मुनीम में बात पट नहीं रही थी शायद।

हिरामन की गाड़ी के पास तैनात सिपाही ने अपनी भाषा में दूसरे सिपाही से धीमी आवाज में पूछा,"का हो? मामला गोल होखी का?" फिर खैनी-तंबाकू देने के बहाने उस सिपाही के पास चला गया।

एक-दो-तीन! तीन-चार गाड़ियों की आड़। हिरामन ने फैसला कर लिया। उसने धीरे-से अपने बैलों के गले की रस्सियाँ खोल लीं। गाड़ी पर बैठे-बैठे दोनों को जुड़वाँ बाँध दिया। बैल समझ गए उन्हें क्या करना है। हिरामन उतरा, जुती हुई गाड़ी में बाँस की टिकटी लगाकर बैलों के कंधों को बेलाग किया। दोनों के कानों के पास गुदगुदी लगा दी और मन-ही-मन बोला,"चलो भैयन, जान बचेगी तो ऐसी-ऐसी सग्गड़ गाड़ी बहुत मिलेगी।'.... एक-दो-तीन! नौ-दो-ग्यारह!...

गाड़ियों की आड़ में सड़क के किनारे दूर तक घनी झाड़ी फैली हुई थी। दम साधकर तीनों प्राणियों ने झाड़ी को पार किया - बेखटक, बेआहट! फिर एक ले, दो ले - दुलकी चाल! दोनों बैल सीना तानकर फिर तराई के घने जंगलों में घुस गए। राह सूँघते, नदी-नाला पार करते हुए भागे पूँछ उठाकर। पीछे-पीछे हिरामन। रात-भर भागते रहे थे तीनों जन।....

घर पहुँचकर दो दिन तक बेसुध पड़ा रहा हिरामन। होश में आते ही उसने कान पकड़कर कसम खाई थी - अब कभी ऐसी

चीजों की लदनी नहीं लादेंगे। चोरबाजारी का माल? तोबा, तोबा! पता नहीं मुनीम जी का क्या हुआ! भगवान जाने उसकी सग्गड़ गाड़ी का क्या हुआ! असली इस्पात लोहे की धुरी थी। दोनों पहिए तो नहीं, एक पहिया एकदम नया था। गाड़ी में रंगीन डोरियों के फुँदने बड़े जतन से गूँथे गए थे।

दो कसमें खाई हैं उसने। एक चोरबाजारी का माल नहीं लादेंगे। दूसरी – बाँस। अपने हर भाड़ेदार से वह पहले ही पूछ लेता है – ''चोरी- चमारीवाली चीज तो नहीं?' और, बाँस? बाँस लादने के लिए पचास रूपए भी दे कोई, हिरामन की गाड़ी नहीं मिलेगी। दूसरे की गाड़ी देखे।

बाँस लदी हुई गाड़ी! गाड़ी से चार हाथ आगे बाँस का अगुआ निकला रहता है और पीछे की ओर चार हाथ पिछुआ! काबू के बाहर रहती है गाड़ी हमेशा। सो बेकाबूवाली लदनी और खरैहिया। शहरवाली बात! तिस पर बाँस का अगुआ पकड़कर चलनेवाला भाड़ेदार का महाभकुआ नौकर, लड़की–स्कूल की ओर देखने लगा। बस, मोड़ पर घोड़ागाड़ी से टक्कर हो गई। जब तक हिरामन बैलों की रस्सी खींचे, तब तक घोड़ागाड़ी की छतरी बाँस के अगुआ में फँस गई। घोड़ा–गाड़ीवाले ने तड़ातड़ चाबुक मारते हुए गाली दी थी!...

बाँस की लदनी ही नहीं, हिरामन ने खरैहिया शहर की लदनी भी छोड़ दी। और जब फारबिसगंज से मोरंग का भाड़ा ढोना शुरू किया तो गाड़ी ही पार! कई वर्षों तक हिरामन ने बैलों को आधीदारी पर जोता। आधा भाड़ा गाड़ीवाले का और आधा बैलवाले का। हिस्स! गाड़ीवानी करो मुफ्त! आधीदारी की कमाई से बैलों के ही पेट नहीं भरते। पिछले साल ही उसने अपनी गाड़ी बनवाई है।

देवी मैया भला करें उस सरकस–कंपनी के बाघ का। पिछले साल इसी मेले में बाघगाड़ी को ढोनेवाले दोनों घोड़े मर गए। चंपानगर से फारबिसगंज मेला आने के समय सरकस–कंपनी के मैनेजर ने गाड़ीवान–पट्टी में ऐलान करके कहा – ''सौ रूपया भाड़ा मिलेगा!'' एक–दो गाड़ीवान राजी हुए। लेकिन, उनके बैल बाघगाड़ी से दस हाथ दूर ही डर से डिकरने लगे –बाँ – आँ! रस्सी तुड़ाकर भागे। हिरामन ने अपने बैलों की पीठ सहलाते हुए कहा,''देखो भैयन, ऐसा मौका फिर हाथ न आएगा। यही है मौका अपनी गाड़ी बनवाने का। नहीं तो फिर आधेदारी। अरे पिंजड़े में बंद बाघ का क्या डर? मोरंग की तराई में दहाड़ते हुइ बाघों को देख चुके हो। फिर पीठ पर मैं तो हूँ।.... ''

गाड़ीवानों के दल में तालियाँ पटपटा उठीं थीं एक साथ। सभी की लाज रख ली हिरामन के बैलों ने। हुमककर आगे बढ़ गए और बाघगाड़ी में जुट गए – एक–एक करके। सिर्फ दाहिने बैल ने जुतने के बाद ढेर–सा पेशाब किया। हिरामन ने दो दिन तक नाक से कपड़े की पट्टी नहीं खोली थी। बड़ी गद्दी के बड़े सेठ जी की तरह नकबंधन लगाए बिना बघाइन गंध बरदास्त नहीं कर सकता कोई।

बाघगाड़ी की गाड़ीवानी की है हिरामन ने। कभी ऐसी गुदगुदी नहीं लगी पीठ में। आज रह–रहकर उसकी गाड़ी में चंपा का फूल महक उठता है। पीठ में गुदगुदी लगने पर वह अँगोछे से पीठ झाड़ लेता है।

हिरामन को लगता है, दो वर्ष से चंपानगर मेले की भगवती मैया उस पर प्रसन्न है। पिछले साल बाघगाड़ी जुट गई। नकद एक सौ रूपए भाड़े के अलावा बुताद, चाह–बिस्कुट और रास्ते–भर बंदर–भालू और जोकर का तमाशा देखा सो फोकट में!

और, इस बार यह जनानी सवारी। औरत है या चंपा का फूल! जब से गाड़ी मह–मह महक रही है।

कच्ची सड़क के एक छोटे–से खड्ड में गाड़ी का दाहिना पहिया बेमौके हिचकोला खा गया। हिरामन की गाड़ी से एक हल्की 'सिस' की आवाज आई। हिरामन ने दाहिने बैल को दुआली से पीटते हुए कहा,''साला! क्या समझता है, बोरे की लदनी है क्या?''
''अहा! मारो मत!''

अनदेखी औरत की आवाज ने हिरामन को अचरज में डाल दिया। बच्चों की बोली जैसी महीन, फेनूगिलासी बोली!

मथुरामोहन नौटंकी कंपनी में लैला बननेवाली हीराबाई का नाम किसने नहीं सुना होगा भला! लेकिन हिरामन की बात निराली है! उसने सात साल तक लगातार मेलों की लदनी लादी है, कभी नौटंकी-थियेटर या बायस्कोप सिनेमा नहीं देखा। लैला या हीराबाई का नाम भी उसने नहीं सुना कभी। देखने की क्या बात! सो मेला टूटने के पंद्रह दिन पहले आधी रात की बेला में काली ओढ़नी में लिपटी औरत को देखकर उसके मन में खटका अवश्य लगा था। बक्सा ढोनेवाले नौकर से गाड़ी-भाड़ा में मोल-मोलाई करने की कोशिश की तो ओढ़नीवाली ने सिर हिलाकर मना कर दिया। हिरामन ने गाड़ी जोतते हुए नौकर से पूछा, "क्यों भैया, कोई चोरी चमारी का माल-वाल तो नहीं?" हिरामन को फिर अचरज हुआ। बक्सा ढ़ोनेवाले आदमी ने हाथ के इशारे से गाड़ी हाँकने को कहा और अँधेरे में गायब हो गया। हिरामन को मेले में तंबाकू बेचनेवाली बूढ़ी की काली साड़ी की याद आई थी।

ऐसे में कोई क्या गाड़ी हाँके!

एक तो पीठ में गुदगुदी लग रही है। दूसरे रह-रहकर चंपा का फूल खिल जाता है उसकी गाड़ी में। बैलों को डाँटो तो 'इस-बिस' करने लगती है उसकी सवारी। उसकी सवारी! औरत अकेली, तंबाकू बेचनेवाली बूढ़ी नहीं! आवाज सुनने के बाद वह बार-बार मुड़कर टप्पर में एक नज़र डाल देता है; अँगोछे से पीठ झाड़ता है।... भगवान जाने क्या लिखा है इस बार उसकी किस्मत में! गाड़ी जब पूरब की ओर मुड़ी, एक टुकड़ा चाँदनी उसकी गाड़ी में समा गई। सवारी की नाक पर एक जुगनू जगमगा उठा। हिरामन को सबकुछ रहस्यमय - अजगुत-अजगुत- लग रहा है। सामने चंपानगर से सिंधिया गाँव तक फैला हुआ मैदान!... कहीं डाकिन-पिशाचिन तो नहीं?

हिरामन की सवारी ने करवट ली। चाँदनी पूरे मुखड़े पर पड़ी तो हिरामन चीखते-चीखते रूक गया - अरे बाप! ई तो परी है!

परी की आँखें खुल गई। हिरामन ने सामने सड़क की ओर मुँह कर लिया और बैलों को टिटकारी दी। वह जीभ को तालू से सटाकर टि-टि-टि-टि आवाज निकालता है। हिरामन की जीभ न जाने कब से सूखकर लकड़ी-जैसी हो गई थी!

"भैया, तुम्हारा नाम क्या है?"

हू-ब-हू फेनूगिलास!... हिरामन के रोम-रोम बज उठे। मुँह से बोली नहीं निकली। उसके दोनों बैल भी कान खड़े करके इस बोली को परखते हैं।
"मेरा नाम!.... नाम मेरा है हिरामन!"
उसकी सवारी मुस्कराती है।.... मुस्कराहट में खुशबू है।
"तब तो मीता कहूँगी, भैया नहीं। - मेरा नाम भी हीरा है।"
"इस्स!" हिरामन को परतीत नहीं, "मर्द और औरत के नाम में फर्क होता है।"
"हाँ जी, मेरा नाम भी हीराबाई है।"
कहाँ हीरामन और कहाँ हीराबाई, बहुत फर्क है!

हिरामन ने अपने बैलों को झिड़की दी - "कान चुनियाकर गप सुनने से ही तीस कोस मंज़िल कटेगी क्या? इस बाएँ नाटे के पेट में शैतानी भरी है।" हिरामन ने बाएँ बैल को दुआली की हल्की झड़प दी।
"मारो मत; धीरे धीरे चलने दो। जल्दी क्या है!"
हिरामन के सामने सवाल उपस्थित हुआ, वह क्या कहकर 'गप' करे हीराबाई से? तोहे' कहे या' अहाँ? उसकी भाषा में बड़ों को 'अहाँ' अर्थात 'आप' कहकर संबोधित किया जाता है, कचराही बोली में दो-चार सवाल-जवाब चल सकता है,

दिल-खोल गप तो गाँव की बोली में ही की जा सकती है किसी से।

आसिन-कातिक के भोर में छा जानेवाले कुहासे से हिरामन को पुरानी चिढ़ है। बहुत बार वह सड़क भूलकर भटक चुका है। किंतु आज के भोर के इस घने कुहासे में भी वह मगन है। नदी के किनारे धन-खेतों से फूले हुए धान के पौधों की पवनिया गंध आती है। पर्व-पावन के दिन गाँव में ऐसी ही सुगंध फैली रहती है। उसकी गाड़ी में फिर चंपा का फूल खिला। उस फूल में एक परी बैठी है।... जै भगवती।

हिरामन ने आँख की कनखियों से देखा, उसकी सवारी... मीता... हीराबाई की आँखें गुजुर-गुजुर उसको हेर रही हैं। हिरामन के मन में कोई अजानी रागिनी बज उठी। सारी देह सिरसिरा रही है। बोला, "बैल को मारते हैं तो आपको बहुत बुरा लगता है?"

हीराबाई ने परख लिया, हिरामन सचमुच हीरा है।

चालीस साल का हट्टा-कट्टा, काला-कलूटा, देहाती नौजवान अपनी गाड़ी और अपने बैलों के सिवाय दुनिया की किसी और बात में विशेष दिलचस्पी नहीं लेता। घर में बड़ा भाई है, खेती करता है। बाल-बच्चेवाला आदमी है। हिरामन भाई से बढ़कर भाभी की इज्जत करता है। भाभी से डरता भी है। हिरामन की भी शादी हुई थी, बचपन में ही गौने के पहले ही दुलहिन मर गई। हिरामन को अपनी दुलहिन का चेहरा याद नहीं।... दूसरी शादी? दूसरी शादी न करने के अनेक कारण हैं। भाभी की जिद, कुमारी लड़की से ही हिरामन की शादी करवाएगी। कुमारी का मतलब हुआ पाँच-सात साल की लड़की। कौन मानता है सरधा-कानून? कोई लड़कीवाला दोब्याहू को अपनी लड़की गरज में पड़ने पर ही दे सकता है। भाभी उसकी तीन-सत्त करके बैठी है, सो बैठी है। भाभी के आगे भैया की भी नहीं चलती!... अब हिरामन ने तय कर लिया है, शादी नहीं करेगा। कौन बलाय मोल लेने जाए!... ब्याह करके फिर गाड़ीवानी क्या करेगा कोई! और सबकुछ छूट जाए, गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता हिरामन।

हीराबाई ने हिरामन के जैसा निश्छल आदमी बहुत कम देखा है। पूछा, "आपका घर कौन जिल्ला में पड़ता है?" कानपुर नाम सुनते ही जो उसकी हँसी छूटी, तो बैल भड़क उठे। हिरामन हँसते समय सिर नीचा कर लेता है। हँसी बंद होनेपर उसने कहा, "वाह रे कानपुर! तब तो नाकपुर भी होगा?" और जब हीराबाई ने कहा कि नाकपुर भी है, तो वह हँसते-हँसते दुहरा हो गया।

"वाह रे दुनिया! क्या-क्या नाम होता है! कानपुर, नाकपुर!" हिरामन ने हीराबाई के कान के फूल को गौर से देखो। नक की नकछवि के नग देखकर सिहर उठा - लहू की बूँद!

हिरामन ने हीराबई का नाम नहीं सुना कभी। नौटंकी कंपनी की औरत को वह बाईजी नहीं समझता है।....कंपनी में काम करनेवाली औरतों को वह देख चुका है। सरकस कंपनी की मालकिन, अपनी दोनों जवान बेटियों के साथ बाघगाड़ी के पास आती थी, बाघ को चारा-पानी देती थी, प्यार भी करती थी खूब। हिरामन के बैलों को भी डबलरोटी-बिस्कुट खिलाया था बड़ी बेटी ने।

हिरामन होशियार है। कुहासा छँटते ही अपनी चादर से टप्पर में परदा कर दिया - "बस दो घंटा! उसके बाद रास्ता चलना मुश्किल है। कातिक की सुबह की धूल आप बर्दास्त न कर सकिएगा। कजरी नदी के किनारे तेगछिया के पास गाड़ी लगा देंगे। दुपहरिया काटकर... ।"

सामने से आती हुई गाड़ी को दूर से ही देखकर वह सतर्क हो गया। लीक और बैलों पर ध्यान लगाकर बैठ गया। राह काटते हुए गाड़ीवान ने पूछा, "मेला टूट रहा है क्या भाई?"

हिरामन ने जवाब दिया, वह मेले की बात नहीं जानता। उसकी गाड़ी पर 'बिदागी' (नैहर या ससुराल जाती हुई लड़की) है। न जाने किस गाँव का नाम बता दिया हिरामन ने।

"छतापुर-पचीरा कहाँ है?"

"कहीं हो, यह लेकर आप क्या करिएगा?" हिरामन अपनी चतुराई पर हँसा। परदा डाल देने पर भी पीठ में गुदगुदी लगती है।

हिरामन परदे के छेद से देखता है। हीराबाई एक दियासलाई की डिब्बी के बराबर आईने में अपने दाँत देख रही है।... मदनपुर मेले में एक बार बैलों को नन्हीं-चित्ती कौड़ियों की माला खरीद दी थी। हिरामन ने, छोटी-छोटी, नन्हीं-नन्हीं कौड़ियों की पाँत।

तेगछिया के तीनों पेड़ दूर से ही दिखलाई पड़ते हैं। हिरामन ने परदे को जरा सरकाते हुए कहा, "देखिए, यही है तेगछिया। दो पेड़ जटामासी बड़ है और एक उस फूल का क्या नाम है, आपके कुरते पर जैसा फूल छपा हुआ है, वैसा ही; खूब महकता है; दो कोस दूर तक गंध जाती है; उस फूल को खमीरा तंबाकू में डालकर पीते भी हैं लोग।"

"और उस अमराई की आड़ से कई मकान दिखाई पड़ते हैं, वहाँ कोई गाँव है या मंदिर?"

हिरामन मे बीड़ी सुलगाने के पहले पूछा, "बीड़ी पीएँ? आपको गंध तो नहीं लगेगी?... वही है नामलगर ड्योढ़ी। जिस राजा के मेले से हम लोग आ रहे हैं, उसी का दियाद-गोतिया है।.... जा रे जमाना!"

हिरामन ने 'जा रे जमाना' कहकर बात को चाशनी में डाल दिया। हीराबाई टप्पर के परदे को तिरछें खोंस दिया। हीराबाई की दंतपंक्ति।
"कौन जमाना?" ठुड्डी पर हाथ रखकर साग्रह बोली।
"नामलगर ड्योढ़ी का जमाना! क्या था और क्या-से-क्या हो गया!"
हिरामन गप रसाने का भेद जानता है। हीराबाई बोली, "तुमने देखा था वह जमाना?"

"देखा नहीं, सुना है। राज कैसे गया, बड़ी हैफवाली कहानी है। सुनते हैं, घर में देवता ने जन्म ले लिया। कहिए भला, देवता आखिर देवता है। है या नहीं? इंदरासन छोड़कर मिरतूभुवन में जन्म ले ले तो उसका तेज कैसे सम्हाल सकता है कोई! सूरजमुखी फूल की तरह माथे के पास तेज खिला रहता।लेकिन नजर का फेर किसी ने नहीं पहचाना। एक बार उपलैन में लाट साहब मय लाटनी के, हवागाड़ी से आए थे। लाट ने भी नहीं, पहचाना आखिर लटनी ने। सुरजमुखी तेज देखते ही बोल उठी – ए मैन राजा साहब, सुनो, यह आदमी का बच्चा नहीं हैं, देवता हैं।"

हिरामन ने लाटनी की बोली की नकल उतारते समय खूब डैम-फैट-लैट किया। हीराबाई दिल खोलकर हँसी। हँसते समय उसकी सारी देह दुलकती है।
हीराबाई ने अपनी ओढ़नी ठीक कर ली। तब हिरामन को लगा कि.... लगा कि...
"तब? उसके बाद क्या हुआ मीता?"

"इस्स! कथ्था सुनने का बड़ा सौक है आपको?....लेकिन, काला आदमी, राजा क्या महाराजा भी हो जाए, रहेगा काला आदमी ही। साहेब के जैसे अक्किल कहाँ से पाएगा! हँसकर बात उड़ा दी सभी ने। तब रानी को बार-बार सपना देने लगा देवता! सेवा नहीं कर सकते तो जाने दो, नहीं, रहेंगे तुम्हारे यहाँ। इसके बाद देवता का खेल शुरू हुआ। सबसे पहले दोनों दंतार हाथी मरे, फिर घोड़ा, फिर पटपटांग... ।"

"पटपटांग क्या है?"

हिरामन का मन पल-पल में बदल रहा है। मन में सतरंगा छाता धीरे-धीरे खिल रहा है, उसको लगता है।.... उसकी गाड़ी पर देवकुल की औरत सवार है। देवता आखिर देवता है!

"पटपटांग! धन-दौलत, माल-मवेसी सब साफ! देवता इंदरासन चला गया।"

हीराबाई ने ओझल होते हुए मंदिर के कँगूरे की ओर देखकर लंबी साँस ली। "लेकिन देवता ने जाते-जाते कहा, इस राज में कभी एक छोड़कर दो बेटा नहीं होगा। धन हम अपने साथ ले जा रहे हैं, गुन छोड़ जाते हैं। देवता के साथ सभी देव-देवी चले गए, सिर्फ सरोसती मैया रह गई। उसी का मंदिर है।"

देसी घोड़े पर पाट के बोझ लादे हुए बनियों को आते देखकर हिरामन ने टप्पर के परदे को गिरा दिया। बैलों को ललकार कर बिदेसिया नाच का बंदनागीत गाने लगा-
"जी मैया सरोसती, अरजी करत बानी;
हमरा पर होखू सहाई हे मैया, हमरा पर होखू सहाई!"

घोड़लद्दे बनियों से हिरामन ने हुलसकर पूछा, "क्या भाव पटुआ खरीदते है महाजन?"

लँगड़े घोड़ेवाले बनिये ने बटगमनी जवाब दिया - "नीचे सताइस-अठाइस, ऊपर तीस। जैसा माल, वैसा भाव।"

जवान बनिये ने पूछा, "मेले का क्या हालचाल है, भाई? कौन नौटंकी कंपनी का खेल हो रहा है, रौता कंपनी या मथुरामोहन?"

"मेले का हाल मेलावाला जाने?" हिरामन ने फिर छतापुर-पचीरा का नाम लिया।

सूरज दो बाँस ऊपर आ गया था। हिरामन अपने बैलों से बात करने लगा - "एक कोस जमीन! जरा दम बाँधकर चलो। प्यास की बेला हो गई न! याद है, उस बार तेगछिया के पास सरकस कंपनी के जोकर और बंदर नचानेवाला साहब में झगड़ा हो गया था। जोकरवा ठीक बंदर की तरह दाँत किटकिटाकर किक्रियाने लगा था, न जाने किस-किस देस-मुलुक के आदमी आते हैं!"

हिरामन ने फिर परदे के छेद से देखा, हीराबई एक कागज के टुकड़े पर आँख गड़ाकर बैठी है। हिरामन का मन आज हल्के सुर में बँधा है। उसको तरह-तरह के गीतों की याद आती है। बीस-पच्चीस साल पहले, बिदेसिया, बलवाही, छोकरा-नाचनेवाले एक-से-एक गजल खेमटा गाते थे। अब तो, भोंपा में भोंपू-भोंपू करके कौन गीत गाते हैं लोग! जा रे जमाना! छोकरा-नाच के गीत की याद आई हिरामन को-

"सजनवा बैरी हो ग'य हमारो! सजनवा!
अरे, चिठिया हो ते सब कोई बाँचे; चिठिया हो तो
हाय! करमवा, होय करमवा

गाड़ी की बल्ली पर ऊँगलियों से ताल देकर गीत को काट दिया हिरामन ने। छोकरा-नाच के मनुवाँ नटुवा का मुँह हीराबाई-जैसा ही था।.... कहाँ चला गया वह जमाना? हर महीने गाँव में नाचनेवाले आते थे। हिरामन ने छोकरा-नाच के चलते अपनी भाभी की न जाने कितनी बोली-ठोली सुनी थी। भाई ने घर से निकल जाने को कहा था।

आज हिरामन पर माँ सरोसती सहाय हैं, लगता है। हीराबाई बोली, "वाह, कितना बढ़िया गाते हो तुम!"

हिरामन का मुँह लाल हो गया। वह सिर नीचा करके हँसने लगा।

आज तेगछिया पर रहनेवाले महावीर स्वामी भी असहाय हैं हिरामन पर। तेगछिया के नीचे एक भी गाड़ी नहीं। हमेशा गाड़ी और गाड़ीवानों की भीड़ लगी रहती हैं यहाँ। सिर्फ एक साइकिलवाला बैठकर सुस्ता रहा है। महावीर स्वामी को सुमरकर हिरामन ने गाड़ी रोकी। हीराबाई परदा हटाने लगी। हिरामन ने पहली बार आँखों से बात की हीराबाई से – साइकिलवाला इधर ही टकटकी लगाकर देख रहा है।

बैलों को खोलने के पहले बाँस की टिकटी लगाकर गाड़ी को टिका दिया। फिर साइकिलवाले की ओर बार–बार घूरते हुए पूछा, "कहाँ जाना है? मेला? कहाँ से आना हो रहा है? बिसनपुर से? बस, इतनी ही दूर में थसथसाकर थक गए? – जा रे जवानी!"

साइकिलवाला दुबला–पतला नौजवान मिनमिनाकर कुछ बोला और बीड़ी सुलगाकर उठ खड़ा हुआ।

हिरामन दुनिया–भर की निगाह से बचाकर रखना चाहता है हीराबाई को। उसने चारों ओर नजर दौड़ाकर देख लिया – कहीं कोई गाड़ी या घोड़ा नहीं।

कजरी नदी की दुबली–पतली धारा तेगछिया के पास आकर पूरब की ओर मुड़ गई है। हीराबाई पानी में बैठी हुई भैसों और उनकी पीठ पर बैठे हुए बगुलों को देखती रही।

हिरामन बोला, "जाइए, घाट पर मुँह–हाथ धो आइए!"

हीराबाई गाड़ी से नीचे उतरी। हिरामन का कलेजा धड़क उठा।.... नहीं, नहीं! पाँव सीधे हैं, टेढ़े नहीं। लेकिन, तलुवा इतना लाल क्यों हैं? हीराबई घाट की ओर चली गई, गाँव की बहू–बेटी की तरह सिर नीचा करके धीरे–धीरे। कौन कहेगा कि कंपनी की औरत है!... औरत नहीं, लड़की। शायद कुमारी ही है।

हिरामन टिकटी पर टिकी गाड़ी पर बैठ गया। उसने टप्पर में झाँककर देखा। एक बार इधर–उधर देखकर हीराबाई के तकिये पर हाथ रख दिया। फिर तकिये पर केहुनी डालकर झुक गया, झुकता गया। खुशबू उसकी देह में समा गई। तकिये के गिलाफ पर कढ़े फूलों को उँगलियों से छूकर उसने सूँघा, हाय रे हाय! इतनी सुगंध! हिरामन को लगा, एक साथ पाँच चिलम गाँजा फूँककर वह उठा है। हीराबाई के छोटे आईने में उसने अपना मुँह देखा। आँखें उसकी इतनी लाल क्यों हैं?

हीराबाई लौटकर आई तो उसने हँसकर कहा, "अब आप गाड़ी का पहरा दीजिए, मैं आता हूँ तुरत।"

हिरामन ने अपना सफरी झोली से सहेजी हुई गंजी निकाली। गमछा झाड़कर कंधे पर लिया और हाथ में बालटी लटकाकर चला। उसके बैलों ने बारी–बारी से 'हुँक–हुँक' करके कुछ कहा। हिरामन ने जाते–जाते उलटकर कहा, "हाँहाँ, प्यास सभी को लगी है। लौटकर आता हूँ तो घास दूँगा, बदमासी मत करो!"

बैलों ने कान हिलाए।

नहा–धोकर कब लौटा हिरामन, हीराबाई को नहीं मालूम। कजरी की धारा को देखते–देखते उसकी आँखों में रात की

उचटी हुई नींद लौट आई थी। हिरामन पास के गाँव से जलपान के लिए दही-चूड़ा-चीनी ले आया है।

"उठिए, नींद तोड़िए! दो मुट्ठी जलपान कर लीजिए!"

हीराबाई आँख खोलकर अचरज में पड़ गई। एक हाथ में मिट्टी के नए बरतन में दही, केले के पत्ते। दूसरे हाथ में बालटी-भर पानी। आँखों में आत्मीयतापूर्ण अनुरोध!

"इतनी चीजें कहाँ से ले आए!"
"इस गाँव का दही नामी है।.... चाह तो फारबिसगंज जाकर ही पाइएगा।"हिरामन ने कहा, "तुम भी पत्तल बिछाओ।... क्यों? तुम नहीं खाओगे तो समेटकर रख लो अपनी झोली में। मैं भी नहीं खाऊँगी।"
"इस्स!" हिरामन लजाकर बोला, "अच्छी बात! आप खा लीजिए पहले!"
"पहले-पीछे क्या? तुम भी बैठो।"

हिरामन का जी जुड़ा गया। हीराबाई ने अपने हाथ से उसका पत्तल बिछा दिया, पानी छींट दिया, चूड़ा निकालकर दिया। इस्स! धन्न है, धन्न है! हिरामन ने देखा, भगवती मैया भोग लगा रही है। लाल होठों पर गोरस का परस!... पहाड़ी तोते को दूध-भात खाते देखा है?

दिन ढल गया।
टप्पर में सोई हीराबाई और जमीन पर दरी बिछाकर सोए हिरामन की नींद एक ही साथ खुली।... मेले की ओर जानेवाली गाड़ियाँ तेगछिया के पास रूकी हैं। बच्चे कचर-पचर कर रहे हैं।

हिरामन हड़बड़ाकर उठा। टप्पर के अंदर झाँककर इशारे से कहा - दिन ढल गया! गाड़ी में बैलों को जोतते समय उसने गाड़ीवानों के सवालों का कोई जवाब नहीं दिया। गाड़ी हाँकते हुए बोला, "सिरपुर बाजार के इसपिताल की डागडरनी हैं। रोगी देखने जा रही हैं। पास ही कुड़मागाम।"

हीराबाई छत्तापुर-पचीरा का नाम भूल गई। गाड़ी जब कुछ दूर आगे बढ़ आई तो उसने हँसकर पूछा, "पत्तापुर-छपीरा?"

हँसते-हँसते पेट में बल पड़ गए हिरामन के — "पत्तापुर-छपीरा! हा-हा वे लोग छत्तापुर-पचीरा के ही गाड़ीवान थे, उनसे कैसे कहता! ही-ही-ही!"

हीराबाई मुस्कराती हुई गाँव की ओर देखने लगी।

सड़क तेगछिया गाँव के बीच से निकलती है। गाँव के बच्चों ने परदेवाली गाड़ी देखी और तालियाँ बजा-बजाकर रटी हुई पंक्तियाँ दुहराने लगे -
"लाली-लाली डोलिया में
लाली रे दुलहनिया
पान खाए... !"

हिरामन हँसा।.... दुलहिनिया... लाली-लाली डोलिया! दुलहिनिया पान खाती है, दुलहा की पगड़ी में मुँह पोंछती है। ओ दुलहिनिया, तेगछिया गाँव के बच्चों को याद रखना। लौटती बेर गुड़ का लड्डू लेती आइयो। लाख बरिस तेरा हुलहा जीए!... कितने दिनों का हौसला पूरा हुआ है हिरामन का! ऐसे कितने सपने देखे हैं उसने! वह अपनी दुलहिन को लेकर लौट रहा है। हर गाँव के बच्चे तालियाँ बजाकर गा रहे हैं। हर आँगन से झाँककर देख रही हैं औरतें। मर्द लोग पूछते

हैं, "कहाँ की गाड़ी है, कहाँ जाएगी?' उसकी दुलहिन डोली का परदा थोड़ा सरकाकर देखती है। और भी कितने सपने..
.

गाँव से बाहर निकलकर उसने कनखियों से टप्पर के अंदर देखा, हीराबाई कुछ सोच रही है। हिरामन भी किसी सोच में पड़ गया। थोड़ी देर के बाद वह गुनगुनाने लगा–
"सजन रे झूठ मति बोलो, खुदा के पास जाना है।
नहीं हाथी, नहीं घोड़ा, नहीं गाड़ी –
वहाँ पैदल ही जाना है। सजन रे... ।"

हीराबाई ने पूछा, "क्यों मीता? तुम्हारी अपनी बोली में कोई गीत नहीं क्या?"

हिरामन अब बेखटक हीराबाई की आँखों में आँखें डालकर बात करता है। कंपनी की औरत भी ऐसी होती है? सरकस कंपनी की मालकिन मेम थी। लेकिन हीराबाई! गाँव की बोली में गीत सुनना चाहती है। वह खुलकर मुस्कराया – "गाँव की बोली आप समझिएगा?"

"हूँ–ऊँ–ऊँ !" हीराबाई ने गर्दन हिलाई। कान के झुमके हिल गए।

हिरामन कुछ देर तक बैलों को हाँकता रहा चुपचाप। फिर बोला, "गीत जरूर ही सुनिएगा? नहीं मानिएगा? इस्स! इतना सौक गाँव का गीत सुनने का है आपको! तब लीक छोड़नी होगी। चालू रास्ते में कैसे गीत गा सकता है कोई!"

हिरामन ने बाएँ बैल की रस्सी खींचकर दाहिने को लीक से बाहर किया और बोला, "हरिपुर होकर नहीं जाएँगे तब।"

चालू लीक को काटते देखकर हिरामन की गाड़ी के पीछेवाले गाड़ीवान ने चिल्लाकर पूछा, "काहे हो गाड़ीवान, लीक छोड़कर बेलीक कहाँ उधर?"

हिरामन ने हवा में दुआली घुमाते हुए जवाब दिया – "कहाँ है बेलीकी? वह सड़क ननपुर तो नहीं जाएगी।" फिर अपने–आप बड़बड़ाया, "इस मुलुक के लोगों की यही आदत बुरी है। राह चलते एक सौ जिरह करेंगे। अरे भाई, तुमको जाना है, जाओ।... देहाती भुच्च सब!"

ननपुर की सड़क पर गाड़ी लाकर हिरामन ने बैलों की रस्सी ढीली कर दी। बैलों ने दुलकी चाल छोड़कर कदमचाल पकड़ी।

हीराबाई ने देखा, सचमुच ननपुर की सड़क बड़ी सूनी है। हिरामन उसकी आँखों की बोली समझता है – "घबराने की बात नहीं। यह सड़क भी फारबिसगंज जाएगी, राह–घाट के लोग बहुत अच्छे हैं।... एक घड़ी रात तक हम लोग पहुँच जाएँगे"

हीराबाई को फारबिसगंज पहुँचने की जल्दी नहीं। हिरामन पर उसको इतना भरोसा हो गया कि डर–भय की कोई बात नहीं उठती है मन में। हिरामन ने पहले जी–भर मुस्करा लिया। कौन गीत गाए वह! हीराबाई को गीत और कथा दोनों का शौक है.... इस्स! महुआ घटवारिन? वह बोला, "अच्छा, जब आपको इतना सौक है तो सुनिए महुआ घटवारिन का का गीत। इसमें गीत भी है, कथ्था भी है।"

कितने दिनों के बाद भगवती ने यह हौसला भी पूरा कर दिया। जै भगवती! आज हिरामन अपने मन को खलास कर लेगा। वह हीराबाई की थमी हुई मुस्कुराहट को देखता रहा।

"सुनिए! आज भी परमार नदी में महुआ घटवारिन के कई पुराने घाट हैं। इसी मुलुक की थी महुआ! थी तो घटवारिन, लेकिन सौ सतवंती में एक थी। उसका बाप दारू-ताड़ी पीकर दिन-रात बेहोश पड़ा रहता। उसकी सौतेली माँ साच्छात राकसनी! बहुत बड़ी नजर-चालक। रात में गाँजा-दारू-अफीम चुराकर बेचनेवाले से लेकर तरह-तरह के लोगों से उसकी जान-पहचान थी। सबसे घुट्टा-भर हेल-मेल। महुआ कुमारी थी। लेकिन काम कराते-कराते उसकी हड्डी निकाल दी थी राकसनी ने। जवान हो गई, कहीं शादी-ब्याह की बात भी नहीं चलाई। एक रात की बात सुनिए!"

हिरामन ने धीरे-धीरे गुनगुनाकर गला साफ किया –
'हे अ-अ-अ- सावना-भादवा के – र- उमड़ल नदिया – में -मैं-यो-ओ-ओ,
मैयो गे रैनि भयावनि-हो-ए-ए-ए;
तड़का-तड़के धड़के करेज-आ-आ मोरा
कि हमहूँ जे बार-नान्ही रे-ए-ए... ।"

ओ माँ! सावन-भादों की उमड़ी हुई नदी, भयावनी रात, बिजली कड़कती है, मैं बारी-क्वारी नन्ही बच्ची, मेरा कलेजा धड़कता है। अकेली कैसे जाऊँ घाट पर? सो भी परदेशी राही-बटोही के पैर में तेल लगाने के लिए! सत-माँ ने अपनी बज्जर-किवाड़ी बंद कर ली। आसमान में मेघ हड़बड़ा उठे और हरहराकर बरसा होने लगी। महुआ रोने लगी, अपनी माँ को याद करके। आज उसकी माँ रहती तो ऐसे दुरदिन में कलेजे से सटाकर रखती अपनी महुआ बेटी को ' हे मइया इसी दिन के लिए, यही दिखाने के लिए तुमने कोख में रखा था? महुआ अपनी माँ पर गुस्सायी- क्यों वह अकेली मर गई, जी-भर कर कोसती हुई बोली।

हिरामन ने लक्ष्य किया, हीराबाई तकिये पर केहुनी गड़ाकर, गीत में मगन एकटक उसकी ओर देख रही है।.... खोई हुई सूरत कैसी भोली लगती है!

हिरामन ने गले में कँपकँपी पैदा की –
"हूँ-ऊँ-ऊँ-रे डाइनियाँ मैयो मोरी-ई-ई,
नोनवा चटाई काहे नाही मारलि सौरी-घर-अ-अ।
एहि दिनवाँ खातिर छिनरो धिया
तेंहु पोसलि कि तेनू-दूध उगटन... ।

हिरामन ने दम लेते हुए पूछा, "भाखा भी समझती हैं कुछ या खाली गीत ही सुनती हैं?"

हीरा बोली, "समझती हूँ। उगटन माने उबटन – जो देह में लगाते हैं।"

हिरामन ने विस्मित होकर कहा, "इस्स!"... सो रोने-धोने से क्या होए! सौदागर ने पूरा दाम चुका दिया था महुआ का। बाल पकड़कर घसीटता हुआ नाव पर चढ़ा और माँझी को हुकुम दिया, नाव खोलो, पाल बाँधो! पालवाली नाव परवाली चिड़िया की तरह उड़ चली । रात-भर महुआ रोती-छटपटाती रही। सौदागर के नौकरों ने बहुत डराया-धमकाया – 'चुप रहो, नहीं ते उठाकर पानी में फेंक देंगे।' बस, महुआ को बात सूझ गई। मोर का तारा मेघ की आड़ से जरा बाहर आया, फिर छिप गया। इधर महुआ भी छपाक से कूद पड़ी पानी में।.... सौदागर का एक नौकर महुआ को देखते ही मोहित हो गया था। महुआ की पीठ पर वह भी
कूदा। उलटी धारा में तैरना खेल नहीं, सो भी भरी भादों की नदी में। महुआ असल घटवारिन की बेटी थी। मछली भी भला थकती है पानी में! सफरी मछली-जैसी फरफराती, पानी चीरती भागी चली जा रही है। और उसके पीछे सौदागर का नौकर पुकार-पुकारकर कहता है – "महुआ जरा थमो, तुमको पकड़ने नहीं आ रहा, तुम्हारा साथी हूँ। जिंदगी-भर साथ रहेंगे हम लोग।" लेकिन.... ।

हिरामन का बहुत प्रिय गीत है यह। महुआ घटवारिन गाते समय उसके सामने सावन-भादों की नदी उमड़ने लगती है; अमावस्या की रात और घने बादलों में रह-रहकर बिजली चमक उठती है। उसी चमक में लहरों से लड़ती हुई बारी-कुमारी महुआ की झलक उसे मिल जाती है। सफरी मछली की चाल और तेज हो जाती है। उसको लगता है, वह खुद सौदागर का नौकर है। महुआ कोई बात नहीं सुनती। परतीत करती नहीं। उलटखर देखती भी नहीं। और वह थक गया है, तैरते-तैरते।..

इस बार लगता है महुआ ने अपने को पकड़ दिया। खुद ही पकड़ में आ गई है। उसने महुआ को छू लिया है, पा लिया है, उसकी थकन दूर हो गई है। पंद्रह-बीस साल तक उमड़ी हुई नदी की उलटी धारा में तैरते हुए उसके मन को किनारा मिल गया है। आनंद के आँसू कोई भी रोक नहीं मानते।

उसने हीराबाई से अपनी गीली आँखें चुराने की कोशिश की। किंतु हीरा तो उसके मन में बैठी न जाने कब से सबकुछ देख रही थी। हिरामन ने अपनी काँपती हुई बोली को काबू में लाकर बैलों को झिड़की दी - "इस गीत में न जाने क्या है कि सुनते ही दोनों थसथसा जाते हैं। लगता है, सौ मन बोझ लाद दिया किसी ने।"
हीराबाई लंबी साँस लेती है। हिरामन के अंग-अंग में उमंग समा जाती है।
"तुम तो उस्ताद हो मीता!"
"इस्स!"

आसिन-कातिक का सूरज दो बाँस दिन रहते ही कुम्हला जाता है। सूरज डूबने से पहले ही ननपुर पहुँचना है, हिरामन अपने बैलों को समझा रहा है - "कदम खोलकर और कलेजा बाँधकर चलो... ए... छि... छि..! बढ़के भैयन! ले-ले-ले-ए हे -य!"

ननपुर तक वह अपने बैलों को ललकारता रहा। हर ललकार के पहले वह अपने बैलों को बीती हुई बातों की याद दिलाता - याद नहीं, चौधरी की बेटी की बरात में कितनी गाड़ियाँ थीं; सबको कैसे मात किया था! हाँ, वह कदम निकालो। ले-ले-ले! ननपुर से फारबिसगंज तीन कोस! दो घंटे और!

ननपुर के हाट पर आजकल चाय भी बिकने लगी है। हिरामन अपने लोटे में चाय भरकर ले आया।.... कंपनी की औरत जानता है वह, सारा दिन, घड़ी घड़ी भर में चाय पीती रहती है। चाय है या जान!

हीरा हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही है - "अरे, तुमसे किसने कह दिया कि क्वारे आदमी को चाय नहीं पीनी चाहिए?"

हिरामन लजा गया। क्या बोले वह?.... लाज की बात। लेकिन वह भोग चुका है एक बार। सरकस कंपनी की मेम के हाथ की चाय पीकर उसने देख लिया है। बड़ी गर्म तासीर!
"पीजिए गुरू जी!" हीरा हँसी!
"इस्स!"

ननपुर हाट पर ही दीया-बाती जल चुकी थी। हिरामन ने अपना सफरी लालटेन जलाकर पिछवा में लटका दिया। आजकल शहर से पाँच कोस दूर के गाँववाले भी अपने को शहरू समझने लगे हैं। बिना रोशनी की गाड़ी को पकड़कर चालान कर देते हैं। बारह बखेड़ा!

"आप मुझे गुरू जी मत कहिए।"
"तुम मेरे उस्ताद हो। हमारे शास्तर में लिखा हुआ है, एक अच्छर सिखानेवाला भी गुरू और एक राग सिखानेवाला भी उस्ताद!"

"इस्स! सास्तर-पुरान भी जानती हैं!.... मैंने क्या सिखाया? मैं क्या... ?"

हीरा हँसकर गुनगुनाने लगी - "हे-अ-अ-अ- सावना-भादवा के-र... !"

हिरामन अचरज के मारे गूँगा हो गया।.... इस्स! इतना तेज जेहन! हू-ब-हू महुआ घटवारिन!

गाड़ी सीताधार की एक सूखी धारा की उतराई पर गड़गड़ाकर नीचे की ओर उतरी। हीराबाई ने हीरामन का कंधा धर लिया एक हाथ से। बहुत देर तक हिरामन के कंधे पर उसकी उँगलियाँ पड़ी रहीं। हिरामन ने नजर फिराकर कंधे पर केंद्रित करने की कोशिश की, कई बार। गाड़ी चढ़ाई पर पहुँची तो हीरा की ढीली उँगलियाँ फिर तन गई।

सामने फारबिसगंज शहर की रोशनी झिलमिला रही है। शहर से कुछ दूर हटकर मेले की रोशनी.... टप्पर में लटके लालटेन की रोशनी में छाया नाचती है आसपास। डबडबाई आँखों से, हर रोशनी सूरजमुखी फूल की तरह दिखाई पड़ती है।

फारबिसगंज तो हिरामन का घर-दुआर है!

न जाने कितनी बार वह फारबिसगंज आया है। मेले की लदनी लादी है। किसी औरत के साथ? हाँ, एक बार। उसकी भाभी जिस साल आई थी गौने में। इसी तरह तिरपाल से गाड़ी को चारों ओर से घेरकर बासा बनाया गया था।

हिरामन अपनी गाड़ी को तिरपाल से घेर रहा है, गाड़ीवान-पट्टी में। सुबह होते ही रीता नौटंकी कंपनी के मैनेजर से बात करके भरती हो जाएगी हीराबाई। परसों मेला खुल रहा है। इस बार मेले में पालचट्टी खूब जमी है।.... बस, एक रात। आज रात-भर हिरामन की गाड़ी में रहेगी वह।.... हिरामन की गाड़ी में नहीं, घर में!

"कहाँ की गाड़ी है?.... कौन, हिरामन! किस मेले से? किस चीज की लदनी है?"

गाँव-समाज के गाड़ीवान, एक-दूसरे को खोजकर, आसपास गाड़ी लगाकर बासा ड़ालते हैं। अपने गाँव के लालमोहर, धुन्नीराम और पलटदास वगैरह गाड़ीवानों के दल को देखकर हिरामन अचकचा गया। उधर पलटदास टप्पर में झाँककर भड़का। मानो बाघ पर नज़र पड़ गई। हिरामन ने इशारे से सभी को चुप किया। फिर गाड़ी की ओर कनखी मारकर फुसफुसाया- "चुप! कंपनी की औरत है, नौटंकी कंपनी की।"
"कंपनी की -ई-ई-ई!"
" ? ?.... ? ?... !"

एक नहीं, अब चार हिरामन! चारों ने अचरज से एक-दूसरे को देखा। कंपनी नाम में कितना असर है! हिरामन ने लक्ष्य किया, तीनों एक साथ सटक-दम हो गए। लालमोहर ने जरा दूर हटकर बतियाने की इच्छा प्रकट की, इशारे से ही। हिरामन ने टप्पर की ओर मुँह करके कहा, "होटिल तो नहीं खुला होगा कोई, हलवाई के यहाँ से पक्की ले आवें!"

"हिरामन, जरा इधर सुनो।.....मैं कुछ नहीं खाऊँगी अभी। लो, तुम खा आओ।"
"क्या है, पैसा? इस्स!"..... पैसा देकर हिरामन ने कभी फारबिसगंज में कच्ची-पक्की नहीं खाई। उसके गाँव के इतने गाड़ीवान हैं, किस दिन के लिए? वह छू नहीं सकता पैसा। उसने हीराबाई से कहा, "बेकार, मेला-बाजार में हुज्जत मत कीजिए। पैसा रखिए।" मौका पाकर लालमोहर भी टप्पर के करीब आ गया। उसने सलाम करते हुए कहा, "चार आदमी के भात में दो आदमी खुसी से खा सकते हैं। बासा पर भात चढ़ा हुआ है। हें-हें-हें ! हम लोग एकहि गाँव के

हैं। गाँवो-गिरामिन के रहते होटिल और हलवाई के यहाँ खाएगा हिरामन?"
हिरामन ने लालमोहर का हाथ टीप दिया - "बेसी भचर-भचर मत बको।"

गाड़ी से चार रस्सी दूर जाते-जाते धुन्नीराम ने अपने कुलबुलाते हुए दिल की बात खोल दी - "इस्स! तुम भी खूब हो हिरामन! उस साल कंपनी का बाघ, इस बार कंपनी की जनानी!"

हिरामन ने दबी आवाज में कहा, "भाई रे, यह हम लोगों के मुलुक की जनाना नहीं कि लटपट बोली सुनकर भी चुप रह जाए। एक तो पच्छिम की औरत, तिस पर कंपनी की!"
धुन्नीराम ने अपनी शंका प्रकट की - "लेकिन कंपनी में तो सुनते हैं पतुरिया रहती है।"
"धत्!" सभी ने एक साथ उसको दुरदुरा दिया, "कैसा आदमी है! पतुरिया रहेगी कंपनी में भला! देखो इसकी बुद्धि। सुना है, देखा तो नहीं है कभी!"

धुन्नीराम ने अपनी गलती मान ली। पलटदास को बात सूझी - "हिरामन भाई, जनाना जात अकेली रहेगी गाड़ी पर? कुछ भी हो, जनाना आखिर जनाना ही है। कोई जरूरत ही पड़ जाए!"

यह बात सभी को अच्छी लगी। हिरामन ने कहा, "बात ठीक है। पलट, तुम लौट जाओ, गाड़ी के पास ही रहना। और देखो, गपशप जरा होशियारी से करना। हाँ!"

हिरामन की देह से अतर-गुलाब की खुशबू निकलती है। हिरामन करमसौड़ है। उस बार महीनों तक उसकी देह से बघाइन गंध नहीं गई। लालमोहर ने हिरामन की गमछी सूँघ ली - "ए-ह!"

हिरामन चलते-चलते रूक गया- "क्या करें लालमोहर भाई, जरा कहो तो! बड़ी जिद्द करती है, कहती है, नौटंकी देखना ही होगा।"
"फोकट में ही?"
"और गाँव नहीं पहुँचेगी यह बात?"

हिरामन बोला, "नहीं जी! एक रात नौटंकी देखकर जिंदगी-भर बोली-ठोली कौन सुने?.... देसी मुर्गी विलायती चाल!"

धुन्नीराम ने पूछा, "फोकट में देखने पर भी तुम्हारी भौजाई बात सुनाएगी?"

लालमोहर के बासा के बगल में, एक लकड़ी की दुकान लादकर आए हुए गाड़ीवानों का बासा है। बासा के मीर-गाड़ीवान मियाँजान बूढ़े ने सफरी गुड़गुड़ी पीते हुए पूछा, "क्यों भाई, मीनाबाजार की लदनी लादकर कौन आया है?"

मीनाबाजार! मीनाबाजार तो पतुरिया-पट्टी को कहते हैं।... क्या बोलता है यह बूढ़ा मियाँ? लालमोहर ने हिरामन के कान में फुसफुसाकर कहा, "तुम्हारी देह मह-मह-महकती है। सच!"

लहसनवाँ लालमोहर का नौकर-गाड़ीवान है। उम्र में सबसे छोटा है। पहली बार आया है तो क्या? बाबू-बबुआइनों के यहाँ बचपन से नौकरी कर चुका है। वह
रह-रहकर वातावरण में कुछ सूँघता है, नाक सिकोड़कर। हिरामन ने देखा, लहसनवाँ का चेहरा तमतम गया है। कौन आ रहा है धड़धड़ाता हुआ? - "कौन, पलटदास? क्या है?"

पलटदास आकर खड़ा हो गया चुपचाप। उसका मुँह भी तमतमाया हुआ था। हिरामन ने पूछा, "क्या हुआ? बोलते क्यों नहीं?"

क्या जवाब दे पलटदास! हिरामन ने उसको चेतावनी दे दी थी, गपशप होशियारी से करना। वह चुपचाप गाड़ी की आसनी पर जाकर बैठ गया, हिरामन की जगह पर। हीराबाई ने पूछा, "तुम भी हिरामन के साथ हो?" पलटदास ने गरदन हिलाकर हामी भरी। हीराबाई फिर लेट गई।.... चेहरा-मोहरा और बोली-बानी देख-सुनकर, पलटदास का कलेजा काँपने लगा; न जाने क्यों। हाँ! रामलीला में सिया सुकुमारी इसी तरह थकी लेटी हुई थी। जै! सियावर रामचंद्र की जै!... पलटदास के मन में जै-जैकार होने लगा। वह दास-वैस्नव है, कीर्तनिया है। थकी हुई सीता महारानी के चरण टीपने की इच्छा प्रकट की उसने, हाथ की उँगलियों के
इशारे से; मानो हारमोनियम की पटरियों पर नचा रहा हो। हीराबाई तमककर बैठ गई - "अरे, पागल है क्या? जाओ, भागो!... "

पलटदास को लगा, गुस्साई हुई कंपनी की औरत की आँखों से चिनगारी निकल रही है-छटक् - छटक्! वह भागा।

पलटदास क्या जवाब दे! वह मेला से भी भागने का उपाय सोच रहा है। बोला, "कुछ नहीं। हमको व्यापारी मिल गया। अभी ही टीसन जाकर माल लादना है। भात में तो अभी देर हैं। मैं लौट आता हूँ तब तक।"

खाते समय धुन्नीराम और लहसनवाँ ने पलटदास की टोकरी-भर निन्दा की। छोटा आदमी है। कमीना है। पैसे-पैसे का हिसाब जोड़ता है। खाने-पीने के बाद लालमोहर के दल ने अपना बासा तोड़ दिया। धुन्नी और लहसनवाँ गाड़ी जोतकर हिरामन के बासा पर चले, गाड़ी की लीक धरकर। हिरामन ने चलते-चलते रूककर, लालमोहर से कहा, "जरा मेरे इस कंधे की सूँघो तो। सूँघकर देखो न?"

लालमोहर ने कंधा सूँघकर आँखे मूँद लीं। मुँह से अस्फुट शब्द निकला - "ए - ह!"
हिरामन ने कहा, "जरा-सा हाथ रखने पर इतनी खुशबू!... समझे!" लालमोहर ने हिरामन का हाथ पकड़ लिया - " कंधे पर हाथ रखा था, सच?... सुनो हिरामन, नौटंकी देखने का ऐसा मौका फिर कभी हाथ नहीं लगेगा। हाँ!"
"तुम भी देखोगे?" लालमोहर की बत्तीसी चौराहे की रोशनी में झिलमिला उठी।
बासा पर पहुँचकर हिरामन ने देखा, टप्पर के पास खड़ा बतिया रहा है कोई, हीराबाई से। धुन्नी और लहसनवाँ ने एक ही साथ कहा, " कहाँ रह गए पीछे? बहुत देर से खोज रही है कंपनी... !"

हिरामन ने टप्पर के पास जाकर देखा- अरे, यह तो वही बक्सा ढोनेवाला नौकर, जो चंपानगर मेले में हीराबाई को गाड़ी पर बिठाकर अँधेरे में गायब हो गया था।

"आ गए हिरामन! अच्छी बात, इधर आओ।... यह लो अपना भाड़ा और यह लो अपनी दच्छिना! पच्चीस-पच्चीस, पचास।"

हिरामन को लगा, किसी ने आसमान से धकेलकर धरती पर गिरा दिया। किसी ने क्यों, इस बक्सा ढोनेवाला आदमी ने। कहाँ से आ गया? उसकी जीभ पर आई हुई बात जीभ पर ही रह गई... इस्स! दच्छिना! वह चुपचाप खड़ा रहा।

हीराबाई बोली, "लो पकड़ो! और सुनो, कल सुबह रौता कंपनी में आकर मुझसे भेंट करना। पास बनवा दूँगी।....बोलते क्यों नहीं?"

लालमोहर ने कहा, "इलाम-बकसीस दे रही है मालकिन, ले लो हिरामन! हिरामन ने कटकर लालमोहर की ओर देखा।... .बोलने का जरा भी ढंग नहीं इस लालमोहरा को।

धुन्नीराम की स्वगतोक्ति सभी ने सुनी, हीराबाई ने भी – गाड़ी–बैल छोड़कर नौटंकी कैसे देख सकता है कोई गाड़ीवान, मेले में?

हिरामन ने रूपया लेते हुए कहा, "क्या बोलेंगे!" उसने हँसने की चेष्टा की। कंपनी की औरत कंपनी में जा रही है। हिरामन का क्या! बक्सा ढोनेवाला रास्ता दिखाता हुआ आगे बढ़ा – "इधर से।" हीराबाई जाते–जाते रूक गई। हिरामन के बैलों को संबोधित करके बोली, "अच्छा, मैं चली भैयन।"

बैलों ने, भैया शब्द पर कान हिलाए।
"? ?... !"

"भा–इ–यो, आज रात! दि रौता संगीत कंपनी के स्टेज पर! गुलबदन देखिए, गुलबदन! आपको यह जानकर खुशी होगी कि मथुरामोहन कंपनी की मशहूर एक्ट्रेस मिस हीरादेवी, जिसकी एक–एक अदा पर हजार जान फिदा हैं, इस बार हमारी कंपनी में आ गई हैं। याद रखिए। आज की रात। मिस हीरादेवी गुलबदन... !"

नौटंकीवालों के इस एलान से मेले की हर पट्टी में सरगर्मी फैल रही है।... हीराबाई? मिस हीरादेवी? लैला, गुलबदन... ? फिलिम एक्ट्रेस को मात करती है।

तेरी बाँकी अदा पर मैं खुद हूँ फिदा,
तेरी चाहत को दिलबर बयाँ क्या करूँ!
यही ख्वाहिश है कि इ–इ–इ तू मुझको देखा करे
और दिलोजान मैं तुमको देखा करूँ।

किर्र–र्र–र्र–र्र..... कड़ड़ड़डड़ड़र्र–घन–घन–धड़ाम।
हर आदमी का दिल नगाड़ा हो गया है।
लालमोहर दौड़ता–हाँफता बासा पर आया– "ऐ, ऐ हिरामन, यहाँ क्या बैठे हो, चलकर देखो जै–जैकार हो रहा है! मय बाजा–गाजा, छापी–फाहरम के साथ हीराबाई की जै–जैकार कर रहा हूँ।"
हिरामन हड़बड़ाकर उठा। लहसनवाँ ने कहा, "धुन्नी काका, तुम बासा पर रहो, मैं भी देख आऊँ।"

धुन्नी की बात कौन सुनता है। तीनों जन नौटंकी कंपनी की एलानिया पार्टी के पीछे–पीछे चलने लगे। हर नुक्कड़ पर रूककर, बाजा बंद करके एलान किया जाना है। एलान के हर शब्द पर हिरामन पुलक उठता है। हीराबाई का नाम, नाम के साथ अदा–फिदा वगैरह सुनकर उसने लालमोहर की पीठ थपथपा दी – "धन्न है, धन्न है! है या नहीं?"

लालमोहर ने कहा, "अब बोलो! अब भी नौटंकी नहीं देखोगे?" सुबह से ही धुन्नीराम और लालमोहर समझा रहे थे, समझाकर हार चुके थे – "कंपनी में जा कर भेंट कर आओ। जाते–जाते पुरसिस कर गई है।" लेकिन हिरामन की बस एक बात – "धत्त, कौन भेंट करने जाए! कंपनी की औरत, कंपनी में गई। अब उससे क्या लेना–देना! चीन्हेगी भी नहीं!"

वह मन–ही–मन रूठा हुआ था। एलान सुनने के बाद उसने लालमोहर से कहा, "जरूर देखना चाहिए, क्यों लालमोहर?"

दोनों आपस में सलाह करके रौता कंपनी की ओर चले। खेमे के पास पहुँचकर हिरामन ने लालमोहर को इशारा किया, पूछताछ करने का भार लालमोहर के सिर। लालमोहर कचराही बोलना जानता है। लालमोहर ने एक काले कोटवाले से कहा, "बाबू साहेब, जरा सुनिए तो!"

काले कोटवाले ने नाक-भौं चढ़ाकर कहा- "क्या है? इधर क्यों?"
लालमोहर की कचराही बोली गड़बड़ा गई - तेवर देखकर बोला, "गुलगुल... नहीं-नहीं... बुल-बुल.... नहीं.... ।"

हिरामन ने झट-से सम्हाल दिया - "हीरादेवी किधर रहती है, बता सकते हैं?" उस आदमी की आँखें हठात् लाल हो गई। सामने खड़े नेपाली सिपाही को पुकारकर कहा, "इन लोगों को क्यों आने दिया इधर?"

"हिरामन!"... वही फेनूगिलासी आवाज किधर से आई? खेमे के परदे को हटाकर हीराबाई ने बुलाया - यहाँ आ जाओ, अंदर!... देखो, बहादुर! इसको पहचान लो। यह मेरा हिरामन है। समझे?"

नेपाली दरबान हिरामन की ओर देखकर जरा मुस्कराया और चला गया। काले कोटवाले से जाकर कहा, "हीराबाई का आदमी है। नहीं रोकने बोला!"

लालमोहर पान ले आया नेपाली दरबान के लिए - "खाया जाए!"

"इस्स! एक नहीं, पाँच पास। चारों अठनिया! बोली कि जब तक मेले में हो, रोज रात में आकर देखना। सबका खयाल रखती है। बोली कि तुम्हारे और साथी है, सभी के लिए पास ले जाओ। कंपनी की औरतों की बात निराली होती है! है या नहीं?"

लालमोहर ने लाल कागज के टुकड़ों को छूकर देखा - "पा-स! वाह रे हिरामन भाई!.... लेकिन पाँच पास लेकर क्या होगा? पलटदास तो फिर पलटकर आया ही नहीं है अभी तक।"

हिरामन न कहा, "जाने दो अभागे को। तकदीर में लिखा नहीं।... हाँ, पहले गुरूकसम खानी होगी सभी को, कि गाँव-घर में यह बात एक पंछी भी न जान पाए।"

लालमोहर ने उत्तेजित होकर कहा, "कौन साला बोलेगा, गाँव में जाकर? पलटा ने अगर बदनामी की तो दूसरी बार से फिर साथ नहीं लाऊँगा।"

हिरामन ने अपनी थैली आज हीराबाई के जिम्मे रख दी है। मेले का क्या ठिकाना! किस्म-किस्म के पाकिटकाट लोग हर साल आते हैं। अपने साथी-संगियों का भी क्या भरोसा! हीराबाई मान गई। हिरामन के कपड़े की काली थैली को उसने अपने चमड़े के बक्स में बंद कर दिया। बक्से के ऊपर भी कपड़े का खोल और अंदर भी झलमल रेशमी अस्तर! मन का मान-अभिमान दूर हो गया।

लालमोहर और धुन्नीराम ने मिलकर हिरामन की बुद्धि की तारीफ की; उसके भाग्य को सराहा बार-बार। उसके भाई और भाभी की निंदा की, दबी जबान से।

हिरामन के जैसा हीरा भाई मिला है, इसीलिए! कोई दूसरा भाई होता तो... ।"

लहसनवाँ का मुँह लटका हुआ है। एलान सुनते-सुनते न जाने कहाँ चला गया कि घड़ी-भर साँझ होने के बाद लौटा है। लालमोहर ने एक मालिकाना झिड़की दी है, गाली के साथ- "सोहदा कहीं का!"

धुन्नीराम ने चुल्हे पर खिचड़ी चढ़ाते हुए कहा, "पहले यह फैसला कर लो कि गाड़ी के पास कौन रहेगा!"
"रहेगा कौन, यह लहसनवाँ कहाँ जाएगा?"

लहसनवाँ रो पड़ा – ''ऐ-ए-ए मालिक, हाथ जोड़ते हैं। एक्को झलक! बस, एक झलक!
हिरामन न उदारतापूर्वक कहा, ''अच्छा-अच्छा, एक झलक क्यों, एक घंटा देखना। मैं आ जाऊँगा।''

नौटंकी शुरू होने के दो घंटे पहले ही नगाड़ा बजना शुरू हो जाता है। और नगाड़ा शुरू होते ही लोग पतिंगों की तरह टूटने लगते हैं। टिकटघर के पास भीड़ देखकर हिरामन को बड़ी हँसी आई – ''लालमोहर, उधर देख, कैसी धक्कमधुक्की कर रहे हैं लोग!''
''हिरामन भाय!''
''कौन, पलटदास! कहाँ की लदनी आए?'' लालमोहर ने पराए गाँव के आदमी की तरह पूछा।
पलटदास ने हाथ मलते हुए माफी माँगी – ''कसूरबार हैं; जो सजा दो तुम लोग, सब मंजूर है। लेकिन सच्ची बात कहें कि सिया सुकुमारी.... ।''
हिरामन के मन का पुरइन नगाड़े के ताल पर विकसित हो चुका है। बोला, ''देखो पलटा, यह मत समझना कि गाँव-घर की जनाना है। देखो, तुम्हारे लिए भी पास दिया है; पास ले लो अपना, तमासा देखो।''
लालमोहर ने कहा, ''लेकिन एक सर्त पर पास मिलेगा। बीच-बीच में लहसनवाँ को भी.... ।''
पलटदास को कुछ बताने की जरूरत नहीं। वह लहसनवाँ से बातचीत कर आया है अभी।
लालमोहर ने दूसरी शर्त सामने रखी – ''गाँव में अगर यह बात मालूम हुई किसी तरह... !''
''राम-राम!'' दाँत से जीभ को काटते हुए कहा पलटदास ने।
पलटदास ने बताया- ''अठनिया फाटक इधर है!'' फाटक पर खड़े दरबान ने हाथ से पास लेकर उनके चेहरे को बारी-बारी से देखा, बोला, ''यह तो पास है। कहाँ से मिला?''

अब लालमोहर की कचराही बोली सुने कोई! उसके तेवर देखकर दरबान घबरा गया- ''मिलेगा कहाँ से? अपनी कंपनी से पूछ लीजिए जाकर। चार ही नहीं, देखिए एक और है।'' जेब से पाँचवा पास निकालकर दिखाया लालमोहर ने।

एक रूपयावाले फाटक पर नेपाली दरबान खड़ा था। हिरामन ने पुकारकर कहा, ''ए सिपाही दाजू, सुबह को ही पहचनवा दिया और अभी भूल गए?''

नेपाली दरबान बोला, ''हीराबाई का आदमी है सब। जाने दो। पास हैं तो फिर काहे को रोकता है?''

अठनिया दर्जा!

तीनों ने 'कपड़घर' को अंदर से पहली बार देखा। सामने कुरसी-बेंचवाले दर्जे हैं। परदे पर राम-बन-गमन की तसवीर है। पलटदास पहचान गया। उसने हाथ जोड़कर नमस्कार किया, परदे पर अंकित रामसिया सुकुमारी और लखनलला को। ''जै हो, जै हो!'' पलटदास की आँखें भर आई।

हिरामन ने कहा, ''लालमोहर, छापी सभी खड़े हैं या चल रहे हैं?''

लालमोहर अपने बगल में बैठे दर्शकों से जान-पहचान कर चुका है। उसने कहा, ''खेला अभी परदा के भीतर है। अभी जमिनका दे रहा है, लोग जमाने के लिए।''

पलटदास ढोलक बजाना जानता है, इसलिए नगाड़े के ताल पर गरदन हिलाता है और दियासलाई पर ताल काटता है। बीड़ी आदान-प्रदान करके हिरामन ने भी एकाध जान-पहचान कर ली। लालमोहर के परिचित आदमी ने चादर से देह ढकते हुए कहा, ''नाच शुरू होने में अभी देर है, तब तक एक नींद ले लें।.... सब दर्जा से अच्छा अठनिया दर्जा। सबसे पीछे सबसे ऊँची जगह पर है। जमीन पर गरम पुआल! हे-हे! कुरसी-बेंच पर बैठकर इस सरदी के मौसम में तमासा

देखनेवाले अभी घुच-घुचकर उठेंगे चाह पीने।"

उस आदमी ने अपने संगी से कहा, "खेला शुरू होने पर जगा देना। नहीं-नहीं, खेला शुरू होने पर नहीं, हिरिया जब स्टेज पर उतरे, हमको जगा देना।"

हिरामन के कलेजे में जरा आँच लगी।.... हिरिया! बड़ा लटपटिया आदमी मालूम पड़ता है। उसने लालमोहर को आँख के इशारे से कहा, "इस आदमी से बतियाने की जरूरत नहीं।"

घन-घन-घन-धड़ाम! परदा उठ गया। हे-ए, हे-ए, हीराबाई शुरू में ही उतर गई स्टेज पर! कपड़घर खचमखच भर गया है। हिरामन का मुँह अचरज में खुल गया। लालमोहर को न जाने क्यों ऐसी हँसी आ रही है। हीराबाई के गीत के हर पद पर वह हँसता है, बेवजह।

गुलबदन दरबार लगाकर बैठी है। एलान कर रही है; जो आदमी तख्तहजारा बनाकर ला देगा, मुँहमाँगी चीज इनाम में दी जाएगी।.... अजी, है कोई ऐसा फनकार, तो हो जाए तैयार, बनाकर लाए तख्तहजारा-आ! किड़किड़-किर्रि-! अलबत्त नाचती है! क्या गला है! मालूम है, यह आदमी कहता है कि हीराबाई पान-बीड़ी, सिगरेट-जर्दा कुछ नहीं खाती! ठीक कहती है। बड़ी नेमवाली रंडी है। कौन कहता है कि रंडी है! दाँत में मिस्सी कहाँ है। पौडर से दाँत धो लेती होगी। हरगिज नहीं।.... कौन आदमी है, बात की बेबात करता है! कंपनी की औरत को पतुरिया कहता है! तुमको बात क्यों लगी? कौन है रंडी का भड़वा? मारो साले को! मारो! तेरी... ।

हो-हल्ले के बीच, हिरामन की आवाज कपड़घर को फाड रही है- "आओ, एक-एक की गरदन उतार लेंगे।"

लालमोहर दुलाली से पटापट पीटता जा रहा है सामने के लोगों को। पलटदास एक आदमी की छाती पर सवार है - "साला, सिया सुकुमारी को गाली देता है, सो भी मुसलमान होकर?"

धुन्नीराम शुरू से ही चुप था। मारपीट शुरू होते ही वह कपड़घर से निकलकर बाहर भागा।

काले कोटवाले नौटंकी के मैनेजर नेपाली सिपाही के साथ दौड़े आए। दारोगा साहब ने हंटर से पीट-पीट शुरू की। हंटर खाकर लालमोहर तिलमिला उठा; कचराही बोली में भाषण देने लगा - "दारोगा साहब, मारते हैं, मारिए। कोई हर्ज नहीं। लेकिन यह पास देख लीजिए, एक पास पाकिट में भी हैं। देख सकते हैं हुजूर। टिकट नहीं, पास!"... तब हम लोगों के सामने कंपनी की औरत को कोई बुरी बात करे तो कैसे छोड़ देंगे?"

कंपनी के मैनेजर की समझ में आ गई सारी बात। उसने दारोगा को समझाया - "हुजूर, मैं समझ गया। यह सारी बदमाशी मथुरामोहन कंपनीवालों की है। तमाशे में झगड़ा खड़ा करके कंपनी को बदनाम... नहीं हुजूर, इन लोगों को छोड़ दीजिए, हीराबाई के आदमी है। बेचारी की जान खतरे में हैं। हुजूर से कहा था न!"

हीराबाई का नाम सुनते ही दारोगा ने तीनों को छोड़ दिया। लेकिन तीनों की दुआली छीन ली गई। मैनेजर ने तीनों को एक रूपएवाले दरजे में कुरसी पर बिठाया -
"आप लोग यहीं बैठिए। पान भिजवा देता हूँ।" कपड़घर शांत हुआ और हीराबाई स्टेज पर लौट आई।

नगाड़ा फिर घनघना उठा।

थोड़ी देर बाद तीनों को एक ही साथ धुन्नीराम का खयाल हुआ - अरे, धुन्नीराम कहाँ गया?

"मालिक, ओ मालिक!" लहसनवाँ कपड़घर से बाहर चिल्लाकर पुकार रहा है, "ओ लालमोहर मा-लि-क!"

लालमोहर ने तारस्वर में जवाब दिया-"इधर से, उधर से! एकटकिया फाटक से।" सभी दर्शकों ने लालमोहर की ओर मुड़कर देखा। लहसनवाँ को नेपाली सिपाही लालमोहर के पास ले आया। लालमोहर ने जेब से पास निकालकर दिखा दिया। लहसनवाँ ने आते ही पूछा, "मालिक, कौन आदमी क्या बोल रहा था? बोलिए तो जरा। चेहरा दिखला दीजिए, उसकी एक झलक!"

लोगों ने लहसनवाँ की चौड़ी और सपाट छाती देखी। जाड़े के मौसम में भी खाली देह!.. चेले-चाटी के साथ हैं ये लोग!

लालमोहर ने लहसनवाँ को शांत किया।

तीनों-चारों से मत पूछे कोई, नौटंकी में क्या देखा। किस्सा कैसे याद रहे! हिरामन को लगता था, हीराबाई शुरू से ही उसीकी ओर टकटकी लगाकर देख रही है, गा रही है, नाच रही है। लालमोहर को लगता था, हीराबाई उसी की ओर देखती है। वह समझ गई है, हिरामन से भी ज्यादा पावरवाला आदमी है लालमोहर! पलटदास किस्सा समझता है।... किस्सा और क्या होगा, रमैन की ही बात। वही राम, वही सीता, वही लखनलाल और वही रावन! सिया सुकुमारी को राम जी से छीनने के लिए रावन की तरह-तरह का रूप धरकर आता है। राम और सीता भी रूप बदल लेते हैं। यहाँ भी तख्त-हजारा बनानेवाला माली का बेटा राम है।
गुलबदन मिया सुकुमारी है। माली के लड़के का दोस्त लखनलला है और सुलतान है रावन। धुन्नीराम को बुखार है तेज! लहसनवाँ को सबसे अच्छा जोकर का पार्ट लगा है... चिरैया तोंहके लेके ना जइवै नरहट के बजरिया! वह उस जोकर से दोस्ती लगाना चाहता है। नहीं लगावेगा दोस्ती, जोकर साहब?

हिरामन को एक गीत की आधी कड़ी हाथ लगी है - "मारे गए गुलफाम!" कौन था यह गुलफाम? हीराबाई रोती हुई गा रही थी- "अजी हाँ, मरे गए गुलफाम!"
टिड़िड़िड़ि बेचारा गुलफाम!

तीनों को दुआली वापस देते हुए पुलिस के सिपाही ने कहा, "लाठी-दुआली लेकर नाच देखने आते हो?"

दूसरे दिन मेले-भर में यह बात फैल गई - मथुरामोहन कंपनी से भागकर आई है हीराबाई, इसलिए इस बार मथुरामोहन कंपनी नहीं आई हैं।.... उसके गुंडे आए हैं। हीराबाई भी कम नहीं। बड़ी खेलाड़ औरत है। तेरह-तेरह देहाती लठैत पाल रही है।... 'वाह मेरी जान' भी कहे तो कोई! मजाल है!

दस दिन.... दिन-रात!..

दिन-भर भाड़ा ढोता हिरामन। शाम होते ही नौटंकी का नगाड़ा बजने लगता। नगाड़े की आवाज सुनते ही हीराबाई की पुकार कानों क पास मँडराने लगती - भैया.. मीता.... हिरामन... उस्ताद गुरू जी! हमेशा कोई-न-कोई बाजा उसके मन के कोने में बजता रहता, दिन-भर। कभी हारमोनियम, कभी नगाड़ा, कभी ढोलक और कभी हीराबाई की पैजनी। उन्हीं साजों की गत पर हिरामन उठता-बैठता, चलता-फिरता। नौटंकी कंपनी के मैनेजर से लेकर परदा खींचनेवाले तक उसको पहचानते हैं।... हीराबाई का आदमी है।

पलटदास हर रात नौटंकी शुरू होने के समय श्रद्धापूर्वक स्टेज को नमस्कार करता, हाथ जोड़कर। लालमोहर, एक दिन अपनी कचराही बोली सुनाने गया था हीराबाई को। हीराबाई ने पहचाना ही नहीं। तब से उसका दिल छोटा हो गया है। उसका नौकर लहसनवाँ उसके हाथ से निकल गया है, नौटंकी कंपनी में भर्ती हो गया है। जोकर से उसकी दोस्ती हो गई

है। दिन-भर पानी भरता है, कपड़े धोता है। कहता है, गाँव में क्या है जो जाएँगे! लालमोहर उदास रहता है। धुन्नीराम घर चला गया है, बीमार होकर।

हिरामन आज सुबह से तीन बार लदनी लादकर स्टेशन आ चुका है। आज न जाने क्यों उसको अपनी भौजाई की याद आ रही है।... धुन्नीराम ने कुछ कह तो नहीं दिया है, बुखार की झोंक में! यहीं कितना अटर-पटर बक रहा था - गुलबदन, तख्त-हजारा! लहसनवाँ मौज में है। दिन-भर हीराबाई को देखता होगा। कल कह रहा था, हिरामन मालिक, तुम्हारे अकवाल से खूब मौज में हूँ। हीराबाई की साड़ी धोने के बाद कठौते का पानी अत्तरगुलाब हो जाता है। उसमें अपनी गमछी डुबाकर छोड़ देता हूँ। लो, सूँघोगे? हर रात, किसी-न-किसी के मुँह से सुनता है वह - हीराबाई रंडी है। कितने लोगों से लड़े वह! बिना देखे ही लोग कैसे कोई
बात बोलते हैं! राजा को भी लोग पीठ-पीछे गाली देते हैं! आज वह हीराबाई से मिलकर कहेगा, नौटंकी कंपनी में रहने से बहुत बदनाम करते हैं लोग। सरकस कंपनी में क्यों नही काम करती? सबके सामने नाचती है, हिरामन का कलेजा दप-दप जलता रहता है उस समय।

सरकस कंपनी में बाघ को... उसके पास जाने की हिम्मत कौन करेगा! सुरक्षित रहेगी हीराबाई! किधर की गाड़ी आ रही है?

"हिरामन, ए हिरामन भाय!" लालमोहर की बोली सुनकर हिरामन ने गरदन मोड़कर देखा।.... क्या लादकर लाया है लालमोहर?

"तुमको ढूँढ़ रही है हीराबाई, इस्टिमन पर। जा रही है।" एक ही साँस में सुना गया। लालमोहर की गाड़ी पर ही आई है मेले से।

"जा रही है? कहाँ? हीराबाई रेलगाड़ी से जा रही है?"

हिरामन ने गाड़ी खोल दी। मालगुदाम के चौकीदार से कहा, "भैया, जरा गाड़ी-बैल देखते रहिए। आ रहे हैं।"

"उस्ताद!" जनाना मुसाफिरखाने के फाटक के पास हीराबाई ओढ़नी से मुँह-हाथ ढ़ककर खड़ी थी। थैली बढ़ाती हुई बोली, "लो! हे भगवान! भेंट हो गई, चलो, मैं तो उम्मीद खो चुकी थी। तुमसे अब भेंट नहीं हो सकेगी। मैं जा रही हूँ गुरू जी!"

बक्सा ढोनेवाला आदमी आज कोट-पतलून पहनकर बाबूसाहब बन गया है। मालिकों की तरह कुलियों को हुकम दे रहा है - "जनाना दर्जा में चढ़ाना। अच्छा?"

हिरामन हाथ में थैली लेकर चुपचाप खड़ा रहा। कुरते के अंदर से थैली निकालकर दी है हीराबाई ने। चिड़िया की देह की तरह गर्म है थैली।

"गाड़ी आ रही है।" बक्सा ढोनेवाले ने मुँह बनाते हुए हीराबाई की ओर देखा। उसके चेहरे का भाव स्पष्ट है- इतना ज्यादा क्या है?

हीराबाई चंचल हो गई। बोली, "हिरामन, इधर आओ, अंदर। मैं फिर लौटकर जा रही हूँ मथुरामोहन कंपनी में। अपने देश की कंपनी है। वनैली मेला आओगे न?"

हीराबाई ने हिरामन के कंधे पर हाथ रखा, इस बार दाहिने कंधे पर। फिर अपनी थैली से रूपया निकालते हुए बोली,

''एक गरम चादर खरीद लेना।''

हिरामन की बोली फूटी, इतनी देर के बाद – ''इस्स! हरदम रूपैया-पैसा! रखिए रूपैया! क्या करेंगे चादर?''

हीराबाई का हाथ रूक गया। उसने हिरामन के चेहरे को गौर से देखा। फिर बोली, ''तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है। क्यों मीता? महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है गुरू जी!''

गला भर आया हीराबाई का। बक्सा ढोनेवाले ने बाहर से आवाज दी – ''गाड़ी आ गई।'' हिरामन कमरे से बाहर निकल आया। बक्सा ढोनेवाले ने नौटंकी के जोकर-जैसा मुँह बनाकर कहा, ''लाटफारम' से बाहर भागो। बिना टिकट के पकड़ेगा तो तीन महीने की हवा... ।''

हिरामन चुपचाप फाटक से बाहर जाकर खड़ा हो गया।... टीसन की बात, रेलवे का राज! नहीं तो इस बक्सा ढोनेवाले का मुँह सीधा कर देता हिरामन।

हीराबाई ठीक सामनेवाली कोठरी में चढ़ी। इस्स! इतना टान! गाड़ी में बैठकर भी हिरामन की ओर देख रही है, टुकुर-टुकुर। लालमोहर को देखकर जी जल उठता है, हमेशा पीछे-पीछे; हरदम हिस्सादारी सूझती है।

गाड़ी ने सीटी दी। हिरामन को लगा, उसके अंदर से कोई आवाज निकलकर सीटी के साथ ऊपर की ओर चली गई – कू-ऊ-ऊ! इ-स्स!

-छी-ई-ई-छक्क! गाड़ी हिली। हिरामन ने अपने दाहिने पैर के अँगूठे को बाएँ पैर की एड़ी से कुचल लिया। कलेजे की धड़कन ठीक हो गई। हीराबाई हाथ की बैंगनी साफी से चेहरा पोंछती है। साफी हिलाकर इशारा करती है... अब जाओ। आखिरी डिब्बा गुजरा; प्लेटफार्म खाली..सब खाली..... खोखले... मालगाड़ी के डिब्बे! दुनिया ही खाली हो गई मानो! हिरामन अपनी गाड़ी के पास लौट आया।

हिरामन ने लालमोहर से पूछा, ''तुम कब तक लौट रहे हो गाँव?''

लालमोहर बोला, ''अभी गाँव जाकर क्या करेंगे? यहाँ तो भाड़ा कमाने का मौका है! हीराबाई चली गई, मेला अब टूटेगा।''

– ''अच्छी बात। कोई समाद देना है घर?''

लालमोहर ने हिरामन को समझाने की कोशिश की। लेकिन हिरामन ने अपनी गाड़ी गाँव की ओर जानेवाली सड़क की ओर मोड़ दी। अब मेले में क्या धरा है! खोखला मेला!

रेलवे लाइन की बगल से बैलगाड़ी की कच्ची सड़क गई है दूर तक। हिरामन कभी रेल पर नहीं चढ़ा है। उसके मन में फिर पुरानी लालसा झाँकी, रेलगाड़ी पर सवार होकर, गीत गाते हुए जगरनाथ-धाम जाने की लालसा। उलटकर अपने खाली टप्पर की ओर देखने की हिम्मत नहीं होती है। पीठ में आज भी गुदगुदी लगती है। आज भी रह-रहकर चंपा का फूल खिल उठता है, उसकी गाड़ी में। एक गीत की टूटी कड़ी पर नगाड़े का ताल कट जाता है, बार-बार!

उसने उलटकर देखा, बोरे भी नहीं, बाँस भी नहीं, बाघ भी नहीं – परी... देवी.... मीता... हीरादेवी... महुआ घटवारिन – को-ई नहीं। मरे हुए मुहूर्तो की गूँगी आवाजें मुखर होना चाहती है। हिरामन के होंठ हिल रहे हैं। शायद वह तीसरी कसम खा रहा है – कंपनी की औरत की लदनी।

हिरामन ने हठात अपने दोनों बैलों को झिड़की दी, दुआली से मारे हुए बोला, "रेलवे लाइन की ओर उलट-उलटकर क्या देखते हो?" दोनों बैलों ने कदम खोलकर चाल पकड़ी। हिरामन गुनगुनाने लगा- "अजी हाँ, मारे गए गुलफाम... !"

## 'यही सच है' मन्नू भंडारी

### कानपुर

सामने आंगन में फैली धूप सिमटकर दीवारों पर चढ़ गई और कन्धे पर बस्ता लटकाए नन्हे-नन्हे बच्चों के झुंड-के-झुंड दिखाई दिए, तो एकाएक ही मुझे समय का आभास हुआ। घंटा भर हो गया यहां खड़े-खड़े और संजय का अभी तक पता नहीं! झुंझलाती-सी मैं कमरे में आती हूं। कोने में रखी मेज़ पर किताबें बिखरी पड़ी हैं, कुछ खुली, कुछ बन्द। एक क्षण मैं उन्हें देखती रहती हूं, फिर निरूद्देश्य-सी कपड़ों की अलमारी खोलकर सरसरी-सी नज़र से कपड़े देखती हूं। सब बिखरे पड़े हैं। इतनी देर यों ही व्यर्थ खड़ी रही; इन्हें ही ठीक कर लेती। पर मन नहीं करता और फिर बन्द कर देती हूं।

नहीं आना था तो व्यर्थ ही मुझे समय क्यों दिया? फिर यह कोई आज ही की बात है! हमेशा संजय अपने बताए हुए समय से घंटे-दो घंटे देरी करके आता है, और मैं हूं कि उसी क्षण से प्रतीक्षा करने लगती हूं। उसके बाद लाख कोशिश करके भी तो किसी काम में अपना मन नहीं लगा पाती। वह क्यों नहीं समझता कि मेरा समय बहुत अमूल्य है; थीसिस पूरी करने के लिए अब मुझे अपना सारा समय पढ़ाई में ही लगाना चाहिए। पर यह बात उसे कैसे समझाऊं!

मेज़ पर बैठकर मैं फिर पढ़ने का उपक्रम करने लगती हूं, पर मन है कि लगता ही नहीं। पर्दे के ज़रा-से हिलने से दिल की धड़कन बढ़ जाती है और बार-बार नज़र घड़ी के सरकते हुए कांटों पर दौड़ जाती है। हर समय यही लगता है, वह आया!... वह आया!

तभी मेहता साहब की पांच साल की छोटी बच्ची झिझकती-सी कमरे में आती है,
"आंटी, हमें कहानी सुनाओगी?"
"नहीं, अभी नहीं, पीछे आना!" मैं रूखाई से जवाब देती हूं। वह भाग जाती है। ये मिसेज मेहता भी एक ही हैं! यों तो महीनों शायद मेरी सूरत नहीं देखतीं; पर बच्ची को जब-तब मेरा सिर खाने को भेज देती हैं। मेहता साहब तो फिर भी कभी-कभी आठ-दस दिन में खैरियत पूछ ही लेते हैं, पर वे तो बेहद अकड़ू मालूम होती हैं। अच्छा ही है, ज़्यादा दिलचस्पी दिखाती तो क्या मैं इतनी आज़ादी से घूम-फिर सकती थी?

खट-खट-खट... वही परिचित पद-ध्वनि! तो आ गया संजय। मैं बरबस ही अपना सारा ध्यान पुस्तक में केन्द्रित कर लेती हूं। रजनीगन्धा के ढेर-सारे फूल लिए संजय मुस्कुराता-सा दरवाज़े पर खड़ा है। मैं देखती हूं, पर मुस्कुराकर स्वागत नहीं करती। हंसता हुआ वह आगे बढ़ता है और फूलों को मेज पर पटककर, पीछे से मेरे दोनों कन्धे दबाता हुआ पूछता है,
"बहुत नाराज़ हो?"

रजनीगन्धा की महक से जैसे सारा कमरा महकने लगता है।

"मुझे क्या करना है नाराज़ होकर?" रूखाई से मैं कहती हूं। वह कुर्सी सहित मुझे घुमाकर अपने सामने कर लेता है, और बड़े दुलार के साथ ठोड़ी उठाकर कहता, "तुम्हीं बताओ क्या करता? क्वालिटी में दोस्तों के बीच फंसा था। बहुत कोशिश करके भी उठ नहीं पाया। सबको नाराज़ करके आना अच्छा भी नहीं लगता।"

इच्छा होती है, कह दूं– "तुम्हें दोस्तों का खयाल है, उनके बुरा मानने की चिन्ता है, बस मेरी ही नहीं!" पर कुछ कह नहीं पाती, एकटक उसके चेहरे की ओर देखती रहती हूं...उसके सांवले चेहरे पर पसीने की बूंदें चमक रही हैं। कोई और समय होता तो मैंने अपने आंचल से इन्हें पोंछ दिया होता, पर आज नहीं। वह मन्द-मन्द मुस्कुरा रहा है, उसकी आंखें क्षमा-याचना कर रही हैं, पर मैं क्या करूं? तभी वह अपनी आदत के अनुसार कुर्सी के हत्थे पर बैठकर मेरे गाल सहलाने लगता है। मुझे उसकी इसी बात पर गुस्सा आता है। हमेशा इसी तरह करेगा और फिर दुनिया-भर का लाड़-दुलार दिखलाएगा। वह जानता जो है कि इसके आगे मेरा क्रोध टिक नहीं पाता। फिर उठकर वह फूलदान के पुराने फूल फेंक देता है, और नए फूल लगाता है। फूल सजाने में वह कितना कुशल है! एक बार मैंने यों ही कह दिया था कि मुझे रजनीगन्धा के फूल बड़े पसन्द हैं, तो उसने नियम ही बना लिया कि हर चौथे दिन ढेर-सारे फूल लाकर मेरे कमरे में लगा देता है। और अब तो मुझे भी ऐसी आदत हो गई है कि एक दिन भी कमरे में फूल न रहें तो न पढ़ने में मन लगता है, न सोने में। ये फूल जैसे संजय की उपस्थिति का आभास देते रहते हैं।

थोड़ी देर बाद हम घूमने निकल जाते हैं। एकाएक ही मुझे इरा के पत्र की बात याद आती है। जो बात सुनने के लिए में सवेरे से ही आतुर थी, इस गुस्सेबाज़ी में जाने कैसे उसे ही भूल गई!

"सुनो, इरा ने लिखा है कि किसी दिन भी मेरे पास इंटरव्यू का बुलावा आ सकता है, मुझे तैयार रहना चाहिए।"
"कहां, कलकत्ता से?" कुछ याद करते हुए संजय पूछता है, और फिर एकाएक ही उछल पड़ता है, "यदि तुम्हें वह जॉब मिल जाए तो मज़ा आ जाए, दीपा, मज़ा आ जाए!"

हम सड़क पर हैं, नहीं तो अवश्य ही उसने आवेश में आकर कोई हरकत कर डाली होती। जाने क्यों, मुझे उसका इस प्रकार प्रसन्न होना अच्छा नहीं लगता। क्या वह चाहता है कि मैं कलकत्ता चली जाऊं, उससे दूर?
तभी सुनाई देता है, "तुम्हें यह जॉब मिल जाए तो मैं भी अपना तबादला कलकत्ता ही करवा लूं, हेड़ ऑफिस में। यहां की रोज़ की किच-किच से तो मेरा मन ऊब गया है। कितनी ही बार सोचा कि तबादले की कोशिश करूं, पर तुम्हारे खयाल ने हमेशा मुझे बांध लिया। ऑफिस में शान्ति हो जाएगी, पर मेरी शामें कितनी वीरान हो जाएंगी!"

उसके स्वर की आर्द्रता ने मुझे छू लिया। एकाएक ही मुझे लगने लगा कि रात बड़ी सुहावनी हो चली है।

हम दूर निकलकर अपनी प्रिय टेकरी पर जाकर बैठ जाते हैं। दूर-दूर तक हल्की-सी चांदनी फैली हुई है और शहर की तरह यहां का वातावरण धुएं से भरा हुआ नहीं है। वह दोनों पैर फैलाकर बैठ जाता है और घंटों मुझे अपने ऑफिस के झगड़े की बात सुनाता है और फिर कलकत्ता जाकर साथ जीवन बिताने की योजनाएं बनाता है। मैं कुछ नहीं बोलती, बस एकटक उसे देखती हूं, देखती रहती हूं।

जब वह चुप हो जाता है तो बोलती हूं, "मुझे तो इंटरव्यू में जाते हुए बड़ा डर लगता है। पता नहीं, कैसे-क्या पूछते होंगे! मेरे लिए तो यह पहला ही मौका है।"

वह खिलखिलाकर हंस पड़ता है।

"तुम भी एक ही मूर्ख हो! घर से दूर, यहां कमरा लेकर अकेली रहती हो, रिसर्च कर रही हो, दुनिया-भर में घूमती-फिरती हो और इंटरव्यू के नाम से डर लगता है। क्यों?" और गाल पर हल्की-सी चपत जमा देता है। फिर समझाता हुआ कहता है, "और देखो, आजकल ये इंटरव्यू आदि तो सब दिखावा-मात्र होते हैं। वहां किसी जान-पहचान वाले से इन्फ्लुएंस

डलवाना जाकर!"
"पर कलकत्ता तो मेरे लिए एकदम नई जगह है। वहां इरा को छोड़कर मैं किसी को जानती भी नहीं। अब उन लोगों की कोई जान–पहचान हो तो बात दूसरी है," असहाय–सी मैं कहती हूं।
"और किसी को नहीं जानतीं?" फिर मेरे चेहरे पर नज़रें गड़ाकर पूछता है, "निशीथ भी तो वहीं है?"
"होगा, मुझे क्या करना है उससे?" मैं एकदम ही भन्नाकर जवाब देती हूं। पता नहीं क्यों, मुझे लग ही रहा था कि अब वह यही बात कहेगा।
"कुछ नहीं करना?" वह छेड़ने के लहजे में कहता है।
और मैं भभक पड़ती हूं, "देखो संजय, मैं हज़ार बार तुमसे कह चुकी हूं कि उसे लेकर मुझसे मज़ाक मत किया करो! मुझे इस तरह का मज़ाक ज़रा भी पसन्द नहीं है!"

वह खिलखिलाकर हंस पड़ता है, पर मेरा तो मूड़ ही खराब हो जाता है।
हम लौट पड़ते हैं। वह मुझे खुश करने के इरादे से मेरे कन्धे पर हाथ रख देता है। मैं झपटकर हाथ हटा देती हूं, "क्या कर रहे हो? कोई देख लेगा तो क्या कहेगा?"
"कौन है यहां जो देख लेगा? और देख लेगा तो देख ले, आप ही कुढ़ेगा।"
"नहीं, हमें पसन्द नहीं हैं यह बेशर्मी!" और सच ही मुझे रास्ते में ऐसी हरकतें पसन्द नहीं हैं चाहे रास्ता निर्जन ही क्यों न हो; पर है तो रास्ता ही; फिर कानपुर जैसी जगह।

कमरे में लौटकर मैं उसे बैठने को कहती हूं; पर वह बैठता नहीं; बस, बांहों में भरकर एक बार चूम लेता है। यह भी जैसे उसका रोज़ का नियम है।

वह चला जाता है। मैं बाहर बालकनी में निकलकर उसे देखती रहती हूं। उसका आकार छोटा होते–होते सड़क के मोड़ पर जाकर लुप्त हो जाता है। मैं उधर ही देखती रहती हूं – निरूद्देश्य–सी खोई–खोई–सी। फिर आकर पढ़ने बैठ जाती हूं।

रात में सोती हूं तो देर तक मेरी आंखें मेज़ पर लगे रजनीगन्धा के फूलों को ही निहारती रहती हैं। जाने क्यों, अक्सर मुझे भ्रम हो जाता है कि ये फूल नहीं हैं, मानो संजय की अनेकानेक आंखें हैं, जो मुझे देख रही हैं, सहला रही हैं, दुलरा रही हैं। और अपने को यों असंख्य आंखों से निरन्तर देखे जाने की कल्पना से ही मैं लजा जाती हूं।

मैंने संजय को भी एक बार यह बात बताई थी, तो वह खूब हंसा था और फिर मेरे गालों को सहलाते हुए उसने कहा था कि मैं पागल हूं, निरी मूर्खा हूं!

कौन जाने, शायद उसका कहना ही ठीक हो, शायद मैं पागल ही होऊं!

## कानपुर

मैं जानती हूं, संजय का मन निशीथ को लेकर जब–तब सशंकित हो उठता है; पर मैं उसे कैसे विश्वास दिलाऊं कि मैं निशीथ से नफरत करती हूं, उसकी याद–मात्र से मेरा मन घृणा से भर उठता है। फिर अठारह वर्ष की आयु में किया हुआ प्यार भी कोई प्यार होता है भला! निरा बचपन होता है, महज पागलपन! उसमें आवेश रहता है पर स्थायित्व नहीं, गति रहती है पर गहराई नहीं। जिस वेग से वह आरम्भ होता है, ज़रा–सा झटका लगने पर उसी वेग से टूट भी जाता है। और उसके बाद आहों, आंसुओं और सिसकियों का एक दौर, सारी दुनिया की निस्सारता और आत्महत्या करने के अनेकानेक संकल्प और फिर एक तीखी घृणा। जैसे ही जीवन को दूसरा आधार मिल जाता है, उन सबको भूलने में एक दिन भी नहीं लगता। फिर तो वह सब ऐसी बेवकूफी लगती है, जिस पर बैठकर घंटों हंसने की तबीयत होती है। तब एकाएक ही इस

बात का अहसास होता है कि ये सारे आंसूं, ये सारी आहें उस प्रेमी के लिए नहीं थीं, वरन् जीवन की उस रिक्तता और शून्यता के लिए थीं, जिसने जीवन को नीरस बनाकर बोझिल कर दिया था।

तभी तो संजय को पाते ही मैं निशीथ को भूल गई। मेरे आंसू हंसी में बदल गए और आहों की जगह किलकारियां गूंजने लगीं। पर संजय है कि जब-तब निशीथ की बात को लेकर व्यर्थ ही खिन्न-सा हो उठता है। मेरे कुछ कहने पर वह खिलखिला अवश्य पड़ता है; पर मैं जानती हूं, वह पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं है।

उसे कैसे बताऊं कि मेरे प्यार का, मेरी कोमल भावनाओं का, भविष्य की मेरी अनेकानेक योजनाओं का एकमात्र केन्द्र संजय ही है। यह बात दूसरी है कि चांदनी रात में, किसी निर्जन स्थान में, पेड़-तले बैठकर भी मैं अपनी थीसिस की बात करती हूं या वह अपने ऑफिस की, मित्रों की बातें करता है, या हम किसी और विषय पर बात करने लगते हैं... पर इस सबका यह मतलब तो नहीं कि हम प्रेम नहीं करते! वह क्यों नहीं समझता कि आज हमारी भावुकता यथार्थ में बदल गई हैं, सपनों की जगह हम वास्तविकता में जीते हैं! हमारे प्रेम को परिपक्वता मिल गई हैं, जिसका आधार पाकर वह अधिक गहरा हो गया है, स्थायी हो गया है।

पर संजय को कैसे समझाऊं यह सब? कैसे उसे समझाऊं कि निशीथ ने मेरा अपमान किया है, ऐसा अपमान, जिसकी कचोट से मैं आज भी तिलमिला जाती हूं। सम्बन्ध तोड़ने से पहले एक बार तो उसने मुझे बताया होता कि आखिर मैंने ऐसा कौन-सा अपराध कर डाला था, जिसके कारण उसने मुझे इतना कठोर दंड दे डाला? सारी दुनिया की भर्त्सना, तिरस्कार, परिहास और दया का विष मुझे पीना पड़ा। विश्वासघाती! नीच कहीं का! और संजय सोचता है कि आज भी मेरे मन में उसके लिए कोई कोमल स्थान है! छिः! मैं उससे नफरत करती हूं! और सच पूछो तो अपने को भाग्यशालिनी समझती हूं कि मैं एक ऐसे व्यक्ति के चंगुल में फंसने से बच गई, जिसके लिए प्रेम महज एक खिलवाड़ है।

संजय, यह तो सोचो कि यदि ऐसी कोई भी बात होती, तो क्या मैं तुम्हारे आगे, तुम्हारी हर उचित-अनुचित चेष्टा के आगे, यों आत्मसमर्पण करती? तुम्हारे चुम्बनों और आलिंगनों में अपने को यों बिखरने देती? जानते हो, विवाह से पहले कोई भी लड़की किसी को इन सबका अधिकार नहीं देती। पर मैंने दिया। क्या केवल इसीलिए नहीं कि मैं तुम्हें प्यार करती हूं, बहुत-बहुत प्यार करती हूं? विश्वास करो संजय, तुम्हारा-मेरा प्यार ही सच है। निशीथ का प्यार तो मात्र छल था, भ्रम था, झूठ था।

कानपुर

परसों मुझे कलकत्ता जाना है। बड़ा डर लग रहा है। कैसे क्या होगा? मान लो, इंटरव्यू में बहुत नर्वस हो गई, तो? संजय को कह रही हूं कि वह भी साथ चले; पर उसे ऑफिस से छुट्टी नहीं मिल सकती। एक तो नया शहर, फिर इंटरव्यू! अपना कोई साथ होता तो बड़ा सहारा मिल जाता। मैं कमरा लेकर अकेली रहती हूं यों अकेली घूम-फिर भी लेती हूं तो संजय सोचता है, मुझमें बड़ी हिम्मत है, पर सच, बड़ा डर लग रहा है।

बार-बार मैं यह मान लेती हूं कि मुझे नौकरी मिल गई है और मैं संजय के साथ वहां रहने लगी हूं। कितनी सुन्दर कल्पना है, कितनी मादक! पर इंटरव्यू का भय मादकता से भरे इस स्वप्नजाल को छिन्न-भिन्न कर देता है... ।

काश, संजय भी किसी तरह मेरे साथ चल पाता!

कलकत्ता

गाड़ी जब हावड़ा स्टेशन के प्लेटफॉर्म पर प्रवेश करती है तो जाने कैसी विचित्र आशंका, विचित्र-से भय से मेरा मन भर जाता है। प्लेटफॉर्म पर खड़े असंख्य नर-नारियों में मैं इरा को ढूंढ़ती हूं। वह कहीं दिखाई नहीं देती। नीचे उतरने के

बजाय खिड़की में से ही दूर-दूर तक नज़रें दौड़ाती हूं। आखिर एक कुली को बुलाकर, अपना छोटा-सा सूटकेस और बिस्तर उतारने का आदेश दे, मैं नीचे उतर पड़ती हूं। उस भीड़ को देखकर मेरी दहशत जैसे और बढ़ जाती है। तभी किसी के हाथ के स्पर्श से मैं बुरी तरह चौंक जाती हूं। पीछे देखती हूं तो इरा खड़ी है।

रूमाल से चेहरे का पसीना पोंछते हुए कहती हूं, "ओफ! तुझे न देखकर मैं घबरा रही थी कि तुम्हारे घर भी कैसे पहुंचूंगी!"

बाहर आकर हम टैक्सी में बैठते हैं। अभी तक मैं स्वस्थ नहीं हो पाई हूं। जैसे ही हावड़ा-पुल पर गाड़ी पहुंचती है, हुगली के जल को स्पर्श करती हुई ठंडी हवाएं तन-मन को एक ताज़गी से भर देती हैं। इरा मुझे इस पुल की विशेषता बताती है और मैं विस्मित-सी उस पुल को देखती हूं, दूर-दूर तक फैले हुगली के विस्तार को देखती हूं, उसकी छाती पर खड़ी और विहार करती अनेक नौकाओं को देखती हूं, बड़े-बड़े जहाजों को देखती हूं..

उसके बाद बहुत ही भीड़-भरी सड़कों पर हमारी टैक्सी रूकती-रूकती चलती है। ऊंची-ऊंची इमारतों और चारों ओर के वातावरण से कुछ विचित्र-सी विराटता का आभास होता है, और इस सबके बीच जैसे मैं अपने को बड़ा खोया-खोया-सा महसूस करती हूं। कहां पटना और कानपुर और कहां यह कलकत्ता! मैंने तो आज तक कभी बहुत बड़े शहर देखे ही नहीं!

सारी भीड़ को चीरकर हम रैड रोड पर आ जाते हैं। चौड़ी शान्त सड़क। मेरे दोनों ओर लम्बे-चौड़े खुले मैदान।

"क्यों इरा, कौन-कौन लोग होंगे इंटरव्यू में? मुझे तो बड़ा डर लग रहा है।"
"अरे, सब ठीक हो जाएगा! तू और डर? हम जैसे डरें तो कोई बात भी है। जिसने अपना सारा कैरियर अपने-आप बनाया, वह भला इंटरव्यू में डरे! फिर कुछ देर ठहरकर कहती है, "अच्छा, भैया-भाभी तो पटना ही होंगे? जाती है कभी उनके पास भी या नहीं?"
"कानपुर आने के बाद एक बार गई थी। कभी-कभी यों ही पत्र लिख देती हूं।"
"भई कमाल के लोग हैं! बहन को भी नहीं निभा सके!"

मुझे यह प्रसंग कतई पसन्द नहीं। मैं नहीं चाहती कि कोई इस विषय पर बात करे। मैं मौन ही रहती हूं।

इरा का छोटा-सा घर है, सुन्दर ढंग से सजाया हुआ। उसके पति के दौरे पर जाने की बात सुनकर पहले तो मुझे अफसोस हुआ था; वे होते तो कुछ मदद ही करते! पर फिर एकाएक लगा कि उनकी अनुपस्थिति में मैं शायद अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकूं। उनका बच्चा भी बड़ा प्यारा है।

शाम को इरा मुझे कॉफी-हाउस ले जाती है। अचानक मुझे वहां निशीथ दिखाई देता है। मैं सकपकाकर नज़र घुमा लेती हूं। पर वह हमारी मेज़ पर ही आ पहुंचता है। विवश होकर मुझे उधर देखना पड़ता है, नमस्कार भी करना पड़ता है; इरा का परिचय भी करवाना पड़ता है। इरा पास की कुर्सी पर बैठने का निमन्त्रण दे देती है। मुझे लगता है, मेरी सांस रूक जाएगी।
"कब आई?"
"आज सवेरे ही।"
"अभी ठहरोगी? ठहरी कहां हो?"

जवाब इरा देती है। मैं देख रही हूं, निशीथ बहुत बदल गया है। उसने कवियों की तरह बाल बढ़ा लिए हैं। यह क्या शौक चर्राया? उसका रंग स्याह पड़ गया है। वह दुबला भी हो गया है।

विशेष बातचीत नहीं होती और हम लोग उठ पड़ते हैं। इरा को मुन्नू की चिन्ता सता रही थी, और मैं स्वयं भी घर पहुंचने को उतावली हो रही थी। कॉफी-हाउस से धर्मतल्ला तक वह पैदल चलता हुआ हमारे साथ आता है। इरा उससे बात कर रही है, मानो वह इरा का ही मित्र हो! इरा अपना पता समझा देती है और वह दूसरे दिन नौ बजे आने का वायदा करके चला जाता है।

पूरे तीन साल बाद निशीथ का यों मिलना! न चाहकर भी जैसे सारा अतीत आंखों के सामने खुल जाता है। बहुत दुबला हो गया है निशीथ! लगता है, जैसे मन में कहीं कोई गहरी पीड़ा छिपाए बैठा है।

मुझसे अलग होने का दुःख तो नहीं साल रहा है इसे?

कल्पना चाहे कितनी भी मधुर क्यों न हो, एक तृप्ति-युक्त आनन्द देनेवाली क्यों न हो; पर मैं जानती हूं, यह झूठ है। यदि ऐसा ही था तो कौन उसे कहने गया था कि तुम इस सम्बन्ध को तोड़ दो? उसने अपनी इच्छा से ही तो यह सब किया था।

एकाएक ही मेरा मन कटु हो उठता है। यही तो है वह व्यक्ति जिसने मुझे अपमानित करके सारी दुनिया के सामने छोड़ दिया था, महज उपहास का पात्र बनाकर! ओह, क्यों नहीं मैंने उसे पहचानने से इनकार कर दिया? जब वह मेज़ के पास आकर खड़ा हुआ, तो क्यों नहीं मैंने कह दिया कि माफ कीजिए, मैं आपको पहचानती नहीं? ज़रा उसका खिसियाना तो देखती! वह कल भी आएगा। मुझे उसे साफ-साफ मना कर देना चाहिए था कि मैं उसकी सूरत भी नहीं देखना चाहती, मैं उससे नफरत करती हूं!

अच्छा है, आए कल! मैं उसे बता दूंगी कि जल्दी ही मैं संजय से विवाह करनेवाली हूं। यह भी बता दूंगी कि मैं पिछला सब कुछ भूल चुकी हूं। यह भी बता दूंगी कि मैं उससे घृणा करती हूं और उसे जिन्दगी में कभी माफ नहीं कर सकती...

यह सब सोचने के साथ-साथ जाने क्यों, मेरे मन में यह बात भी उठ रही थी कि तीन साल हो गए, अभी तक निशीथ ने विवाह क्यों नहीं किया? करे न करे, मुझे क्या...?

क्या वह आज भी मुझसे कुछ उम्मीद रखता है? हूं! मूर्ख कहीं का!

संजय! मैंने तुमसे कितना कहा था कि तुम मेरे साथ चलो; पर तुम नहीं आए। इस समय जबकि मुझे तुम्हारी इतनी-इतनी याद आ रही है, बताओ, मैं क्या करूं?

कलकत्ता

नौकरी पाना इतना मुश्किल है, इसका मुझे गुमान तक नहीं था। इरा कहती है कि डेढ़ सौ की नौकरी के लिए खुद मिनिस्टर तक सिफारिश करने पहुंच जाते हैं, फिर यह तो तीन सौ का जॉब है। निशीथ सवेरे से शाम तक इसी चक्कर में भटका है, यहां तक कि उसने अपने ऑफिस से भी छुट्टी ले ली है। वह क्यों मेरे काम में इतनी दिलचस्पी ले रहा है? उसका परिचय बड़े-बड़े लोगों से है और वह कहता है कि जैसे भी होगा, वह काम मुझे दिलाकर ही मानेगा। पर आखिर क्यों?

कल मैंने सोचा था कि अपने व्यवहार की रूखाई से मैं स्पष्ट कर दूंगी कि अब वह मेरे पास न आए। पौने नौ बजे के करीब, जब मैं अपने टूटे हुए बाल फेंकने खिड़की पर गई, तो देखा, घर से थोड़ी दूर पर निशीथ टहल रहा है। वही लम्बे बाल, कुरता-पाजामा। तो वह समय से पहले ही आ गया! संजय होता तो ग्यारह के पहले नहीं पहुंचता, समय पर पहुंचना तो वह जानता ही नहीं।

उसे यों चक्कर काटते देख मेरा मन जाने कैसा हो आया। और जब वह आया तो मैं चाहकर भी कटु नहीं हो सकी। मैंने उसे कलकत्ता आने का मकसद बताया, तो लगा कि वह बड़ा प्रसन्न हुआ। वहीं बैठे-बैठे फोन करके उसने इस नौकरी के सम्बन्ध में सारी जानकारी प्राप्त कर ली, कैसे क्या करना होगा, उसकी योजना भी बना डाली; बैठे-बैठे फोन से ऑफिस को सूचना भी दे दी कि आज वह ऑफिस नहीं आएगा।

विचित्र स्थिति मेरी हो रही थी। उसके इस अपनत्व-भरे व्यवहार को मैं स्वीकार भी नहीं कर पाती थी, नकार भी नहीं पाती थी। सारा दिन मैं उसके साथ घूमती रही; पर काम की बात के अतिरिक्त उसने एक भी बात नहीं की। मैंने कई बार चाहा कि संजय की बात बता दूं;

पर बता नहीं सकी। सोचा, कहीं वह सुनकर यह दिलचस्पी लेना कम न कर दे। उसके आज-भर के प्रयत्नों से ही मुझे काफी उम्मीद हो चली थी। यह नौकरी मेरे लिए कितनी आवश्यक है, मिल जाए तो संजय कितना प्रसन्न होगा, हमारे विवाहित जीवन के आरम्भिक दिन कितने सुख में बीतेंगे!

शाम को हम घर लौटते हैं। मैं उसे बैठने को कहती हूं; पर वह बैठता नहीं, बस खड़ा ही रहता है। उसके चौड़े ललाट पर पसीने की बूंदें चमक रही हैं। एकाएक ही मुझे लगता है, इस समय संजय होता, तो? मैं अपने आंचल से उसका पसीना पोंछ देती, और वह...क्या बिना बाहों में भरे, बिना प्यार किए यों ही चला जाता?
"अच्छा, तो चलता हूं।"

यन्त्रचलित-से मेरे हाथ जुड़ जाते हैं, वह लौट पड़ता है और मैं ठगी-सी देखती रहती हूं।

सोते समय मेरी आदत है कि संजय के लाए हुए फूलों को निहारती रहती हूं। यहां वे फूल नहीं हैं तो बड़ा सूना-सूना सा लग रहा है।

पता नहीं संजय, तुम इस समय क्या कर रहे हो! तीन दिन हो गए, किसी ने बांहों में भरकर प्यार तक नहीं किया।

कलकत्ता

आज सवेरे मेरा इंटरव्यू हो गया है। मैं शायद बहुत नर्वस हो गई थी और जैसे उत्तर मुझे देने चाहिए, वैसे नहीं दे पाई। पर निशीथ ने आकर बताया कि मेरा चुना जाना करीब-करीब तय हो गया है। मैं जानती हूं, यह सब निशीथ की वजह से ही हुआ।

ढलते सूरज की धूप निशीथ के बाएं गाल पर पड़ रही थी और सामने बैठा निशीथ इतने दिन बाद एक बार फिर मुझे बड़ा प्यारा-सा लगा।

मैंने देखा, मुझसे ज्यादा वह प्रसन्न है। वह कभी किसी का अहसान नहीं लेता; पर मेरी खातिर उसने न जाने कितने लोगों को अहसान लिया। आखिर क्यों? क्या वह चाहता है कि मैं कलकत्ता आकर रहूं उसके साथ, उसके पास? एक अजीब-सी पुलक से मेरा तन-मन सिहर उठता है। वह ऐसा क्यों चाहता है? उसका ऐसा चाहना बहुत गलत है, बहुत अनुचित है! मैं अपने मन को समझाती हूं, ऐसी कोई बात नहीं है, शायद वह केवल मेरे प्रति किए गए अन्याय का प्रतिकार करने के लिए यह सब कर रहा है! पर क्या वह समझता है कि उसकी मदद से नौकरी पाकर मैं उसे क्षमा कर दूंगी, या जो कुछ उसने किया है, उसे भूल जाऊंगी? असम्भव! मैं कल ही उसे संजय की बात बता दूंगी।
"आज तो इस खुशी में पार्टी हो जाए!"
काम की बात के अलावा यह पहला वाक्य मैं उसके मुंह से सुनती हूं, मैं इरा की ओर देखती हूं। वह प्रस्ताव का समर्थन करके भी मुन्नू की तबीयत का बहाना लेकर अपने को काट लेती है। अकेले जाना मुझे कुछ अटपटा-सा लगता है। अभी

तक तो काम का बहाना लेकर घूम रही थी, पर अब? फिर भी मैं मना नहीं कर पाती। अन्दर जाकर तैयार होती हूं। मुझे याद आता है, निशीथ को नीला रंग बहुत पसन्द था, मैं नीली साड़ी ही पहनती हूं। बड़े चाव और सतर्कता से अपना प्रसाधन करती हूं, और बार-बार अपने को टोकती जाती हूं – किसको रिझाने के लिए यह सब हो रहा है? क्या यह निरा पागलपन नहीं है?

सीढ़ियों पर निशीथ हल्की-सी मुस्कुराहट के साथ कहता है, "इस साड़ी में तुम बहुत सुन्दर लग रही हो।"

मेरा चेहरा तमतमा जाता है; कनपटियां सुर्ख हो जाती हैं। मैं चुपचाप ही इस वाक्य के लिए तैयार नहीं थी। यह सदा चुप रहनेवाला निशीथ बोला भी तो ऐसी बात।

मुझे ऐसी बातें सुनने की ज़रा भी आदत नहीं है। संजय न कभी मेरे कपड़ों पर ध्यान देता है, न ऐसी बातें करता है, जब कि उसे पूरा अधिकार है। और यह बिना अधिकार ऐसी बातें करे?

पर जाने क्या है कि मैं उस पर नाराज़ नहीं हो पाती हूं; बल्कि एक पुलकमय सिहरन महसूस करती हूं। सच, संजय के मुंह से ऐसा वाक्य सुनने को मेरा मन तरसता रहता है, पर उसने कभी ऐसी बात नहीं की। पिछले ढ़ाई साल से मैं संजय के साथ रह रही हूं। रोज़ ही शाम को हम घूमने जाते हैं। कितनी ही बार मैंने श्रृंगार किया, अच्छे कपड़े पहने, पर प्रशंसा का एक शब्द भी उसके मुंह से नहीं सुना। इन बातों पर उसका ध्यान ही नहीं जाता; यह देखकर भी जैसे यह सब नहीं देख पाता। इस वाक्य को सुनने के लिए तरसता हुआ मेरा मन जैसे रस से नहा जाता है। पर निशीथ ने यह बात क्यों कही? उसे क्या अधिकार है?

क्या सचमुच ही उसे अधिकार नहीं है? नहीं है?

जाने कैसी मजबूरी है, कैसी विवशता है कि मैं इस बात का जवाब नहीं दे पाती हूं। निश्चयात्मक दृढ़ता से नहीं कह पाती कि साथ चलते इस व्यक्ति को सचमुच ही मेरे विषय में ऐसी अवांछित बात कहने का कोई अधिकार नहीं है।

हम दोनों टैक्सी में बैठते हैं। मैं सोचती हूं, आज मैं इसे संजय की बात बता दूंगी।
"स्काई-रूम!" निशीथ टैक्सीवाले को आदेश देता है।

'टुन' की घंटी के साथ मीटर डाउन होता है और टैक्सी हवा से बातें करने लगती है। निशीथ बहुत सतर्कता से कोने में बैठा है, बीच में इतनी जगह छोड़कर कि यदि हिचकोला खाकर भी टैक्सी रूके, तो हमारा स्पर्श न हो। हवा के झोंके से मेरी रेशमी साड़ी का पल्लू उसके समूचे बदन को स्पर्श करता हुआ उसकी गोदी में पड़कर फरफराता है। वह उसे हटाता नहीं है। मुझे लगता है, यह रेशमी, सुवासित पल्लू उसके तन-मन को रस से भिगो रहा है, यह स्पर्श उसे पुलकित कर रहा है, मैं विजय के अकथनीय आह्लाद से भर जाती हूं।

आज भी मैं संजय की बात नहीं कह पाती। चाहकर भी नहीं कह पाती। अपनी इस विवशता पर मुझे खीज भी आती है, पर मेरा मुंह है कि खुलता ही नहीं। मुझे लगता है कि मैं जैसे कोई बहुत बड़ा अपराध कर रही होऊं; पर फिर भी मैं कुछ नहीं कह सकी।

यह निशीथ कुछ बोलता क्यों नहीं? उसका यों कोने में दुबककर निर्विकार भाव से बैठे रहना मुझे कतई अच्छा नहीं लगता। एकाएक ही मुझे संजय की याद आने लगती है। इस समय वह यहां होता तो उसका हाथ मेरी कमर में लिपटा होता! यों सड़क पर ऐसी हरकतें मुझे स्वयं पसन्द नहीं; पर जाने क्यों, किसी की बाहों की लपेट के लिए मेरा मन ललक उठता है। मैं जानती हूं कि जब निशीथ बगल में बैठा हो, उस समय ऐसी इच्छा करना,

या ऐसी बात सोचना भी कितना अनुचित है। पर मैं क्या करूं? जितनी द्रुतगति से टैक्सी चली जा रही है, मुझे लगता है, उतनी ही द्रुतगति से मैं भी बही जा रही हूं, अनुचित, अवांछित दिशाओं की ओर।

टैक्सी झटका खाकर रूकती है तो मेरी चेतना लौटती है। मैं जल्दी से दाहिनी ओर का फाटक खोलकर कुछ इस हड़बड़ी से नीचे उतर पड़ती हूं; मानो अन्दर निशीथ मेरे साथ कोई बदतमीजी कर रहा हो।

"अजी, इधर से उतरना चाहिए कभी?" टैक्सीवाला कहता है मुझे अपनी गलती का भान होता है। उधर निशीथ खड़ा है, इधर मैं, बीच में टैक्सी!

पैसे लेकर टैक्सी चली जाती है तो हम दोनों एक–दूसरे के आमने–सामने हो जाते हैं। एकाएक ही मुझे खयाल आता है कि टैक्सी के पैसे तो मुझे ही देने चाहिए थे। पर अब क्या हो सकता था! चुपचाप हम दोनों अन्दर जाते हैं। आस–पास बहुत कुछ है, चहल–पहल, रौशनी, रौनक। पर मेरे लिए जैसे सबका अस्तित्व ही मिट जाता है। मैं अपने को सबकी नज़रों से ऐसे बचाकर चलती हूं, मानो मैंने कोई अपराध कर डाला हो, और कोई मुझे पकड़ न ले।

क्या सचमुच ही मुझसे कोई अपराध हो गया है?

आमने–सामने हम दोनों बैठ जाते हैं। मैं होस्ट हूं, फिर भी उसका पार्ट वही अदा कर रहा है। वही ऑर्डर देता है। बाहर की हलचल और उससे अधिक मन की हलचल में मैं अपने को खोया–खोया–सा महसूस करती हूं।

हम दोनों के सामने बैरा कोल्ड–कॉफी के गिलास और खाने का कुछ सामान रख जाता है। मुझे बार–बार लगता है कि निशीथ कुछ कहना चाह रहा है। मैं उसके होंठों की धड़कन तक महसूस करती हूं। वह जल्दी से कॉफी का स्ट्रॉ मुंह से लगा लेता है।

मूर्ख कहीं का! वह सोचता है, मैं बेवकूफ हूं। मैं अच्छी तरह जानती हूं कि इस समय वह क्या सोच रहा है।

तीन दिन साथ रहकर भी हमने उस प्रसंग को नहीं छेड़ा। शायद नौकरी की बात ही हमारे दिमागों पर छाई हुई थी। पर आज...आज अवश्य ही वह बात आएगी! न आए, यह कितना अस्वाभाविक है! पर नहीं, स्वाभाविक शायद यही है। तीन साल पहले जो अध्याय सदा के लिए बन्द हो गया, उसे उलटकर देखने का साहस शायद हम दोनों में से किसी में नहीं है। जो सम्बन्ध टूट गए, टूट गए। अब उन पर कौन बात करे? मैं तो कभी नहीं करूंगी। पर उसे तो करना चाहिए। तोड़ा उसने था, बात भी वही आरम्भ करे। मैं क्यों करूं, और मुझे क्या पड़ी है? मैं तो जल्दी ही संजय से विवाह करनेवाली हूं। क्यों नहीं मैं इसे अभी संजय की बात बता देती? पर जाने कैसी विवशता है, जाने कैसा मोह है कि मैं मुंह नहीं खोल पाती। एकाएक मुझे लगता है जैसे उसने कुछ कहा...
"आपने कुछ कहा?"
"नहीं तो!"
मैं खिसिया जाती हूं।
फिर वही मौन! खाने में मेरा ज़रा भी मन नहीं लग रहा है; पर यन्त्रचलित–सी मैं खा रही हूं। शायद वह भी ऐसे ही खा रहा है। मुझे फिर लगता है कि उसके होंठ फड़क रहे हैं, और स्ट्रॉ पकड़े हुए उंगलियां कांप रही हैं। मैं जानती हूं, वह पूछना चाहता है, "दीपा, तुमने मुझे माफ तो कर दिया न?

वह पूछ ही क्यों नहीं लेता? मान लो, यदि पूछ ही ले, तो क्या मैं कह सकूंगी कि मैं तुम्हें ज़िन्दगी–भर माफ नहीं कर सकती, मैं तुमसे नफरत करती हूं, मैं तुम्हारे साथ घूम–फिर ली, या कॉफी पी ली, तो यह मत समझो कि मैं तुम्हारे विश्वासघात की बात को भूल गई हूं?

और एकाएक ही पिछला सब कुछ मेरी आंखों के आगे तैरने लगता है। पर यह क्या? असह्य अपमानजनित पीड़ा, क्रोध और कटुता क्यों नहीं याद आती? मेरे सामने तो पटना में गुजारी सुहानी सन्ध्याओं और चांदनी रातों के वे चित्र उभरकर आते हैं, जब घंटों समीप बैठ, मौन भाव से हम एक-दूसरे को निहारा करते थे। बिना स्पर्श किए भी जाने कैसी मादकता तन-मन को विभोर किए रहती थी, जाने कैसी तन्मयता में हम डूबे रहते थे...एक विचित्र-सी, स्वप्निल दुनिया में! मैं कुछ बोलना भी चाहती तो वह मेरे मुंह पर उंगली रखकर कहता, "आत्मीयता के ये क्षण अनकहे ही रहने दो, दीपा!"

आज भी तो हम मौन ही हैं, एक-दूसरे के निकट ही हैं। क्या आज भी हम आत्मीयता के उन्हीं क्षणों में गुज़र रहे हैं? मैं अपनी सारी शक्ति लगाकर चीख पड़ना चाहती हूं, नही!...नहीं!...नहीं!...पर कॉफी सिप करने के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं कर पाती। मेरा यह विरोध हृदय की न जाने कौन-सी अतल गहराइयों में डूब जाता है!

निशीथ मुझे बिल नहीं देने देता। एक विचित्र-सी भावना मेरे मन में उठती है कि छीना-झपटी में किसी तरह मेरा हाथ इसके हाथ से छू जाए! मैं अपने स्पर्श से उसके मन के तारों को झनझना देना चाहती हूं। पर वैसा अवसर नहीं आता। बिल वही देता है, मुझसे तो विरोध भी नहीं किया जाता।

मन में प्रचंड तूफान! पर फिर भी निर्विकार भाव से मैं टैक्सी में आकर बैठती हूं...फिर वही मौन, वही दूरी। पर जाने क्या है कि मुझे लगता है कि निशीथ मेरे बहुत निकट आ गया है, बहुत ही निकट! बार-बार मेरा मन करता है कि क्यों नहीं निशीथ मेरा हाथ पकड़ लेता, क्यों नहीं मेरे कन्धे पर हाथ रख देता? मैं ज़रा भी बुरा नहीं मानूंगी, ज़रा भी नहीं! पर वह कुछ भी नहीं करता।

सोते समय रोज़ की तरह मैं आज भी संजय का ध्यान करते हुए ही सोना चाहती हूं, पर निशीथ है कि बार-बार संजय की आकृति को हटाकर स्वयं आ खड़ा होता है...

कलकत्ता

अपनी मज़बूरी पर खीज-खीज जाती हूं। आज कितना अच्छा मौका था सारी बात बता देने का! पर मैं जाने कहां भटकी थी कि कुछ भी नहीं बता पाई।

शाम को मुझे निशीथ अपने साथ 'लेक' ले गया। पानी के किनारे हम घास पर बैठ गए। कुछ दूर पर काफी भीड़-भाड़ और चहल-पहल थी, पर यह स्थान अपेक्षाकृत शान्त था। सामने लेक के पानी में छोटी-छोटी लहरें उठ रही थीं। चारों ओर के वातावरण का कुछ विचित्र-सा भाव मन पर पड़ रहा था।

"अब तो तुम यहां आ जाओगी!" मेरी ओर देखकर उसने कहा।
"हां!"
"नौकरी के बाद क्या इरादा है?"
मैंने देखा, उसकी आंखों में कुछ जानने की आतुरता फैलती जा रही है, शायद कुछ कहने की भी। मुझसे कुछ जानकर वह अपनी बात कहेगा।
"कुछ नहीं!" जाने क्यों मैं यह कह गई। कोई है जो मुझे कचोटे डाल रहा है। क्यों नहीं मैं बता देती कि नौकरी के बाद मैं संजय से विवाह करूंगी, मैं संजय से प्रेम करती हूं, वह मुझसे प्रेम करता है? वह बहुत अच्छा है, बहुत ही! वह मुझे तुम्हारी तरह धोखा नहीं देगा; पर मैं कुछ भी तो नहीं कह पाती। अपनी इस बेबसी पर मेरी आंखें छलछला आती हैं। मैं दूसरी ओर मुंह फेर लेती हूं।

"तुम्हारे यहां आने से मैं बहुत खुश हूं!"

मेरी सांस जहां–की–तहां रूक जाती है आगे के शब्द सुनने के लिए; पर शब्द नहीं आते। बड़ी कातर, करूण और याचना–भरी दृष्टि से मैं उसे देखती हूं, मानो कह रही होऊं कि तुम कह क्यों नहीं देते निशीथ, कि आज भी तुम मुझे प्यार करते हो, तुम मुझे सदा अपने पास रखना चाहते हो, जो कुछ हो गया है, उसे भूलकर तुम मुझसे विवाह करना चाहते हो? कह दो, निशीथ, कह दो!...यह सुनने के लिए मेरा मन अकुला रहा है, छटपटा रहा है! मैं बुरा नहीं मानूंगी, ज़रा भी बुरा नहीं मांनूंगी। मान ही कैसे सकती हूं निशीथ! इतना सब हो जाने के बाद भी शायद मैं तुम्हें प्यार करती हूं – शायद नहीं, सचमुच ही मैं तुम्हें प्यार करती हूं!

मैं जानती हूं–तुम कुछ नहीं कहोगे, सदा के ही मितभाषी जो हो। फिर भी कुछ सुनने की आतुरता लिये मैं तुम्हारी तरफ देखती रहती हूं। पर तुम्हारी नज़र तो लेक के पानी पर जमी हुई है...शान्त, मौन!

आत्मीयता के ये क्षण अनकहे भले ही रह जाएं पर अनबूझे नहीं रह सकते। तुम चाहे न कहो, पर मैं जानती हूं, तुम आज भी मुझे प्यार करते हो, बहुत प्यार करते हो! मेरे कलकत्ता आ जाने के बाद इस टूटे सम्बन्ध को फिर से जोड़ने की बात ही तुम इस समय सोच रहे हो। तुम आज भी मुझे अपना ही समझते हो, तुम जानते हो, आज भी दीपा तुम्हारी है!...और मैं?

लगता है, इस प्रश्न का उत्तर देने का साहस मुझमें नहीं है। मुझे डर है कि जिस आधार पर मैं तुमसे नफरत करती थी, उसी आधार पर कहीं मुझे अपने से नफरत न करनी पड़े।
लगता है, रात आधी से भी अधिक ढल गई है।

कानपुर

मन में उत्कट अभिलाषा होते हुए भी निशीथ की आवश्यक मीटिंग की बात सुनकर मैंने कह दिया था कि तुम स्टेशन मत आना। इरा आई थी; पर गाड़ी पर बिठाकर ही चली गई, या कहूं कि मैंने जबर्दस्ती ही उसे भेज दिया। मैं जानती थी कि लाख मना करने पर भी निशीथ आएगा और विदा के उन अन्तिम क्षणों में मैं उसके साथ अकेली ही रहना चाहती थी। मन में एक दबी–सी आशा थी कि चलते समय ही शायद वह कुछ कह दे।

गाड़ी चलने में जब दस मिनट रह गए तो देखा, बड़ी व्यग्रता से डिब्बों में झांकता–झांकता निशीथ आ रहा था।...पागल! उसे इतना तो समझना चाहिए कि उसकी प्रतीक्षा में मैं यहां बाहर खड़ी हूं!

मैं दौड़कर उसके पास जाती हूं, "आप क्यों आए?" पर मुझे उसका आना बड़ा अच्छा लगता है! वह बहुत थका हुआ लग रहा है। शायद सारा दिन बहुत व्यस्त रहा और दौड़ता–दौड़ता मुझे सी–ऑफ करने यहां आ पहुंचा। मन करता है कुछ ऐसा करूं, जिससे इसकी सारी थकान दूर हो जाए। पर क्या करूं? हम डिब्बे के पास आ जाते हैं।
"जगह अच्छी मिल गई?" वह अन्दर झांकते हुए पूछता है।
"हां!"
"पानी–वानी तो है?"
"है।"
"बिस्तर फैला लिया?"
मैं खीज पड़ती हूं। वह शायद समझ जाता है, सो चुप हो जाता है। हम दोनों एक क्षण को एक–दूसरे की ओर देखते हैं। मैं उसकी आंखों में विचित्र–सी छायाएं देखती हूं; मानो कुछ है, जो उसके मन में घुट रहा है, उसे मथ रहा है, पर वह कह नहीं पा रहा है। वह क्यों नहीं कह देता? क्यों नहीं अपने मन की इस घुटन को हल्का कर लेता?

"आज भीड़ विशेष नहीं है," चारों ओर नज़र डालकर वह कहता है।
मैं भी एक बार चारों ओर देख लेती हूं, पर नज़र मेरी बार–बार घड़ी पर ही जा रही है। जैसे–जैसे समय सरक रहा है, मेरा

मन किसी गहरे अवसाद में डूब रहा है। मुझे कभी उस पर दया आती है तो कभी खीज। गाड़ी चलने में केवल तीन मिनट बाकी रह गए हैं। एक बार फिर हमारी नज़रें मिलती हैं।

"ऊपर चढ़ जाओ, अब गाड़ी चलनेवाली है।"
बड़ी असहाय-सी नज़र से मैं उसे देखती हूं; मानो कह रही होऊं, तुम्हीं चढ़ा दो।...और फिर धीरे-धीरे चढ़ जाती हूं। दरवाज़े पर मैं खड़ी हूं और वह नीचे प्लेटफॉर्म पर।
"जाकर पहुंचने की खबर देना। जैसे ही मुझे इधर कुछ निश्चित रूप से मालूम होगा, तुम्हें सूचना दूंगा।"

मैं कुछ बोलती नहीं, बस उसे देखती रहती हूं...
सीटी...हरी झंडी...फिर सीटी। मेरी आंखें छलछला आती हैं।

गाड़ी एक हल्के-से झटके के साथ सरकने लगती है। वह गाड़ी के साथ कदम आगे बढ़ाता है और मेरे हाथ पर धीरे-से अपना हाथ रख देता है। मेरा रोम-रोम सिहर उठता है। मन करता है चिल्ला पड़ूं-मैं सब समझ गई, निशीथ, सब समझ गई! जो कुछ तुम इन चार दिनों में नहीं कह पाए, वह तुम्हारे इस क्षणिक स्पर्श ने कह दिया। विश्वास करो, यदि तुम मेरे हो तो मैं भी तुम्हारी हूं; केवल तुम्हारी, एकमात्र तुम्हारी!...पर मैं कुछ कह नहीं पाती। बस, साथ चलते निशीथ को देखती-भर रहती हूं। गाड़ी के गति पकड़ते ही वह हाथ को ज़रा-सा दबाकर छोड़ देता है। मेरी छलछलाई आंखें मुंद जाती हैं। मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, बाकी सब झूठ है; अपने को भूलने का, भरमाने का, छलने का असफल प्रयास है।

आंसू-भरी आंखों से मैं प्लेटफॉर्म को पीछे छूटता हुआ देखती हूं। सारी आकृतियां धुंधली-सी दिखाई देती हैं। असंख्य हिलते हुए हाथों के बीच निशीथ के हाथ को, उस हाथ को, जिसने मेरा हाथ पकड़ा था, ढूंढ़ने का असफल-सा प्रयास करती हूं। गाड़ी प्लेटफॉर्म को पार कर जाती है, और दूर-दूर तक कलकत्ता की जगमगाती बत्तियां दिखाई देती हैं। धीरे-धीरे वे सब दूर हो जाती हैं, पीछे छूटती जाती हैं। मुझे लगता है, यह दैत्याकार ट्रेन मुझे मेरे घर से कहीं दूर ले जा रही है – अनदेखी, अनजानी राहों में गुमराह करने के लिए, भटकाने के लिए!

बोझिल मन से मैं अपने फैलाए हुए बिस्तर पर लेट जाती हूं। आंखें बन्द करते ही सबसे पहले मेरे सामने संजय का चित्र उभरता है...कानपुर जाकर मैं उसे क्या कहूंगी? इतने दिनों तक उसे छलती आई, अपने को छलती आई, पर अब नहीं। मैं उसे सारी बात समझा दूंगी। कहूंगी, संजय जिस सम्बन्ध को टूटा हुआ जानकर मैं भूल चुकी थी, उसकी जड़ें हृदय की किन अतल गहराइयों में जमी हुई थीं, इसका अहसास कलकत्ता में निशीथ से मिलकर हुआ। याद आता है, तुम निशीथ को लेकर सदैव ही संदिग्ध रहते थे; पर तब मैं तुम्हें ईर्ष्यालु समझती थी; आज स्वीकार करती हूं कि तुम जीते, मैं हारी!

सच मानना संजय, ढ़ाई साल मैं स्वयं भ्रम में थी और तुम्हें भी भ्रम में डाल रखा था; पर आज भ्रम के, छलना के सारे ही जाल छिन्न-भिन्न हो गए हैं। मैं आज भी निशीथ को प्यार करती हूं। और यह जानने के बाद, एक दिन भी तुम्हारे साथ और छल करने का दुस्साहस कैसे करूं? आज पहली बार मैंने अपने सम्बन्धों का विश्लेषण किया, तो जैसे सब कुछ ही स्पष्ट हो गया और जब मेरे सामने सब कुछ स्पष्ट हो गया, तो तुमसे कुछ भी नहीं छिपाऊंगी, तुम्हारे सामने मैं चाहूं तो भी झूठ नहीं बोल सकती।

आज लग रहा है, तुम्हारे प्रति मेरे मन में जो भी भावना है वह प्यार की नहीं, केवल कृतज्ञता की है। तुमने मुझे उस समय सहारा दिया था, जब अपने पिता और निशीथ को खोकर मैं चूर-चूर हो चुकी थी। सारा संसार मुझे वीरान नज़र आने लगा था, उस समय तुमने अपने स्नेहिल स्पर्श से मुझे जिला दिया; मेरा मुरझाया, मरा मन हरा हो उठा; मैं कृतकृत्य हो उठी, और समझने लगी कि मैं तुमसे प्यार करती हूं। पर प्यार की बेसुध घड़ियां, वे विभोर क्षण, तन्मयता के वे पल, जहां शब्द चुक जाते हैं, हमारे जीवन में कभी नहीं आए। तुम्हीं बताओ, आए कभी? तुम्हारे असंख्य आलिंगनों और चुम्बनों के बीच भी, एक क्षण के लिए भी तो मैंने कभी तन-मन की सुध बिसरा देनेवाली पुलक या मादकता का अनुभव नहीं किया।

सोचती हूं, निशीथ के चले जाने के बाद मेरे जीवन में एक विराट शून्यता आ गई थी, एक खोखलापन आ गया था, तुमने उसकी पूर्ति की। तुम पूरक थे, मैं गलती से तुम्हें प्रियतम समझ बैठी।

मुझे क्षमा कर दो संजय और लौट जाओ। तुम्हें मुझ जैसी अनेक दीपाएं मिल जाएंगी, जो सचमुच ही तुम्हें प्रियतम की तरह प्यार करेंगी। आज एक बात अच्छी तरह जान गई हूं कि प्रथम प्रेम ही सच्चा प्रेम होता है; बाद में किया हुआ प्रेम तो अपने को भूलने का, भरमाने का प्रयास–मात्र होता है...

इसी तरह की असंख्य बातें मेरे दिमाग में आती हैं, जो मैं संजय से कहूंगी। कह सकूंगी यह सब? लेकिन कहना तो होगा ही। उसके साथ अब एक दिन भी छल नहीं कर सकती। मन से किसी और की आराधना करके तन से उसकी होने का अभिनय करती रहूं? छीः! नहीं जानती, यही सब सोचते–सोचते मुझे कब नींद आ गई।

लौटकर अपना कमरा खोलती हूं, तो देखती हूं, सब कुछ ज्यों–का–त्यों है, सिर्फ फूलदान को रजनीगन्धा मुरझा गए हैं। कुछ फूल झरकर ज़मीन पर इधर–उधर भी बिखर गए हैं।

आगे बढ़ती हूं तो ज़मीन पर पड़ा एक लिफाफा दिखाई देता है। संजय की लिखाई है, खोला तो छोटा–सा पत्र थाः

दीपा,
तुमने जो कलकत्ता जाकर कोई सूचना ही नहीं दी। मैं आज ऑफिस के काम से कटक जा रहा हूं। पांच–छः दिन में लौट आऊंगा। तब तक तुम आ ही जाओगी। जानने को उत्सुक हूं कि कलकत्ता में क्या हुआ?

तुम्हारा
संजय

एक लम्बा निःश्वास निकल जाता है। लगता है, एक बड़ा बोझ हट गया। इस अवधि में तो मैं अपने को अच्छी तरह तैयार कर लूंगी।

नहा–धोकर सबसे पहले में निशीथ को पत्र लिखती हूं। उसकी उपस्थिति से जो हिचक मेरे होंठ बन्द किए हुए थी, दूर रहकर वह अपने–आप ही टूट जाती हैं। मैं स्पष्ट शब्दों में लिख देती हूं कि चाहे उसने कुछ नहीं कहा, फिर भी मैं सब कुछ समझ गई हूं। साथ ही यह भी लिख देती हूं कि मैं उसकी उस हरकत से बहुत दुखी थी, बहुत नाराज़ भी; पर उसे देखते ही जैसे सारा क्रोध बह गया। इस अपनत्व में क्रोध भला टिक भी कैसे पाता? लौटी हूं, तब से न जाने कैसी रंगीनी और मादकता मेरी आंखों के आगे छाई है...!

एक खूबसूरत–से लिफाफे में उसे बन्द करके मैं स्वयं पोस्ट करने जाती हूं।
रात में सोती हूं तो अनायास ही मेरी नज़र सूने फूलदान पर जाती है। मैं करवट बदलकर सो जाती हूं।

कानपुर

आज निशीथ को पत्र लिखे पांचवां दिन है। मैं तो कल ही उसके पत्र की राह देख रही थी। पर आज की भी दोनों डाकें निकल गईं। जाने कैसा सूना–सूना, अनमना–अनमना लगता रहा सारा दिन! किसी भी तो काम में जी नहीं लगता। क्यों नहीं लौटती डाक से ही उत्तर दे दिया उसने? समझ में नहीं आता, कैसे समय गुजारूं!

मैं बाहर बालकनी में जाकर खड़ी हो जाती हूं। एकाएक खयाल आता है, पिछले ढाई सालों से करीब इसी समय, यहीं खड़े होकर मैंने संजय की प्रतीक्षा की है। क्या आज मैं संजय की प्रतीक्षा कर रही हूं? या मैं निशीथ के पत्र की प्रतीक्षा कर रही हूं? शायद किसी की नहीं, क्योंकि जानती हूं कि दोनों में से कोई भी नहीं आएगा। फिर?

निरूद्देश्य-सी कमरे में लौट पड़ती हूं। शाम का समय मुझसे घर में नहीं काटा जाता। रोज़ ही तो संजय के साथ घूमने निकल जाया करती थी। लगता है; यहीं बैठी रही तो दम ही घुट जाएगा। कमरा बन्द करके मैं अपने को धकेलती-सी सड़क पर ले आती हूं। शाम का धुंधलका मन के बोझ को और भी बढ़ा देता है। कहां जाऊं? लगता है, जैसे मेरी राहें भटक गई हैं, मंज़िल खो गई है। मैं स्वयं नहीं जानती, आखिर मुझे जाना कहां है। फिर भी निरूद्देश्य-सी चलती रहती हूं। पर आखिर कब तक यूं भटकती रहूं? हारकर लौट पड़ती हूं।

आते ही मेहता साहब की बच्ची तार का एक लिफाफा देती है।
धड़कते दिल से मैं उसे खोलती हूं। इरा का तार था।
'नियुक्ति हो गई है। बधाई!'

इतनी बड़ी खुशखबरी पाकर भी जाने क्या है कि खुश नहीं हो पाती। यह खबर तो निशीथ भेजनेवाला था। एकाएक ही एक विचार मन में आता है ः क्या जो कुछ मैं सोच गई, वह निरा भ्रम ही था, मात्र मेरी कल्पना, मेरा अनुमान? नहीं-नहीं! उस स्पर्श को मैं भ्रम कैसे मान लूं, जिसने मेरे तन-मन को डुबो दिया था, जिसके द्वारा उसके हृदय की एक-एक परत मेरे सामने खुल गई थी? लेक पर बिताए उन मधुर क्षणों को भ्रम कैसे मान लूं, जहां उसका मौन ही मुखरित होकर सब कुछ कह गया था? आत्मीयता के वे अनकहे क्षण! तो फिर उसने पत्र क्यों नहीं लिखा? क्या कल उसका पत्र आएगा? क्या आज भी उसे वही हिचक रोके हुए है?

तभी सामने की घड़ी टन्-टन् करके नौ बजाती है। मैं उसे देखती हूं। यह संजय की लाई हुई है। लगता है, जैसे यह घड़ी घंटे सुना-सुनाकर मुझे संजय की याद दिला रही है। फहराते ये हरे पर्दे, यह हरी बुक-रैक, यह टेबल, यह फूलदान, सभी तो संजय के ही लाए हुए हैं। मेज़ पर रखा यह पेन उसने मुझे साल-गिरह पर लाकर दिया था।

अपनी चेतना के इन बिखरे सूत्रों को समेटकर मैं फिर पढ़ने का प्रयास करती हूं, पर पढ़ नहीं पाती। हारकर मैं पलंग पर लेट जाती हूं।

सामने के फूलदान का सूनापन मेरे मन के सूनेपन को और अधिक बढ़ा देता है। मैं कसकर आंखें मूंद लेती हूं। एक बार फिर मेरी आंखों के आगे लेक का स्वच्छ, नीला जल उभर आता है, जिसमें छोटी-छोटी लहरें उठ रही थीं। उस जल की ओर देखते हुए निशीथ की आकृति उभरकर आती है। वह लाख जल की ओर देखे; पर चेहरे पर अंकित उसके मन की हलचल को मैं आज भी, इतनी दूर रहकर भी महसूस करती हूं। कुछ न कह पाने की मजबूरी, उसकी विवशता, उसकी घुटन आज भी मेरे सामने साकार हो उठती है। धीरे-धीरे लेक के पानी का विस्तार सिमटता जाता है, और एक छोटी-सी राइटिंग टेबल में बदल जाता है, और मैं देखती हूं कि एक हाथ में पेन लिए और दूसरे हाथ की उंगलियों को बालों में उलझाए निशीथ बैठा है...वही मजबूरी, वही विवशता, वही घुटन लिए। वह चाहता है; पर जैसे लिख नहीं पाता। वह कोशिश करता है, पर उसका हाथ बस कांपकर रह जाता है। ओह! लगता है, उसकी घुटन मेरा दम घोंटकर रख देगी। मैं एकाएक ही आंखें खोल देती हूं। वही फूलदान, पर्दे, मेज़, घड़ी...!

आखिर आज निशीथ का पत्र आ गया। धड़कते दिल से मैंने उसे खोला। इतना छोटा-सा पत्र!

प्रिय दीपा,
तुम अच्छी तरह पहुंच गई, यह जानकर प्रसन्नता हुई।
तुम्हें अपनी नियुक्ति का तार तो मिल ही गया होगा। मैंने कल ही इराजी को फोन करके सूचना दे दी थी, और उन्होंने

बताया था कि तार दे देंगी। ऑफिस की ओर से भी सूचना मिल जाएगी।
इस सफलता के लिए मेरी ओर से हार्दिक बधाई स्वीकार करना। सच, मैं बहुत खुश हूं कि तुम्हें यह काम मिल गया! मेहनत सफल हो गई। शेष फिर।
शुभेच्छु,
निशीथ

बस? धीरे-धीरे पत्र के सारे शब्द आंखों के आगे लुप्त हो जाते हैं, रह जाता है केवल, "शेष फिर!"

तो अभी उसके पास 'कुछ' लिखने को शेष है? क्यों नहीं लिख दिया उसने अभी? क्या लिखेगा वह?
"दीप!"

मैं मुड़कर दरवाज़े की ओर देखती हूं। रजनीगन्धा के ढेर सारे फूल लिए मुस्कुराता-सा संजय खड़ा है। एक क्षण मैं संज्ञा-शून्य-सी उसे इस तरह देखती हूं, मानो पहचानने की कोशिश कर रही हूं। वह आगे बढ़ता है, तो मेरी खोई हुई चेतना लौटती है, और विक्षिप्त-सी दौड़कर उससे लिपट जाती हूं।
"क्या हो गया है तुम्हें, पागल हो गई हो क्या?"
"तुम कहां चले गए थे संजय?" और मेरा स्वर टूट जाता है। अनायास ही आंखों से आंसू बह चलते हैं।
"क्या हो गया? कलकत्ता का काम नहीं मिला क्या? मारो भी गोली काम को। तुम इतनी परेशान क्यों हो रही हो उसके लिए?"

पर मुझसे कुछ नहीं बोला जाता। बस, मेरी बांहों की जकड़ कसती जाती है, कसती जाती है। रजनीगन्धा की महक धीरे-धीरे मेरे तन-मन पर छा जाती है। तभी मैं अपने भाल पर संजय के अधरों का स्पर्श महसूस करती हूं, और मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, वह सब झूठ था, मिथ्या था, भ्रम था...।

और हम दोनों एक-दूसरे के आलिंगन में बंधे रहते हैं- चुम्बित, प्रति-चुम्बित!

## राजा निरबंसिया कमलेश्वर

"एक राजा निरबंसिया थे," मां कहानी सुनाया करती थीं। उनके आसपास ही चार-पांच बच्चे अपनी मुट्ठियों में फूल दबाए कहानी समाप्त होने पर गौरों पर चढ़ाने के लिए उत्सुक-से बैठ जाते थे। आटे का सुन्दर-सा चौक पुरा होता, उसी चौक पर मिट्टी की छः गौरें रखी जातीं, जिनमें से ऊपरवाली के बिन्दिया और सिन्दूर लगता, बाकी पांचों नीचे दबी पूजा ग्रहण करती रहतीं। एक ओर दीपक की बाती स्थिर-सी जलती रहती और मंगल-घट रखा रहता, जिस पर रोली से सथिया बनाया जाता। सभी बैठे बच्चों के मुख पर फूल चढ़ाने की उतावली की जगह कहानी सुनने की सहज स्थिरता उभर आती।

"एक राजा निरबंसिया थे," मां सुनाया करती थीं, "उनके राज में बड़ी खुशहाली थी। सब वरण के लोग अपना-अपना काम-काज देखते थे। कोई दुखी नहीं दिखाई पड़ता था। राजा के एक लक्ष्मी-सी रानी थी, चंद्रमा-सी सुन्दर और...और राजा को बहुत प्यारी। राजा राज-काज देखते और सुख-से रानी के महल में रहते..."

मेरे सामने मेरे ख्यालों का राजा था, राजा जगपती! तब जगपती से मेरी दांतकाटी दोस्ती थी, दोनों मिडिल स्कूल में पढ़ने जाते। दोनों एक-से घर के थे, इसलिए बराबरी की निभती थी। मैं मैट्रिक पास करके एक स्कूल में नौकर हो गया और जगपती कस्बे के ही वकील के यहां मुहर्रिर। जिस साल जगपती मुहर्रिर हुआ, उसी वर्ष पास के गांव में उसकी शादी हुई, पर ऐसी हुई कि लोगों ने तमाशा बना देना चाहा। लड़कीवालों का कुछ विश्वास था कि शादी के बाद लड़की की विदा नहीं होगी।

ब्याह हो जाएगा और सातवीं भांवर तब पड़ेगी, जब पहली विदा की सायत होगी और तभी लड़की अपनी ससुराल जाएगी। जगपती की पत्नी थोड़ी-बहुत पढ़ी-लिखी थी, पर घर की लीक को कौन मेटे! बारात बिना बहू के वापस आ गई और लड़केवालों ने तय कर लिया कि अब जगपती की शादी कहीं और कर दी जाएगी, चाहें कानी-लूली से हो, पर वह लड़की अब घर में नहीं आएगी। लेकिन साल खतम होते-होते सब ठीक-ठाक हो गया। लड़कीवालों ने माफी मांग ली और जगपती की पत्नी अपनी ससुराल आ गई।

जगपती को जैसे सब कुछ मिल गया और सास ने बहू की बलाइयां लेकर घर की सब चाबियां सौंप दीं, गृहस्थी का ढंग-बार समझा दिया। जगपती की मां न जाने कब से आस लगाए बैठीं थीं। उन्होंने आराम की सांस ली। पूजा-पाठ में समय कटने लगा, दोपहरियां दूसरे घरों के आंगन में बीतने लगीं। पर सांस का रोग था उन्हें, सो एक दिन उन्होंने अपनी अन्तिम घड़ियां गिनते हुए चन्दा को पास बुलाकर समझाया था – "बेटा, जगपती बड़े लाड़-प्यार का पला है। जब से तुम्हारे ससुर नहीं रहे तब से इसके छोटे-छोटे हठ को पूरा करती रही हूं...अब तुम ध्यान रखना।" फिर रूककर उन्होंने कहा था, "जगपती किसी लायक हुआ है, तो रिश्तेदारों की आंखों में करकने लगा है। तुम्हारे बाप ने ब्याह के वक्त नादानी की, जो तुम्हें विदा नहीं किया। मेरे दुश्मन देवर-जेठों को मौका मिल गया। तूमार खड़ा कर दिया कि अब विदा करवाना नाक कटवाना है।...जगपती का ब्याह क्या हुआ, उन लोगों की छाती पर सांप लोट गया। सोचा, घर की इज्जत रखने की आड़ लेकर रंग में भंग कर दें। ...अब बेटा, इस घर की लाज तुम्हारी लाज है। आज को तुम्हारे ससुर होते, तो भला...." कहते कहते मां की आंखों में आंसू आ गए, और वे जगपती की देखभाल उसे सौंपकर सदा के लिए मौन हो गई थीं।

एक अरमान उनके साथ ही चला गया कि जगपती की सन्तान को, चार बरस इन्तज़ार करने के बाद भी वे गोद में न खिला पाई। और चन्दा ने मन में सब्र कर लिया था, यही सोचकर कि कुल-देवता का अंश तो उसे जीवन-भर पूजने को मिल गया था। घर में चारों तरफ जैसे उदारता बिखरी रहती, अपनापा बरसता रहता। उसे लगता, जैसे घर की अंधेरी, एकान्त कोठरियों में यह शान्त शीतलता है जो उसे भरमा लेती है। घर की सब कुण्डियों की खनक उसके कानों में बस गई थी, हर दरवाजे की चरमराहट पहचान बन गई थीं।

"एक रोज राजा आखेट को गए," मां सुनाती थीं, "राजा आखेट को जाते थे, तो सातवें रोज़ जरूर महल में लौट आते थे। पर उस दफा जब गए, तो सातवां दिन निकल गया, पर राजा नहीं लौटे। रानी को बड़ी चिन्ता हुई। रानी एक मन्त्री को साथ लेकर खोज में निकलीं..."

और इसी बीच जगपती को रिश्तेदारी की एक शादी में जाना पड़ा। उसके दूर रिश्ते के भाई दयाराम की शादी थी। कह गया था कि दसवें दिन जरूर वापस आ जाएगा। पर छठे दिन ही खबर मिली कि बारात घर लौटने पर दयाराम के घर डाका पड़ गया। किसी मुखबिर ने सारी खबरें पहुंचा दी थीं कि लड़कीवालों ने दयाराम का घर सोने-चांदी से पाट दिया है...आखिर पुश्तैनी जमींदार की इकलौती लड़की थी। घर आए मेहमान लगभग विदा हो चुके थे। दूसरे रोज़ जगपती भी चलनेवाला था, पर उसी रात डाका पड़ा। जवान आदमी, भला खून मानता है! डाकेवालों ने जब बन्दूकें चलाई, तो सबकी घिग्घी बंध गई। पर जगपती और दयाराम ने छाती ठोककर लाठियां उठा लीं। घर में कोहराम मच गया।...फिर सन्नाटा छा गया। डाकेवाले बराबर गोलियां दाग रहे थे। बाहर का दरवाजा टूट चुका था। पर जगपती ने हिम्मत बढ़ाते हुए हांक लगाई, "ये हवाई बन्दूकें इन ठेल-पिलाई लाठियों का मुकाबला नहीं कर पाएंगी, जवानो।"

पर दरवाजे तड्–तड् टूटते रहे, और अन्त में एक गोली जगपती की जांघ को पार करती निकल गई, दूसरी उसकी जांघ के ऊपर कूल्हे में समा कर रह गई।

चन्दा रोती–कलपती और मनौतियां मानती जब वहां पहूंची, तो जगपती अस्पताल में था। दयाराम के थोड़ी चोट आई थी। उसे अस्पताल से छुट्टी मिल गई थीं। जगपती की देखभाल के लिए वहीं अस्पताल में मरीजों के रिश्तेदारों के लिए जो कोठरियां बनीं थीं, उन्हीं में चन्दा को रूकना पड़ा। कस्बे के अस्पताल से दयाराम का गांव चार कोस पड़ता था। दूसरे–तीसरे वहां से आदमी आते–जाते रहते, जिस सामान की जरूरत होती, पहुंचा जाते।

पर धीरे–धीरे उन लोगों ने भी खबर लेना छोड़ दिया। एक दिन में ठीक होनेवाला घाव तो था नहीं। जांघ की हड्डी चटख गई थी और कूल्हे में ऑपरेशन से छः इंच गहरा घाव था।

कस्बे का अस्पताल था। कम्पाउण्डर ही मरीजों की देखभाल रखते। बड़ा डॉक्टर तो नाम के लिए था या कस्बे के बड़े आदमियों के लिए। छोटे लोगों के लिए तो कम्पोटर साहब ही ईश्वर के अवतार थे। मरीजों की देखभाल करनेवाले रिश्तेदारों की खाने–पीने की मुश्किलों से लेकर मरीज की नब्ज़ तक संभालते थे। छोटी–सी इमारत में अस्पताल आबाद था। रोगियों को सिर्फ छः–सात खाटें थी। मरीजों के कमरे से लगा दवा बनाने का कमरा था, उसी में एक ओर एक आरामकुर्सी थी और एक नीची–सी मेज। उसी कुर्सी पर बड़ा डॉक्टर आकर कभी–कभार बैठता था, नहीं तो बचनसिंह कपाउण्डर ही जमे रहते। अस्पताल में या तो फौजदारी के शहीद आते या गिर–गिरा के हाथ–पैर तोड़ लेनेवाले एक–आध लोग। छठे–छमासे कोई औरत दिख गई तो दीख गई, जैसे उन्हें कभी रोग घेरता ही नहीं था। कभी कोई बीमार पड़ती तो घरवाले हाल बताके आठ–दस रोज़ की दवा एक साथ ले जाते और फिर उसके जीने–मरने की खबर तक न मिलती।

उस दिन बचनसिंह जगपती के घाव की पट्टी बदलने आया। उसके आने में और पट्टी खोलने में कुछ ऐसी लापरवाही थी, जैसे गलत बंधी पगड़ी को ठीक से बांधने के लिए खोल रहा हो। चन्दा उसकी कुर्सी के पास ही सांस रोके खड़ी थी। वह और रोगियों से बात करता जा रहा था। इधर मिनट–भर को देखता, फिर जैसे अभ्यस्त–से उसके हाथ अपना काम करने लगते। पट्टी एक जगह खून से चिपक गई थी, जगपती बुरी तरह कराह उठा। चन्दा के मुंह से चीख निकल गई। बचनसिंह ने सतर्क होकर देखा तो चन्दा मुख में धोती का पल्ला खोंसे अपनी भयातुर आवाज दबाने की चेष्टा कर रही थी। जगपती एकबारगी मछली–सा तड़पकर रह गया। बचनसिंह की उंगलियां थोड़ी–सी थरथराई कि उसकी बांह पर टप–से चन्दा का आंसू चू पड़ा।

बचनसिंह सिहर–सा गया और उसके हाथों की अभ्यस्त निठुराई को जैसे किसी मानवीय कोमलता ने धीरे–से छू दिया। आहों, कराहों, दर्द–भरी चीखों और चटखते शरीर के जिस वातावरण में रहते हुए भी वह बिल्कुल अलग रहता था, फोड़ों को पके आम–सा दबा देता था, खाल को आलू–सा छील देता था... उसके मन से जिस दर्द का अहसास उठ गया था, वह उसे आज फिर हुआ और वह बच्चे की तरह फूंक–फूंककर पट्टी को नम करके खोलने लगा। चन्दा की ओर धीरे–से निगाह उठाकर देखते हुए फुसफुसाया, "च...च... रोगी की हिम्मत टूट जाती है ऐसे।"

पर जैसे यह कहते–कहते उसका मन खुद अपनी बात से उचंट गया। यह बेपरवाही तो चीख और कराहों की एकरसता से उसे मिली थी, रोगी की हिम्मत बढ़ाने की कर्तव्यनिष्ठा से नहीं। जब तक वह घाव की मरहम–पट्टी करता रहा, तब तक किन्हीं दो आंखों की करूणा उसे घेरे रही।

और हाथ धोते समय वह चन्दा की उन चूड़ियों से भरी कलाइयों को बेझिझक देखता रहा, जो अपनी खुशी उससे मांग रही थीं। चन्दा पानी डालती जा रही थी और बचनसिंह हाथ धोते–धोते उसकी कलाइयों, हथेलियों और पैरों को देखता जा रहा था। दवाखाने की ओर जाते हुए उसने चन्दा को हाथ के इशारे से बुलाकर कहा, "दिल छोटा मत करना... जांघ का घाव तो दस रोज़ में भर जाएगा, कूल्हे का घाव कुछ दिन जरूर लेगा। अच्छी से अच्छी दवाई दूंगा। दवाइयां तो ऐसी हैं कि मुर्दे को चंगा कर दें। पर हमारे अस्पताल में नहीं आतीं, फिर भी..."

"तो किसी दूसरे अस्पताल से नहीं आ सकतीं वो दवाइयां?" चन्दा ने पूछा।
"आ तो सकती हैं, पर मरीज को अपना पैसा खरचना पड़ता है उनमें..."बचनसिंह ने कहा।

चन्दा चुप रह गई तो बचनसिंह के मुंह से अनायास ही निकल पड़ा, "किसी चीज़ की जरूरत हो तो मुझे बताना।...रही दवाइयां, सो कहीं न कहीं से इन्तजाम करके ला दूंगा। महकमे से मंगाएंगे, तो आते-अवाते महीनों लग जाएंगे। शहर के डॉक्टर से मंगवा दूंगा। ताकत की दवाइयों की बड़ी ज़रूरत है उन्हें। अच्छा, देखा जाएगा..." कहते-कहते वह रूक गया।

चन्दा से कृतज्ञता भरी नजरों से उसे देखा और उसे लगा जैसे आंधी में उड़ते पत्ते को कोई अटकाव मिल गया हो। आकर वह जगपती की खाट से लगकर बैठ गई। उसकी हथेली लेकर वह सहलाती रही। नाखूनों को अपने पोरों से दबाती रही।

धीरे-धीरे बाहर अंधेरा बढ़ चला। बचनसिंह तेल की एक लालटेन लाकर मरीज़ों के कमरे के एक कोने में रख गया। चन्दा ने जगपती की कलाई दाबते-दाबते धीरे से कहा, "कम्पाउण्डर साहब कह रहे थे..." और इतना कहकर वह जगपती का ध्यान आकृष्ट करने के लिए चुप हो गई।
"क्या कह रहे थे?" जगपती ने अनमने स्वर में बोला।
"कुछ ताकत की दवाइयां तुम्हारे लिए ज़रूरी हैं!"
"मैं जानता हूं।"
"पर..."
"देखो चन्दा, चादर के बराबर ही पैर फैलाए जा सकते हैं। हमारी औकात इन दवाइयों की नहीं है।
"औकात आदमी की देखी जाती है कि पैसे की, तुम तो..."
"देखा जाएगा।"
"कम्पाउण्डर साहब इन्तजाम कर देंगे, उनसे कहूंगी मैं।"
"नहीं चन्दा, उधारखाते से मेरा इलाज नहीं होगा...चाहे एक के चार दिन लग जाएं।"
"इसमें तो..."
"तुम नहीं जानतीं, कर्ज़ कोढ़ का रोग होता है, एक बार लगने से तन तो गलता ही है, मन भी रोगी हो जाता है।"
"लेकिन..."कहते-कहते वह रूक गई।

जगपती अपनी बात की टेक रखने के लिए दूसरी ओर मुंह घुमाकर लेटा रहा।

और तीसरे रोज़ जगपती के सिरहाने कई ताकत की दवाइयां रखी थीं, और चन्दा की ठहरने वाली कोठरी में उसके लेटने के लिए एक खाट भी पहुंच गई थी। चन्दा जब आई, तो जगपती के चेहरे पर मानसिक पीड़ा की असंख्य रेखाएं उभरी थीं, जैसे वह अपनी बीमारी से लड़ने के अलावा स्वयं अपनी आत्मा से भी लड़ रहा हो...चन्दा की नादानी और स्नेह से भी उलझ रहा हो और सबसे ऊपर सहायता करनेवाले की दया से जूझ रहा हो।

चन्दा ने देखा तो यह सब सह न पाई। उसके जी में आया कि कह दे, क्या आज तक तुमने कभी किसी से उधार पैसे नहीं लिए? पर वह तो खुद तुमने लिए थे और तुम्हें मेरे सामने स्वीकार नहीं करना पड़ा था। इसीलिए लेते झिझक नहीं लगी, पर आज मेरे सामने उसे स्वीकार करते तुम्हारा झूठा पौरूष तिलमिलाकर जाग पड़ा है। पर जगपती के मुख पर बिखरी हुई पीड़ा में जिस आदर्श की गहराई थी, वह चन्दा के मन में चोर की तरह घुस गई, और बड़ी स्वाभाविकता से उसने माथे पर हाथ फेरते हुए कहा, "ये दवाइयां किसी की मेहरबानी नहीं हैं। मैंने हाथ का कड़ा बेचने को दे दिया था, उसी में आई हैं।"
"मुझसे पूछा तक नहीं और..." जगपती ने कहा और जैसे खुद मन की कमजोरी को दाब गया – कड़ा बेचने से तो अच्छा

था कि बचनसिंह की दया ही ओढ़ ली जाती। और उसे हल्का-सा पछतावा भी था कि नाहक वह रौ में बड़ी-बड़ी बातें कह जाता है, ज्ञानियों की तरह सीख दे देता है।

और जब चन्दा अंधेरा होते उठकर अपनी कोठरी में सोने के लिए जाने को हुई, तो कहते-कहते यह बात दबा गई कि बचनसिंह ने उसके लिए एक खाट का इन्तजाम भी कर दिया है। कमरे से निकली, तो सीधी कोठरी में गई और हाथ का कड़ा लेकर सीधे दवाखाने की ओर चली गई, जहां बचनसिंह अकेला डॉक्टर की कुर्सी पर आराम से टांगें फैलाए लैम्प की पीली रोशनी में लेटा था। जगपती का व्यवहार चन्दा को लग गया था, और यह भी कि वह क्यों बचनसिंह का अहसान अभी से लाद ले, पति के लिए जेवर की कितनी औकात है। वह बेधड़क-सी दवाखाने में घुस गई। दिन की पहचान के कारण उसे कमरे की मेज़-कुर्सी और दवाओं की अलमारी की स्थिति का अनुमान था, वैसे कमरा अंधेरा ही पड़ा था, क्योंकि लैम्प की रोशनी केवल अपने वृत्त में अधिक प्रकाशवान होकर कोनों के अंधेरे को और भी घनीभूत कर रही थी। बचनसिंह ने चन्दा को घुसते ही पहचान लिया। वह उठकर खड़ा हो गया। चन्दा ने भीतर कदम तो रख दिया, पर सहसा सहम गई, जैसे वह किसी अंधेरे कुएं में अपने-आप कूद पड़ी हो, ऐसा कुआं, जो निरन्तर पतला होता गया है...और जिसमें पानी की गहराई पाताल की पर्तों तक चली गई हो, जिसमें पड़कर वह नीचे धंसती चली जा रही हो, नीचे...अंधेरा...एकान्त घुटन...पाप!

बचनसिंह अवाक् ताकता रह गया और चन्दा ऐसे वापस लौट पड़ी, जैसे किसी काले पिशाच के पंजों से मुक्ति मिली हो। बचनसिंह के सामने क्षण-भर में सारी परिस्थिति कौंध गई और उसने वहीं से बहुत संयत आवाज़ में ज़बान को दबाते हुए जैसे वायु में स्पष्ट ध्वनित कर दिया - "चन्दा!" वह आवाज़ इतनी बे-आवाज़ थी और निरर्थक होते हुए भी इतनी सार्थक थी कि उस खामोशी में अर्थ भर गया।

चन्दा रूक गई।
बचनसिंह उसके पास जाकर रूक गया।
सामने का घना पेड़ स्तब्ध खड़ा था, उसकी काली परछाई की परिधि जैसे एक बार फैलकर उन्हें अपने वृत्त में समेट लेती और दूसरे ही क्षण मुक्त कर देती। दवाखाने का लैम्प सहसा भभककर रूक गया और मरीज़ों के कमरे से एक कराह की आवाज़ दूर मैदान के छोृ तक जाकर डूब गई।

चन्दा ने वैसे ही नीचे ताकते हुए अपने को संयत करते हुए कहा, "यह कड़ा तुम्हें देने आई थी।"
"तो वापस क्यों चली जा रही थीं?"

चन्दा चुप। और दो क्षण रूककर उसने अपने हाथ का सोने का कड़ा धीरे-से उसकी ओर बढ़ा दिया, जैसे देने का साहस न होते हुए भी यह काम आवश्यक था।

बचनसिंह ने उसकी साारी काया को एक बार देखते हुए अपनी आंखें उसके सिर पर जमा दीं, उसके ऊपर पड़े कपड़े के पार नरम चिकनाई से भरे लम्बे-लम्बे बाल थे, जिनकी भाप-सी महक फैलती जा रही थी। वह धीरे-धीरे से बोला, "लाओ।"
चन्दा ने कड़ा उसकी ओर बढ़ा दिया। कड़ा हाथ में लेकर वह बोला, "सुनो।"
चन्दा ने प्रश्न-भरी नज़रें उसकी ओर उठा दी।

उनमें झांकते हुए, अपने हाथ से उसकी कलाई पकड़ते हुए उसने वह कड़ा उसकी कलाई में पहना दिया। चन्दा चुपचाप कोठरी की ओर चल दी और बचनसिंह दवाखाने की ओर।

कालिख बुरी तरह बढ़ गई थी और सामने खड़े पेड़ की काली परछाई गहरी पड़ गई थी। दोनों लौट गए थे। पर जैसे उस कालिख में कुछ रह गया था, छूट गया था। दवाखाने का लैम्प जो जलते-जलते एक बार भभका था, उसमें तेल न रह

जाने के कारण बत्ती की लौ बीच से फट गई थी, उसके ऊपर धुएं की लकीरें बल खाती, सांप की तरह अंधेरे में विलीन हो जाती थीं।

सुबह जब चन्दा जगपती के पास पहुंची और बिस्तर ठीक करने लगी तो जगपती को लगा कि चन्दा बहुत उदास थी। क्षण-क्षण में चन्दा के मुख पर अनगिनत भाव आ-जा रहे थे, जिनमें असमंजस था, पीड़ा थी और निरीहता थी। कोई अदृश्य पाप कर चुकने के बाद हृदय की गहराई से किए गए पश्चाताप जैसी धूमिल चमक?

"रानी मन्त्री के साथ जब निराश होकर लौटीं, तो देखा, राजा महल में उपस्थित थे। उनकी खुशी का ठिकाना न रहा।" मां सुनाया करती थीं, "पर राजा को रानी का इस तरह मन्त्री के साथ जाना अच्छा नहीं लगा। रानी ने राजा को समझाया कि वह तो केवल राजा के प्रति अटूट प्रेम के कारण अपने को न रोक सकी। राजा-रानी एक-दूसरे को बहुत चाहते थे। दोनों के दिलो में एक बात शूल-सी गड़ती रहती कि उनके कोई सन्तान न थी... राजवंश का दीपक बुझने जा रहा था। सन्तान के अभाव में उनका लोक-परलोक बिगड़ा जा रहा था और कुल की मर्यादा नष्ट होने की शंका बढ़ती जा रही थी।"

दूसरे दिन बचनसिंह ने मरीजों की मरहम-पट्टी करते वक्त बताया था कि उसका तबादला मैनपुरी के सदर अस्पताल में हो गया है और वह परसों यहां से चला जाएगा। जगपती ने सुना, तो उसे भला ही लगा। आए दिन रोग घेरे रहते हैं, बचनसिंह उसके शहर के अस्पताल में पहुंचा जा रहा है, तो कुछ मदद मिलती ही रहेगी। आखिर वह ठीक तो होगा ही और फिर मैनपुरी के सिवा कहां जाएगा? पर दूसरे ही क्षण उसका दिल अकथ भारीपन से भर गया। पता नहीं क्यों, चन्दा के अस्तित्व का ध्यान आते ही उसे इस सूचना में कुछ ऐसे नुकीले कांटे दिखाई देने लगे, जो उसके शरीर में किसी भी समय चुभ सकते थे, जरा-सा बेखबर होने पर बींध सकते थे। और तब उसके सामने आदमी के अधिकार की लक्ष्मण-रेखाएं धुएं की लकीर की तरह कांपकर मिटने लगीं और मन में छुपे सन्देह के राक्षस बाना बदल योगी के रूप में घूमने लगे।

और पन्द्रह-बीस रोज़ बाद जब जगपती की हालत सुधर गई, तो चन्दा उसे लेकर घर लौट आई। जगपती चलने-फिरने लायक हो गया था। घर का ताला जब खोला, तब रात झुक आई थी। और फिर उनकी गली में तो शाम से ही अंधेरा झरना शुरू हो जाता था। पर गली में आते ही उन्हें लगा, जैसे कि वनवास काटकर राजधानी लौटे हों। नुक्कड़ पर ही जमुना सुनार की कोठरी में सुरही फिंक रही थी, जिसके दराज़दार दरवाजों से लालटेन की रोशनी की लकीर झांक रही थी और कच्ची तम्बाकू का धुंआ रूंधी गली के मुहाने पर बुरी तरह भर गया था। सामने ही मुंशीजी अपनी जिंगला खटिया के गड्ढ़े में, कुप्पी के मद्धिम प्रकाश में खसरा-खतौनी बिछाए मीज़ान लगाने में मशगूल थे। जब जगपती के घर का दरवाजा खड़का, तो अंधेरे में उसकी चाची ने अपने जंगले से देखा और वहीं से बैठे-बैठे अपने घर के भीतर ऐलान कर दिया - "राजा निरबंसिया अस्पताल से लौट आए... कुलमा भी आई हैं।"

ये शब्द सुनकर घर के अंधेरे बरोठे में घुसते ही जगपती हांफकर बैठ गया, झुंझलाकर चन्दा से बोला, "अंधेरे में क्या मेरे हाथ-पैर तुड़वाओगी? भीतर जाकर लालटेन जला लाओ न।"
"तेल नहीं होगा, इस वक्त ज़रा ऐसे ही काम..."
"तुम्हारे कभी कुछ नहीं होगा... न तेल न..." कहते-कहते जगपती एकदम चुप रह गया। और चन्दा को लगा कि आज पहली बार जगपती ने उसके व्यर्थ मातृत्व पर इतनी गहरी चोट कर दी, जिसकी गहराई की उसने कभी कल्पना नहीं की थी। दोनों खामोश, बिना एक बात किए अन्दर चले गए।

रात के बढ़ते सन्नाटे में दोनों के सामने दो बातें थीं...
जगपती के कानों में जैसे कोई व्यंग्य से कह रहा था - राजा निरबंसिया अस्पताल से आ गए!
और चन्दा के दिल में यह बात चुभ रही थी - तुम्हारे कभी कुछ नहीं होगा...

और सिसकती–सिसकती चन्दा न जाने कब सो गई। पर जगपती की आंखों में नींद न आई। खाट पर पड़े–पड़े उसके चारों ओर एक मोहक, भयावना–सा जाल फैल गया। लेटे–लेटे उसे लगा, जैसे उसका स्वयं का आकार बहुत क्षीण होता–होता बिन्दु–सा रह गया, पर बिन्दु के हाथ थे, पैर थे और दिल की धड़कन भी। कोठरी का घुटा–घुटा–सा अंधियारा, मटमैली दीवारें और गहन गुफाओं–सी अलमारियां, जिनमें से बार–बार झांककर देखता था...और वह सिहए उठता था...फिर जैसे सब कुछ तब्दील हो गया हो। उसे लगा कि उसका आकार बढ़ता जा रहा है, बढ़ता जा रहा है। वह मनुष्य हुआ, लम्बा–तगड़ा–तन्दुरूस्त पुरूष हुआ, उसकी शिराओं में कुछ फूट पड़ने के लिए व्याकुलता से खौल उठा। उसके हाथ शरीर के अनुपात से बहुत बड़े, डरावने और भयानक हो गए, उनके लम्बे–लम्बे नाखून निकल आए...वह राक्षस हुआ, दैत्य हुआ...आदिम बर्बर!

और बड़ी तेज़ी से सारा कमरा एकबारगी चक्कर काट गया। फिर सब धीरे–धीरे स्थिर होने लगा और उसकी सांसें ठीक होती जान पड़ीं। फिर जैसे बहुत कोशिश करने पर घिग्घी बंध जाने के बाद उसकी आवाज़ फूटी, "चन्दा!"

चन्दा की नरम सांसों की हल्की सरसराहट कमरे में जान डालने लगी। जगपती अपनी पाटी का सहारा लेकर झुका। कांपते पैर उसने ज़मीन पर रखे और चन्दा की खाट के पाए से सिर टिकाकर बैठ गया। उसे लगा, जैसे चन्दा की इन सांसों की आवाज़ में जीवन का संगीत गूंज रहा है। वह उठा और चन्दा के मुख पर झुक गया। उस अंधेरे में आंखें गड़ाए–गड़ाए जैसे बहुत देर बाद स्वयं चन्दा के मुख पर आभा फूटकर अपने–आप बिखरने लगी। उसके नक्श उज्ज्वल हो उठे और जगपती की आंखों को ज्योति मिल गई। वह मुग्ध–सा ताकता रहा।

चन्दा के बिखरे बाल, जिनमें हाल के जन्मे बच्चे के गभुआरे बालों की–सी महक...दूध की कचाइंध...शरीर के रस की–सी मिठास और स्नेह–सी चिकनाहट और वह माथा जिस पर बालों के पास तमाम छोटे–छोटे, नरम–नरम–नरम–से रोएं...रेशम से...और उस पर कभी लगाई गई सेंदुर की बिन्दी का हल्का मिटा हुआ–सा आभास...नन्हें–नन्हें निर्द्वन्द्व सोए पलक! और उनकी मासूम–सी कांटों की तरह बरौनियां और सांस में घुलकर आती हुई वह आत्मा की निष्कपट आवाज़ की लय...फूल की पंखुरी–से पतले–पतले ओंठ, उन पर पड़ी अछूती रेखाएं, जिनमें सिर्फ दूध–सी महक!

उसकी आंखों के सामने ममता–सी छा गई, केवल ममता, और उसके मुख से अस्फुट शब्द निकल गया, "बच्ची!"

डरते–डरते उसके बालों की एक लट को बड़े जतन से उसने हथेली पर रखा और उंगली से उस पर जैसे लकीरें खींचने लगा। उसे लगा, जैसे कोई शिशु उसके अंक में आने के लिए छटपटाकर, निराश होकर सो गया हो। उसने दोनों हथेलियों को पसारकर उसके सिर को अपनी सीमा में भर लेना चाहा कि कोई कठोर चीज उसकी उंगलियों से टकराई।

वह जैसे होश में आया।
बड़े सहारे से उसने चन्दा के सिर के नीचे टटोला। एक रूमाल में बंधा कुछ उसके हाथ में आ गया। अपने को संयत करता वह वहीं ज़मीन पर बैठ गया, उसी अन्धेरे में उस रूमाल को खोला, तो जैसे सांप सूंघ गया, चन्दा के हाथों के दोनों सोने के कड़े उसमें लिपटे थे!

और तब उसके सामने सब सृष्टि धीरे–धीरे टुकड़े–टुकड़े होकर बिखरने लगी। ये कड़े तो चन्दा बेचकर उसका इलाज कर रही थी। वे सब दवाइयां और ताकत के टॉनिक...उसने तो कहा था, ये दवाइयां किसी की मेहरबानी नहीं हैं, मैंने हाथ के कड़े बेचने को दे दिए थे...पर...उसका गला बुरी तरह सूख गया। जबान जैसे तालु से चिपककर रह गई। उसने चाहा कि चन्दा को झकाझोरकर उठाए, पर शरीर की शक्ति बह–सी गई थी, रक्त पानी हो गया था।

थोड़ा संयत हुआ, उसने वे कड़े उसी रूमाल में लपेटकर उसकी खाट के कोने पर रख दिए और बड़ी मुश्किल से अपनी खाट की पाटी पकड़कर लुढ़क गया।

चन्दा झूठ बोली! पर क्यों? कड़े आज तक छुपाए रही। उसने इतना बड़ा दुराव क्यों किया? आखिर क्यों? किसलिए? और जगपती का दिल भारी हो गया। उसे फिर लगा कि उसका शरीर सिमटता जा रहा है और वह एक सींक का बना ढांचा रह गया... नितान्त हल्का, तिनके-सा, हवा में उड़कर भटकने वाले तिनके-सा।

उस रात के बाद रोज जगपती सोचता रहा कि चन्दा से कड़े मांगकर बेच ले और कोई छोटा-मोटा कारोबार ही शुरू कर दे, क्योंकि नौकरी छूट चुकी थी। इतने दिन की गैरहाजिरी के बाद वकील साहब ने दूसरा मुहर्रिर रख लिया था। वह रोज़ यही सोचता पर जब चन्दा सामने आती, तो न जाने कैसी असहाय-सी उसकी अवस्था हो जाती। उसे लगता, जैसे कड़े मांगकर वह चन्दा से पत्नीत्व का पद भी छीन लेगा। मातृत्व तो भगवान ने छीन ही लिया... वह सोचता आखिर चन्दा क्या रह जाएगी? एक स्त्री से यदि पत्नीत्व और मातृत्व छीन लिया गया, तो उसके जीवन की सार्थकता ही क्या? चन्दा के साथ वह यह अन्याय कैसे करे? उससे दूसरी आंख की रोशनी कैसे मांग ले? फिर तो वह नितान्त अन्धी हो जाएगी और उन कड़ों की मांगने के पीछे जिस इतिहास की आत्मा नंगी हो जाएगी, कैसे वह उस लज्जा को स्वयं ही उधारकर ढांपेगा?

और वह उन्हीं ख़यालों में डूबा सुबह से शाम तक इधर-उधर काम की टोह में घूमता रहता। किसी से उधार ले ले? पर किस सम्पत्ति पर? क्या है उसके पास, जिसके आधार पर कोई उसे कुछ देगा? और मुहल्ले के लोग... जो एक-एक पाई पर जान देते हैं, कोई चीज़ खरीदते वक्त भाव में एक पैसा कम मिलने पर मीलों पैदल जाकर एक पैसा बचाते हैं, एक-एक पैसे की मसाले की पुड़िया बंधवाकर ग्यारह मर्तबा पैसों का हिसाब जोड़कर एकाध पैसा उधारकर, मिन्नतें करते सौदा घर लाते हैं; गली में कोई खोंचेवाला फंस गया, तो दो पैसे की चीज़ को लड़-झगड़कर – चार दाने ज़्यादा पाने की नीयत से – दो जगह बंधवाते हैं। भाव के ज़रा-से फर्क पर घण्टों बहस करते हैं, शाम को सड़ी-गली तरकारियों को किफायत के कारण लाते हैं, ऐसे लोगों से किस मुंह से मांगकर वह उनकी गरीबी के अहसास पर ठोकर लगाए!

पर उस दिन शाम को जब वह घर पहुंचा, तो बरोठे में ही एक साइकिल रखी नज़र आई। दिमाग पर बहुत ज़ोर डालने के बाद भी वह आगन्तुक की कल्पना न कर पाया। भीतरवाले दरवाज़े पर जब पहुंचा, तो सहसा हंसी की आवाज़ सुनकर ठिठक गया। उस हंसी में एक अजीब-सा उन्माद था। और उसके बाद चन्दा का स्वर –
"अब आते ही होंगे, बैठिए न दो मिनट और!... अपनी आंख से देख लीजिए और उन्हें समझाते जाइए कि अभी तन्दुरूस्ती इस लायक नहीं, जो दिन-दिन-भर घूमना बर्दाश्त कर सकें।"
"हां... भई, कमजोरी इतनी जल्दी नहीं मिट सकती, खयाल नहीं करेंगे तो नुकसान उठाएंगे!" कोई पुरूष-स्वर था यह।

जगपती असमंजस में पड़ गया। वह एकदम भीतर घुस जाए? इसमें क्या हर्ज है? पर जब उसने पैर उठाए, तो वे बाहर जा रहे थे। बाहर बरोठे में साइकिल को पकड़ते ही उसे सूझ आई, वहीं से जैसे अनजान बनता बड़े प्रयत्न से आवाज़ को खोलता चिल्लाया, "अरे चन्दा! यह साइकिल किसकी है? कौन मेहरबान..."
चन्दा उसकी आवाज सुनकर कमरे से बाहर निकलकर जैसे खुश-खबरी सुना रही थी, "अपने कम्पाउण्डर साहब आए हैं। खोजते-खोजते आज घर का पता पाए हैं, तुम्हारे इन्तज़ार में बैठे हैं।"
"कौन बचनसिंह? अच्छा... अच्छा। वही तो मैं कहूं, भला कौन..." कहता जगपती पास पहुंचा, और बातों में इस तरह उलझ गया, जैसे सारी परिस्थिति उसने स्वीकार कर ली हो।

बचनसिंह जब फिर आने की बात कहकर चला गया, तो चन्दा ने बहुत अपनेपन से जगपती के सामने बात शुरू की,
"जाने कैसे-कैसे आदमी होते हैं..."
"क्यों, क्या हुआ? कैसे होते हैं आदमी?" जगपती ने पूछा।
"इतनी छोटी जान-पहचान में तुम मर्दों के घर में न रहते घुसकर बैठ सकते हो? तुम तो उल्टे पैरों लौट आओगे।" चन्दा कहकर जगपती के मुख पर कुछ इच्छित प्रतिक्रिया देख सकने के लिए गहरी निगाहों से ताकने लगी।

जगपती ने चन्दा की ओर ऐसे देखा, जैसे यह बात भी कहने की या पूछने की है! फिर बोला, "बचनसिंह अपनी तरह का आदमी है, अपनी तरह का अकेला... ।

"होगा...पर" कहते-कहते चन्दा रूक गई।
"आड़े वक्त काम आने वाला आदमी है, लेकिन उससे फायदा उठा सकना जितना आसान है...उतना...मेरा मतलब है कि...जिससे कुछ लिया जाएगा, उसे दिया भी जाएगा।" जगपती ने आंखें दीवार पर गड़ाते हुए कहा।
और चन्दा उठकर चली गई।

उस दिन के बाद बचनसिंह लगभग रोज़ ही आने-जाने लगा। जगपती उसके साथ इधर-उधर घूमता भी रहता। बचनसिंह के साथ वह जब तक रहता, अजीब-सी घुटन उसके दिल को बांध लेती, और तभी जीवन की तमाम विषमताएं भी उसकी निगाहों के सामने उभरने लगतीं, आखिर वह स्वयं एक आदमी है...बेकार...यह माना कि उसके सामने पेट पालने की कोई इतनी विकराल समस्या नहीं, वह भूखों नहीं मर रहा है, जाड़े में कांप नहीं रहा है, पर उसके दो हाथ-पैर हैं...शरीर का पिंजरा है, जो कुछ मांगता है...कुछ! और वह सोचता, यह कुछ क्या है? सुख? शायद हां, शायद नहीं। वह तो दुःख में भी जी सकने का आदी है, अभावों में जीवित रह सकने वाला आश्चर्यजनक कीड़ा है। तो फिर...वासना? शायद हां, शायद नहीं। चन्दा का शरीर लेकर उसने उस क्षणिकता को भी देखा है। तो फिर धन...शायद हां, शायद नहीं। उसने धन के लिए अपने को खपाया है। पर वह भी तो उस अदृश्य प्यास को बुझा नहीं पाया। तो फिर?...तो फिर क्या? वह कुछ क्या है, जो उसकी आत्मा में नासूर-सा रिसता रहता है, अपना उपचार मांगता है? शायद काम! हां, यही, बिल्कुल यही, जो उसके जीवन की घड़ियों को निपट सूना न छोड़े, जिसमें वह अपनी शक्ति लगा सके, अपना मन डुबो सके, अपने को सार्थक अनुभव कर सके, चाहे उसमें सुख हो या दुख, अरक्षा हो या सुरक्षा, शोषण हो या पोषण...उसे सिर्फ काम चाहिए! करने के लिए कुछ चाहिए। यही तो उसकी प्रकृत आवश्यकता है, पहली और आखिरी मांग है, क्योंकि वह उस घर में नहीं पैदा हुआ, जहां सिर्फ जबान हिलाकर शासन करनेवाले होते हैं। वह उस घर में भी नहीं पैदा हुआ, जहां सिर्फ मांगकर जीनेवाले होते हैं। वह उस घर का है, जो सिर्फ काम करना जानता है, काम ही जिसकी आस है। सिर्फ वह काम चाहता है, काम।

और एक दिन उसकी काम-धाम की समस्या भी हल हो गई। तालाब वाले ऊंचे मैदान के दक्षिण ओर जगपती की लकड़ी की टाल खुल गई। तक टंग गया। टाल की जमीन पर लक्ष्मी-पूजन भी हो गया और हवन भी हुआ। लकड़ी को कोई कमी नहीं थी। गांव से आनेवाली गाड़ियों को, इस कारोबार में पैरे हुए आदमियों की मदद से मोल-तोल करवा के वहां गिरवा दिया गया। गांठें एक ओर रखी गईं, चैलों का चट्टा करीने से लग गया और गुद्दे चीरने के लिए डाल दिए गए। दो-तीन गाड़ियों का सौदा करके टाल चालू कर दी गई। भविष्य में स्वयं पेड़ खरीदकर कटाने का तय किया गया। बड़ी-बड़ी स्कीमें बनीं कि किस तरह जलाने की लकड़ी से बढ़ाते-बढ़ाते एक दिन इमारती लकड़ी की कोठी बनेगी। चीरने की नई मशीन लगेगी। कारबार बढ़ जाने पर बचनसिंह भी नौकरी छोड़कर उसी में लग जाएगा। और उसने महसूस किया कि वह काम में लग गया है, अब चौबीसों घण्टे उसके सामने काम है...उसके समय का उपयोग है। दिन-भर में वह एक घण्टे के लिए किसी का मित्र हो सकता है, कुछ देर के लिए वह पति हो सकता है, पर बाकी समय? दिन और रात के बाकी घण्टे...उन घण्टों के अभाव को सिर्फ उसका अपना काम ही भर सकता है...और अब वह कामदार था...

वह कामदार तो था, लेकिन जब टाल की उस ऊंची ज़मीन पर पड़े छप्पर के नीचे तखत पर वह गल्ला रखकर बैठता, सामने लगे लकड़ियों के ढेर, कटे हुए पेड़ के तने, जड़ों को लुढ़का हुआ देखता, तो एक निरीहता बरबस उसके दिल को बांधने लगती। उसे लगता, एक व्यर्थ पिशाच का शरीर टुकड़े-टुकड़े करके उसके सामने डाल दिया गया है।...फिर इन पर कुल्हाड़ी चलेगी और इनके रेशे-रेशे अलग हो जाएंगे और तब इनकी ठठरियों को सुखाकर किसी पैसेवाले के हाथ तक पर तौलकर बेच दिया जाएगा।

और तब उसकी निगाहें सामने खड़े ताड़ पर अटक जातीं, जिसके बड़े-बड़े पत्तों पर सुर्ख गर्दनवाले गिद्ध पर फड़फड़ाकर देर तक खामोश बैठे रहते। ताड़ का काला गड़रेदार तना...और उसके सामने ठहरी हुई वायु में निस्सहाय कांपती, भारहीन नीम की पत्तियां चकराती झड़ती रहतीं...धूल-भरी धरती पर लकड़ी की गाड़ियोंके पहियों की पड़ी हुई लीक धुंधली-सी चमक उठती और बगलवाले मूंगफल्ली के पेंच की एकरस खरखराती आवाज़ कानों में भरने लगती। बगलवाली कच्ची

पगडण्डी से कोई गुजरकर, टीले के ढलान से तालाब की नीचाई में उतर जाता, जिसके गंदले पानी में कूड़ा तैरता रहता और सूअर कीचड़ में मुंह डालकर उस कूड़े को रौंदते...

दोपहर सिमटती और शाम की धुन्ध छाने लगती, तो वह लालटेन जलाकर छप्पर के खम्भे की कील में टांग देता और उसके थोड़ी ही देर बाद अस्पतालवाली सड़क से बचनसिंह एक काले धब्बे की तरह आता दिखाई पड़ता।

गहरे पड़ते अन्धेरे में उसका आकार धीरे-धीरे बढ़ता जाता और जगपती के सामने जब वह आकर खड़ा होता, तो वह उसे बहुत विशाल-सा लगने लगता, जिसके सामने उसे अपना अस्तित्व डूबता महसूस होता।

एक-आध बिक्री की बातें होतीं और तब दोनों घर की ओर चल देते। घर पहुंचकर बचनसिंह कुछ देर ज़रूर रूकता, बैठता, इधर-उधर की बातें करता। कभी मौका पड़ जाता, तो जगपती और बचनसिंह की थाली भी साथ लग जाती। चन्दा सामने बैठकर दोनों को खिलाती।

बचनसिंह बोलता जाता, "क्या तरकारी बनी है। मसाला ऐसा पड़ा है कि उसकी भी बहार है और तरकारी का स्वाद भी न मरा। होटलों में या तो मसाला ही मसाला रहेगा या सिर्फ तरकारी ही तरकारी। वाह! वाह! क्या बात है अन्दाज की!" और चन्दा बीच-बीच में टोककर बोलती जाती, "इन्हें तो जब तक दाल में प्याज का भुना घी न मिले, तब तक पेट ही नहीं भरता।"
या – "सिरका अगर इन्हें मिल जाए, तो समझो, सब कुछ मिल गया। पहले मुझे सिरका न जाने कैसा लगता था, पर अब ऐसा ज़बान पर चढ़ा है कि..."
या – "इन्हें कागज़-सी पतली रोटी पसन्द ही नहीं आती। अब मुझसे कोई पतली रोटी बनाने को कहे, तो बनती ही नहीं, आदत पड़ गई है, और फिर मन ही नहीं करता..."

पर चन्दा की आंखें बचनसिंह की थाली पर ही जमीं रहतीं। रोटी निबटी, तो रोटी परोस दी, दाल खत्म नहीं हुई, तो भी एक चमचा और परोस दी।

और जगपती सिर झुकाए खाता रहता। सिर्फ एक गिलास पानी मांगता और चन्दा चौंककर पानी देने से पहले कहती, "अरे तुमने तो कुछ लिया भी नहीं!" कहते-कहते वह पानी दे देती और तब उसके दिल पर गहरी-सी चोट लगती, न जाने क्यों वह खामोशी की चोट उसे बड़ी पीड़ा दे जाती...पर वह अपने को समझा लेती, कोई मेहमान तो नहीं हैं...मांग सकते थे। भूख नहीं होगी।

जगपती खाना खाकर टाल पर लेटने चला जाता, क्योंकि अभी तक कोई चौकीदार नहीं मिला था। छप्पर के नीचे तख्त पर जब वह लेटता, तो अनायास ही उसका दिल भर-भर आता। पता नहीं कौन-कोन से दर्द एक-दूसरे से मिलकर तरह-तरह की टीस, चटख और ऐंठन पैदा करने लगते। कोई एक रग दुखती तो वह सहलाता भी, जब सभी नसें चटखती हों तो कहां-कहां राहत का अकेला हाथ सहलाए!

लेटे-लेटे उसकी निगाह ताड़ के उस ओर बनी पुख्ता कब्र पर जम जाती, जिसके सिराहने कंटीला बबूल का एकाकी पेड़ सुन्न-सा खड़ा रहता। जिस कब्र पर एक पर्दानशीन औरत बड़े लिहाज़ से आकर सवेरे-सवेरे बेला और चमेली के फूल चढ़ा जाती...घूम-घूमकर उसके फेरे लेती और माथा टेककर कुछ कदम उदास-उदास-सी चलकर एकदम तेज़ी से मुड़कर बिसातियों के मुहल्ले में खो जाती। शाम होते फिर आती। एक दीया बारती और अगर की बत्तियां जलाती, फिर मुड़ते हुए ओढ़नी का पल्ला कन्धों पर डालती, तो दीये की लौ कांपती, कभी कांपकर बुझ जाती, पर उसके कदम बढ़ चुके होते, पहले धीमे, थके, उदास-से और फिर तेज़ सधे सामान्य-से। और वह फिर उसी मुहल्ले में खो जाती और तब रात की तनहाइयों में...बबूल के कांटों के बीच, उस सांय-सांय करते ऊंचे-नीचे मैदान में जैसे उस कब्र से कोई रूह निकलकर निपट अकेली भटकती रहती।

तभी ताड़ पर बैठे सुर्ख गर्दनवाले गिद्ध मनहूस-सी आवाज़ में किलबिला उठते और ताड़ के पत्ते भयानकता से खड़बड़ा उठते। जगपती का बदन कांप जाता और वह भटकती रूह ज़िन्दा रह सकने के लिए जैसे कब्र की इंटों में, बबूल के साया-तले दुबक जाती। जगपती अपनी टांगों को पेट से भींचकर, कम्बल से मुंह छुपा औंधा लेट जाता।

तड़के ही ठेके पर लगे लकड़हारे लकड़ी चीरने आ जाते। तब जगपती कम्बल लपेट, घर की ओर चला जाता...

"राजा रोज़ सवेरे टहलने जाते थे," मां सुनाया करती थीं, "एक दिन जैसे ही महल के बाहर निकलकर आए कि सड़क पर झाडू लगानेवाली मेहतरानी उन्हें देखते ही अपना झाड़ूपंजा पटककर माथा पीटने लगी और कहने लगी, "हाय राम! आज राजा निरबंसिया का मुंह देखा है, न जाने रोटी भी नसीब होगी कि नहीं... न जाने कौन-सी विपत टूट पड़े!" राजा को इतना दुःख हुआ कि उल्टे पैरों महल को लौट गए। मन्त्री को हुक्म दिया कि उस मेहतरानी का घर नाज से भर दें। और सब राजसी वस्त्र उतार, राजा उसी क्षण जंगल की ओर चले गए। उसी रात रानी को सपना हुआ कि कल की रात तेरी मनोकामना पूरी करनेवाली है। रानी बहुत पछता रही थी। पर फौरन ही रानी राजा को खोजती-खोजती उस सराय में पहुंच गई, जहां वह टिके हुए थे। रानी भेस बदलकर सेवा करने वाली भटियारिन बनकर राजा के पास रात में पहुंची। रातभर उनके साथ रही और सुबह राजा के जगने से पहले सराय छोड़ महल में लौट गई। राजा सुबह उठकर दूसरे देश की ओर चले गए। दो ही दिनों में राजा के निकल जाने की खबर राज-भर में फैल गई, राजा निकल गए, चारों तरफ यही खबर थी..."

और उस दिन टोले-मुहल्ले के हर आंगन में बरसात के मेह की तरह यह खबर बरसकर फैल गई कि चन्दा के बाल-बच्चा होने वाला है।

नुक्कड़ पर जमुना सुनार की कोठरी में फिंकती सुरही रूक गई। मुंशीजी ने अपना मीजान लगाना छोड़ विस्फारित नेत्रों से ताककर खबर सुनी। बंसी किरानेवाले ने कुएं में से आधी गई रस्सीं खींच, डोल मन पर पटककर सुना। सुदर्शन दर्जी ने मशीन के पहिए को हथेली से रगड़कर रोककर सुना। हंसराज पंजाबी ने अपनी नील-लगी मलगुजी कमीज की आस्तीनें चढ़ाते हुए सुना। और जगपती की बेवा चाची ने औरतों के जमघट में बड़े विश्वास, पर भेद-भरे स्वर में सुनाया - "आज छः साल हो गए शादी को... न बाल, न बच्चा... न जाने किसका पाप है उसके पेट में।... और किसका होगा सिवा उस मुसटण्डे कम्पोटर के! न जाने कहां से कुलच्छनी इस मुहल्ले में आ गई!... इस गली की तो पुश्तों से ऐसी मरजाद रही है कि गैर-मर्द औरत की परछाई तब नहीं देख पाए। यहां के मर्द तो बस अपने घर की औरतों को जानते हैं, उन्हें तो पड़ोसी के घर की जनानियों की गिनती तक नहीं मालूम।" यह कहते-कहते उनका चेहरा तमतमा आया और सब औरतें देवलोक की देवियां की तरह गम्भीर बनीं, अपनी पवित्रता की महानता के बोझ से दबी धीरे-धीरे खिसक गई।

सुबह यह खबर फैलने से पहले जगपती टाल पर चला गया था। पर सुनी उसने भी आज ही थी। दिन-भर वह तख्त पर कोने की ओर मुंह किए पड़ा रहा। न ठेके की लकड़ियां चिराई, न बिक्री की ओर ध्यान दिया, न दोपहर का खाना खाने ही घर गया। जब रात अच्छी तरह फैल गई, वह हिंसक पशु की भांति उठा। उसने अपनी अंगुलियां चटकाई, मुट्ठी बांधकर बांह का ज़ोर देखा, तो नसें तनीं और बाह में कठोर कम्पन-सा हुआ। उसने तीन-चार पूरी सांसें खींचीं और मज़बूत कदमों से घर की ओर चल पड़ा। मैदान खत्म हुआ... कंकड़ की सड़क आई... सड़क खत्म हुई, गली आई। पर गली के अन्धेरे में घुसते वह सहम गया, जैसे किसी ने अदृश्य हाथों से उसे पकड़कर सारा रक्त निचोड़ लिया, उसकी फटी हुई शक्ति की नस पर हिम-शीतल होंठ रखकर सारा रस चूस लिया। और गली के अंधेरे की हिकारत-भरी कालिख और भी भारी हो गई, जिसमें घुसने से उसकी सांस रूक जाएगी... घुट जाएगी।

वह पीछे मुड़ा, पर रूक गया। फिर कुछ संयत होकर वह चोरों की तरह निःशब्द कदमों से किसी तरह घर की भीतरी देहरी तक पहुंच गया।

दाईं ओर की रसोईवाली दहलीज में कुप्पी टिमटिमा रही थीं और चन्दा अस्त-व्यस्त-सी दीवार से सिर टेके शायद आसमान निहारते-निहारते सो गई थी। कुप्पी का प्रकाश उसके आधे चेहरे को उजागर किए था और आधा चेहरा गहन कालिमा में डूबा अदृश्य था।

वह खामोशी से खड़ा ताकता रहा। चन्दा के चेहरे पर नारीत्व की प्रौढ़ता आज उसे दिखाई दी। चेहरे की सारी कमनीयता न जाने कहां खो गई थी, उसका अछूतापन न जाने कहां लुप्त हो गया था। फूला-फूला मुख। जैसे टहनी से तोड़े फूल को पानी में डालकर ताज़ा किया गया हो, जिसकी पंखुरियों में टूटन की सुरमई रेखाएं पड़ गई हों, पर भीगने से भारीपन आ गया हो।

उसके खुले पैर पर उसकी निगाह पड़ी, तो सूजा-सा लगा। एड़ियां भरी, सूजी-सी और नाखूनों के पास अजब-सा सूखापन। जगपती का दिल एक बार मसोस उठा। उसने चाहा कि बढ़कर उसे उठा ले। अपने हाथों से उसका पूरा शरीर छू-छूकर सारा कलुष पोंछ दे, उसे अपनी सांसों की अग्नि में तपाकर एक बार फिर पवित्र कर ले, और उसकी आंखों की गहराई में झांककर कहे- देवलोक से किस शापवश निर्वासित हो तुम इधर आ गई, चन्दा? यह शाप तो अमिट था।

तभी चन्दा ने हड़बड़ाकर आंखें खोलीं। जगपती को सामने देख उसे लगा कि वह एकदम नंगी हो गई हो। अतिशय लज्जित हो उसने अपने पैर समेट लिए। घुटनों से धोती नीचे सरकाई और बहुत संयत-सी उठकर रसोई के अंधेरे में खो गई।

जगपती एकदम हताश हो, वहीं कमरे की देहरी पर चौखट से सिर टिका बैठ गया। नज़र कमरे में गई, तो लगा कि पराए स्वर यहां गूंज रहे हैं, जिनमें चन्दा का भी एक है। एक तरफ घर के हर कोने से, अन्धेरा सैलाब की तरह बढ़ता आ रहा था...एक अजीब निस्तब्धता...असमंजस। गति, पर पथभ्रष्ट! शक्लें, पर आकारहीन।

"खाना खा लेते," चन्दा का स्वर कानों में पड़ा। वह अनजाने ऐसे उठ बैठा, जैसे तैयार बैठा हो। उसकी बात की आज तक उसने अवज्ञा न की थी। खाने तो बैठ गया, पर कौर नीचे नहीं सरक रहा था। तभी चन्दा ने बड़े सधे शब्दों में कहा, "कल मैं गांव जाना चाहती हूं।"
जैसे वह इस सूचना से परिचित था, बोला, "अच्छा।"
चन्दा फिर बोली, "मैंने बहुत पहले घर चिट्ठी डाल दी थी, भैया कल लेने आ रहे हैं।"
"तो ठीक है।" जगपती वैसे ही डूबा-डूबा बोला।

चन्दा का बांध टूट गया और वह वहीं घुटनों में मुंह दबाकर कातर-सी फफक-फफककर रो पड़ी। न उठ सकी, न हिल सकी।

जगपती क्षण-भर को विचलित हुआ, पर जैसे जम जाने के लिए। उसके ओठ फड़के और क्रोध के ज्वालामुखी को जबरन दबाते हुए भी वह फूट पड़ा, "यह सब मुझे क्या दिखा रही है? बेशर्म! बेगैरत...! उस वक्त नहीं सोचा था, जब...जब...मेरी लाश तले..."
"तब...तब...की बात झूठ है...", सिसकियों के बीच चन्दा का स्वर फूटा, "लेकिन जब तुमने मुझे बेच दिया..."

एक भरपूर हाथ चन्दा की कनपटी पर आग सुलगाता पड़ा। और जगपती अपनी हथेली दूसरी से दाबता, खाना छोड़ कोठरी में घुस गया और रात-भर कुण्डी चढाए उसी कालिख में घुटता रहा।

दूसरे दिन चन्दा घर छोड़ अपने गांव चली गई।

जगपती पूरा दिन और रात टाल पर ही काट देता, उसी बीराने में, तालाब के बगल, कब्र, बबूल और ताड़ के पड़ोस में। पर मन मुर्दा हो गया था। ज़बरदस्ती वह अपने को वहीं रोके रहता।...उसका दिल होता, कहीं निकल जाए। पर ऐसी कमज़ोरी उसके तन और मन को खोखला कर गई थी कि चाहने पर भी वह जा न पाता। हिकारत-भरी नज़रें सहता, पर वहीं पड़ा रहता। काफी दिनों बाद जब नहीं रह गया, तो एक दिन जगपती घर पर ताला लगा, नजदीक के गांव में लकड़ी कटाने चला गया। उसे लग रहा था कि अब वह पंगु हो गया है, बिलकुल लंगड़ा, एक रेंगता कीड़ा, जिसके न आंख है, न कान, न मन, न इच्छा।

वह उस बाग में पहुंच गया, जहां खरीदे पेड़ कटने थे। दो आरेवालों ने पतले पेड़ के तने पर आरा रखा और कर्र-कर्र का अबाध शोर शुरू हो गया। दूसरे पेड़ पर बन्ने और शकूरे की कुल्हाड़ी बज उठी। और गांव से दूर उस बाग में एक लयपूर्ण शोर शुरू हो गया। जड़ पर कुल्हाड़ी पड़ती तो पूरा पेड़ थर्रा जाता।

करीब के खेत की मेड़ पर बैठे जगपती का शरीर भी जैसे कांप-कांप उठता। चन्दा ने कहा था, "लेकिन जब तुमने मुझे बेच दिया..." क्या वह ठीक कहती थी! क्या बचनसिंह ने टाल के लिए जो रूपए दिए थे, उसका ब्याज इधर चुकता हुआ? क्या सिर्फ वही रूपए आग बन गए, जिसकी आंच में उसकी सहनशीलता, विश्वास और आदर्श मोम-से पिघल गए?

"श...कूरे!" बाग से लगे दड़े पर से किसी ने आवाज़ लगाई। शकूरे ने कुल्हाड़ी रोककर वहीं से हांक लगाई, "कोने के खेत से लीक बनी है, ज़रा मेड़ मारकर नंघा ला गाड़ी।"

जगपती का ध्यान भंग हुआ। उसने मुड़कर दड़े पर आंखें गड़ाईं। दो भैंसा-गाड़ियां लकड़ी भरने के लिए आ पहुंची थीं। शकूरे ने जगपती के पास आकर कहा, "एक गाड़ी का भर्त तो हो गया, बल्कि डेढ़ का...अब इस पतरिया पेड़ को न छांट दें?"

जगपती ने उस पेड़ की ओर देखा, जिसे काटने के लिए शकूरे ने इशारा किया था। पेड़ की शाख हरी पत्तियों से भरी थी। वह बोला, "अरे, यह तो हरा है अभी...इसे छोड़ दो।"
"हरा होने से क्या, उखट तो गया है। न फूल का, न फल का। अब कौन इसमें फल-फूल आएंगे, चार दिन में पत्ती झुरा जाएंगी।" शकूरे ने पेड़ की ओर देखते हुए उस्तादी अन्दाज़ से कहा।
"जैसा ठीक समझो तुम," जगपती ने कहा, और उठकर मेड़-मेड़ पक्के कुएं पर पानी पीने चला गया।

दोपहर ढलते गाड़ियां भरकर तैयार हुईं और शहर की ओर रवाना हो गईं। जगपती को उनके साथ आना पड़ा। गाड़ियां लकड़ी से लदीं शहर की ओर चली जा रही थीं और जगपती गर्दन झुकाए कच्ची सड़क की धूल में डूबा, भारी कदमों से धीरे-धीरे उन्हीं की बजती घण्टियों के साथ निर्जीव-सा बढ़ता जा रहा था...

"कई बरस बाद राजा परदेस से बहुत-सा धन कमाकर गाड़ी में लादकर अपने देश की ओर लौटे, "मां सुनाया करती थीं," राजा की गाड़ी का पहिया महल से कुछ दूर पतेल की झाड़ी में उलझ गया। हर तरह कोशिश की, पर पहिया न निकला। तब एक पण्डित ने बताया कि 'सकट' के दिन का जन्मा बालक अगर अपने घर की सुपारी लाकर इसमें छुआ दे, तो पहिया निकल जाएगा। वहीं दो बालक खेल रहे थे। उन्होंने यह सुना तो कूदकर पहुंचे और कहने लगे कि हमारी पैदाइश सकट की है, पर सुपारी तब लाएंगे, जब तुम आधा धन देने का वादा करो। राजा ने बात मान ली। बालक दौड़े-दौड़े घर गए। सुपारी लाकर छुआ दी, फिर घर का रास्ता बताते आगे-आगे चले। आखिर गाड़ी महल के सामने उन्होंने रोक ली।

राजा को बड़ा अचरज़ हुआ कि हमारे ही महल में ये दो बालक कहां से आ गए? भीतर पहुंचे, तो रानी खुशी से बेहाल हो गई।

"पर राजा ने पहले उन बालकों के बारे में पूछा, तो रानी ने कहा कि ये दोनों बालक उन्हीं के राजकुमार हैं। राजा को विश्वास नहीं हुआ। रानी बहुत दुखी हुई।"

गाड़ियां जब टाल पर आकर लगीं और जगपती तखत पर हाथ-पैर ढीले करके बैठ गया, तो पगडण्डी से गुजरते मुंशीजी ने उसके पास आकर बताया, अभी उस दिन वसूली में तुम्हारी ससुराल के नज़दीक एक गांव में जाना हुआ, तो पता लगा कि पन्द्रह-बीस दिन हुए, चन्दा के लड़का हुआ है।" और फिर जैसे मुहल्ले में सुनी-सुनाई बातों पर पर्दा डालते हुए बोले, "भगवान के राज में देर है, अंधेर नहीं, जगपती भैया!"

जगपती ने सुना तो पहले उसने गहरी नज़रों से मुंशीजी को ताका, पर वह उनके तीर का निशाना ठीक-ठीक नहीं खोज पाया। पर सब कुछ सहन करते हुए बोला, "देर और अंधेर दोनों हैं!"
"अंधेर तो सरासर है...तिरिया चरित्तर है सब! बड़े-बड़े हार गए हैं," कहते-कहते मुंशीजी रूक गए, पर कुछ इस तरह, जैसे कोई बड़ी भेद-भरी बात है, जिसे उनकी गोल होती हुई आंखें समझा देंगी।

जगपती मुंशीजी की तरफ ताकता रह गया। मिनट-भर मनहूस-सा मौन छाया रहा, उसे तोड़ते हुए मुंशीजी बड़ी दर्द-भरी आवाज़ में बोले, "सुन तो लिया होगा, तुमने?"
"क्या?" कहने को जगपती कह गया, पर उसे लगा कि अभी मुंशीजी उस गांव में फैली बातों को ही बड़ी बेदर्दी से कह डालेंगे, उसने नाहक पूछा।

तभी मुंशीजी ने उसकी नाक के पास मुंह ले जाते हुए कहा, "चन्दा दूसरे के घर बैठ रही है...कोई मदसूदन है वहीं का। पर बच्चा दीवार बन गया है। चाहते तो वो यही हैं कि मर जाए तो रास्ता खुले, पर रामजी की मर्ज़ी। सुना है, बच्चा रहते भी वह चन्दा को बैठाने को तैयार है।"

जगपती की सांस गले में अटककर रह गई। बस, आंखें मुंशीजी के चेहरे पर पथराई-सी जड़ी थीं।
मुंशीजी बोले, "अदालत से बच्चा तुम्हें मिल सकता है। अब काहे का शरम-लिहाज!"
"अपना कहकर किस मुंह से मांगूं, बाबा? हर तरफ तो कर्ज़ से दबा हूं, तन से, मन से, पैसे से, इज्जत से, किसके बल पर दुनिया संजोने की कोशिश करूं?" कहते-कहते वह अपने में खो गया।

मुंशीजी वहीं बैठ गए। जब रात झुक आई तो जगपती के साथ ही मुंशीजी भी उठे। उसके कन्धे पर हाथ रखे वे उसे गली तक लाए। अपनी कोठरी आने पर पीठ सहलाकर उन्होंने उसे छोड़ दिया। वह गर्दन झुकाए गली के अंधेरे में उन्हीं ख्यालों में डूबा ऐसे चलता चला आया, जैसे कुछ हुआ ही न हो। पर कुछ ऐसा बोझ था, जो न सोचने देता था और न समझने। जब चाची की बैठक के पास से गुज़रने लगा, तो सहसा उसके कानों में भनक पड़ी - "आ गए सत्यानासी! कुलबोरन!"

उसने ज़रा नज़र उठाकर देखा, तो गली की चाची-भौजाइयां बैठक में जमा थीं और चन्दा की चर्चा छिड़ी थी। पर वह चुपचाप निकल गया।

इतने दिनों बाद ताला खोला और बरोठे के अंधेरे में कुछ सूझ न पड़ा, तो एकाएक वह रात उसकी आंखों के सामने घूम गई, जब वह अस्पताल से चन्दा के साथ लौटा था। बेवा चाची का वह ज़हर-बुझ तीर, "आ गए राजा निरबंसिया अस्पताल से।" और आज "सत्यानासी! कुलबोरन!" और स्वयं उसका वह वाक्य, जो चन्दा को छेद गया था, "तुम्हारे कभी कुछ न होगा...।" और उस रात की शिशु चन्दा!

चन्दा का लड़का हुआ है। वह कुछ और जनती, आदमी का बच्चा न जनती। वह और कुछ भी जनती, कंकड़-पत्थर! वह नारी न बनती, बच्ची ही बनी रहती, उस रात का शिशु चन्दा। पर चन्दा यह सब क्या करने जा रही है? उसके जीते-

जी वह दूसरे के घर बैठने जा रही है? कितने बड़े पाप में धकेल दिया चन्दा को...पर उसे भी तो कुछ सोचना चाहिए। आखिर क्या? पर मेरे जीते-जी तो यह सब अच्छा नहीं। वह इतनी घृणा बर्दाश्त करके भी जीने को तैयार है, या मुझे जलाने को। वह मुझे नीच समझती है, कायर...नहीं तो एक बार खबर तो लेती। बच्चा हुआ तो पता लगता। पर नहीं, वह उसका कौन है? कोई भी नहीं। औलाद ही तो वह स्नेह की धुरी है, जो आदमी-औरत के पहियों को साधकर तन के दलदल से पार ले जाती है...नहीं तो हर औरत वेश्या है और हर आदमी वासना का कीड़ा। तो क्या चन्दा...औरत नहीं रही? वह जरूर औरत थी, पर स्वयं मैंने उसे नरक में डाल दिया। वह बच्चा मेरा कोई नहीं, पर चन्दा तो मेरी है। एक बार उसे ले आता, फिर यहां...रात के मोहक अंधेरे में उसके फूल-से अधरों को देखता...निर्द्वन्द्व सोए पलकों को निहारता ...सासों की दूध-सी अछूती महक को समेट लेता...

आज का अंधेरा! घर में तेल भी नहीं जो दीया जला ले। और फिर किसके लिए कौन जलाए? चन्दा के लिए...पर उसे तो बेच दिया था। सिवा चन्दा के कौन-सी सम्पत्ति उसके पास थी, जिसके आधार पर कोई कर्ज़ देता? कर्ज़ न मिलता तो यह सब कैसे चलता? काम...पेड़ कहां से कटते? और तब शकूरे के वे शब्द उसके कानों में गूंज गए, "हरा होने से क्या, उखट तो गया है..." वह स्वयं भी तो एक उखटा हुआ पेड़ है, न फल का, न फूल का, सब व्यर्थ ही तो है। जो कुछ सोचा, उस पर कभी विश्वास न कर पाया। चन्दा को चाहता रहा, पर उसके दिल में चाहत न जगा पाया। उसे कहीं से एक पैसा मांगने पर डांटता रहा, पर खुद लेता रहा और आज...वह दूसरे के घर बैठ रही है...उसे छोड़कर...वह अकेला है,...हर तरफ बोझ है, जिसमें उसकी नस-नस कुचली जा रही हैं, रग-रग फट गई है। और वह किसी तरह टटोल-टटोलकर भीतर घर में पहुंचा...

"रानी अपने कुल-देवता के मन्दिर में पहुंचीं," मां सुनाया करती थीं, "अपने सतीत्व को सिद्ध करने के लिए उन्होंने घोर तपस्या की। राजा देखते रहे। कुल-देवता प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी दैवी शक्ति से दोनों बालकों को तत्काल जन्मे शिशुओं में बदल दिया। रानी की छातियों में दूध भर आया और उनमें से धार फूट पड़ी, जो शिशुओं के मुंह में गिरने लगी। राजा को रानी के सतीत्व का सबूत मिल गया। उन्होंने रानी के चरण पकड़ लिए और कहा कि तुम देवी हो! ये मेरे पुत्र हैं! और उस दिन से राजा ने फिर से राज-काज संभाल लिया..."

पर उसी रात जगपती अपना सारा कारोबार त्याग, अफीम और तेल पीकर मर गया क्योंकि चन्दा के पास कोई दैवी शक्ति नहीं थी और जगपती राजा नहीं, बचनसिंह कम्पाउण्डर का कर्ज़दार था।...

"राजा ने दो बातें कीं," मां सुनाती थीं, "एक तो रानी के नाम से उन्होंने बहुत बड़ा मन्दिर बनवाया और दूसरे, राज के नए सिक्कों पर बड़े राजकुमार का नाम खुदवाकर चालू किया, जिससे राज-भर में अपने उत्तराधिकारी की खबर हो जाए..."

जगपती ने मरते वक्त दो परचे छोड़े, एक चन्दा के नाम, दूसरा कानून के नाम।
चन्दा को उसने लिखा था, "चन्दा, मेरी अन्तिम चाह यही है कि तुम बच्चे को लेकर चली आना...अभी एक-दो दिन मेरी लाश की दुर्गति होगी, तब तक तुम आ सकोगी। चन्दा, आदमी को पाप नहीं, पश्चाताप मारता है, मैं बहुत पहले मर चुका था। बच्चे को लेकर ज़रूर चली आना।"
कानून को उसने लिखा था, "किसी ने मुझे मारा नहीं है...किसी आदमी ने नहीं। मैं जानता हूं कि मेरे ज़हर की पहचान करने के लिए मेरा सीना चीरा जाएगा। उसमें ज़हर है। मैंने अफीम नहीं, रूपए खाए हैं। उन रूपयों में कर्ज़ का ज़हर था, उसी ने मुझे मारा है। मेरी लाश तब तक न जलाई जाए, जब तक चन्दा बच्चे को लेकर न आ जाए। आग बच्चे से दिलवाई जाए। बस।"

मां जब कहानी समाप्त करती थीं, तो आसपास बैठे बच्चे फूल चढ़ाते थे।
मेरी कहानी भी खत्म हो गई, पर...

# राजा हरदौल प्रेमचंद

बुंदेलखंड में ओरछा पुराना राज्य है। इसके राजा बुंदेले हैं। इन बुंदेलों ने पहाड़ों की घाटियों में अपना जीवन बिताया है।

एक समय ओरछे के राजा जुझारसिंह थे। ये बड़े साहसी और बुद्धिमान थे। शाहजहां उस समय दिल्ली के बादशाह थे। जब शाहजहां लोदी ने बलवा किया और वह शाही मुल्क को लूटता-पाटता ओरछे की ओर आ निकला, तब राजा जुझारसिंह ने उससे मोरचा लिया। राजा के इस काम से गुणग्राही शाहजहां बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तुरंत ही राजा को दक्खिन का शासन-भार सौंपा। उस दिन ओरछे में बड़ा आनंद मनाया गया। शाही दूत खिलअत और सनद ले कर राजा के पास आया। जुझारसिंह को बड़े-बड़े काम करने का अवसर मिला।

सफ़र की तैयारियां होने लगीं, तब राजा ने अपने छोटे भाई हरदौलसिंह को बुला कर कहा,
"भैया, मैं तो जाता हूं। अब यह राज-पाट तुम्हारे सुपुर्द है। तुम भी इसे जी से प्यार करना! न्याय ही राजा का सबसे बड़ा सहायक है। न्याय की गढ़ी में कोई शत्रु नहीं घुस सकता, चाहे वह रावण की सेना या इंद्र का बल लेकर आए, पर न्याय वही सच्चा है, जिसे प्रजा भी न्याय समझे। तुम्हारा काम केवल न्याय ही करना न होगा, बल्कि प्रजा को अपने न्याय का विश्वास भी दिलाना होगा और मैं तुम्हें क्या समझाऊं, तुम स्वयं समझदार हो।"

यह कह कर उन्होंने अपनी पगड़ी उतारी और हरदौलसिंह के सिर पर रख दीं। हरदौल रोता हुआ उनके पैरों से लिपट गया। इसके बाद राजा अपनी रानी से विदा होने के लिए रनिवास आए। रानी दरवाज़े पर खड़ी रो रही थी। उन्हें देखते ही पैरों पर पड़ी। जुझारसिंह ने उठा कर उसे छाती से लगाया और कहा, "प्यारी, यह रोने का समय नहीं है। बुंदेलों की स्त्रियां ऐसे अवसर पर रोया नहीं करतीं। ईश्वर ने चाहा, तो हम-तुम जल्द मिलेंगे। मुझ पर ऐसी ही प्रीति रखना। मैंने राज-पाट हरदौल को सौंपा है, वह अभी लड़का है। उसने अभी दुनिया नहीं देखी है। अपनी सलाहों से उसकी मदद करती रहना।"

रानी की ज़बान बंद हो गई। वह अपने मन में कहने लगी, "हाय यह कहते हैं, बुंदेलों की स्त्रियां ऐसे अवसरों पर रोया नहीं करतीं। शायद उनके हृदय नहीं होता, या अगर होता है तो उसमें प्रेम नहीं होता!" रानी कलेजे पर पत्थर रख कर आंसू पी गई और हाथ जोड़ कर राजा की ओर मुस्कराती हुई देखने लगी; पर क्या वह मुस्कराहट थी। जिस तरह अंधेरे मैदान में मशाल की रोशनी अंधेरे को और भी अथाह कर देती है, उसी तरह रानी की मुस्कराहट उसके मन के अथाह दुःख को और भी प्रकट कर रही थी।

जुझारसिंह के चले जाने के बाद हरदौलसिंह राज करने लगा। थोड़े ही दिनों में उसके न्याय और प्रजावात्सल्य ने प्रजा का मन हर लिया। लोग जुझारसिंह को भूल गए। जुझारसिंह के शत्रु भी थे और मित्र भी; पर हरदौलसिंह का कोई शत्रु न था, सब मित्र ही थे। वह ऐसा हंसमुख और मधुरभाषी था कि उससे जो बातें कर लेता, वही जीवन भर उसका भक्त बना रहता। राज भर में ऐसा कोई न था जो उसके पास तक न पहुंच सकता हो। रात-दिन उसके दरबार का फाटक सबके लिए खुला रहता था। ओरछे को कभी ऐसा सर्वप्रिय राजा नसीब न हुआ था। वह उदार था, न्यासी था, विद्या और गुण का ग्राहक था; पर सबसे बड़ा गुण जो उसमें था, वह उसकी वीरता थी। उसका वह गुण हद दर्जे को पहुंच गया था। जिस जाति के जीवन का अवलंब तलवार पर है, वह अपने राजा के किसी गुण पर इतना नहीं रीझती जितना उसकी वीरता पर। हरदौल अपने गुणों से अपनी प्रजा के मन का भी राजा हो गया, जो मुल्क और माल पर राज करने से भी

कठिन है। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। उधर दक्खिन में जुझारसिंह ने अपने प्रबंध से चारों ओर शाही दबदबा जमा दिया, इधर ओरछे में हरदौल ने प्रजा पर मोहन-मंत्र फूंक दिया।

••

फाल्गुन का महीना था, अबीर और गुलाल से ज़मीन लाल हो रही थी। कामदेव का प्रभाव लोगों को भड़का रहा था। रबी ने खेतों में सुनहला फ़र्श बिछा रखा था और खलिहानों में सुनहले महल उठा दिए थे। संतोष इस सुनहले फ़र्श पर इठलाता फिरता था और निश्चिंतता उस सुनहले महल में ताने आलाप रही थी। इन्हीं दिनों दिल्ली का नामवर फेकैती कादिरखां ओरछे आया। बड़े-बड़े पहलवान उसका लोहा मान गए थे। दिल्ली से ओरछे तक सैंकड़ों मर्दानगी के मद से मतवाले उसके सामने आए; पर कोई उससे जीत न सका। उससे लड़ना भाग्य से नहीं, बल्कि मौत से लड़ना था। वह किसी इनाम का भूखा न था। जैसा ही दिल का दलेर था, वैसा ही मन का राजा था। ठीक होली के दिन उसने धूम-धाम से ओरछे में सूचना दी कि "खुदा का शेर दिल्ली का कादिरखां ओरछे आ पहुंचा है। जिसे अपनी जान भारी हो, आ कर अपने भाग्य का निपटारा कर ले।" ओरछे के बड़े-बड़े बुंदेले सूरमा वह घमंड-भरी वाणी सुन कर गरम हो उठे। फाग और डफ की तान के बदले ढोल की वीर-ध्वनि सुनाई देने लगी। हरदौल का अखाड़ा ओरछे के पहलवानों और फेकैतों का सबसे बड़ा अड्डा था। संध्या को यहां सारे शहर के सूरमा जमा हुए। कालदेव और भालदेव बुंदेलों की नाक थे, सैंकड़ों मैदान मारे हुए। ये ही दोनों पहलवान कादिरखां का घमंड चूर करने के लिए गए।

दूसरे दिन किले के सामने तालाब के किनारे बड़े मैदान में ओरछे के छोटे-बड़े सभी जमा हुए। कैसे-कैसे सजीले, अलबेले जवान थे, सिर पर खुशरंग बांकी पगड़ी, माथे पर चंदन का तिलक, आंखों में मर्दानगी का सरूर, कमर में तलवार। और कैसे-कैसे बूढ़े थे, तनी हुई मूंछें, सादी पर तिरछी पगड़ी, कानों में बंधी हुई दाढ़ियां, देखने में तो बूढ़े, पर काम में जवान, किसी को कुछ न समझने वाले। उनकी मर्दाना चाल-ढाल नौजवानों को लजाती थी। हर एक के मुंह से वीरता की बातें निकल रही थीं। नौजवान कहते थे, "देखें आज ओरछे की लाज रहती है या नहीं। पर बूढ़े कहते- ओरछे की हार कभी नहीं हुई, न होगी। वीरों का यह जोश देख कर राजा हरदौल ने बड़े ज़ोर से कह दिया, "खबरदार, बुंदेलों की लाज रहे या न रहे; पर उनकी प्रतिष्ठा में बल न पड़ने पाए- यदि किसी ने औरों को यह कहने का अवसर दिया कि ओरछे वाले तलवार से न जीत सके तो धांधली कर बैठे, वह अपने को जाति का शत्रु समझे।"

सूर्य निकल आया था। एकाएक नगाड़े पर चोट पड़ी और आशा तथा भय ने लोगों के मन को उछाल कर मुंह तक पहुंचा दिया। कालदेव और कादिर खां दोनों लंगोट कसे शेरों की तरह अखाड़े में उतरे और गले मिल गए। तब दोनों तरफ़ से तलवारें निकलीं और दोनों के बगलों में चली गईं। फिर बादल के दो टुकड़ों से बिजलियां निकलने लगीं। पूरे तीन घंटे तक यही मालूम होता रहा कि दो अंगारे हैं। हज़ारों आदमी खड़े तमाशा देख रहे थे और मैदान में आधी रात का-सा सन्नाटा छाया था। हां, जब कभी कालदेव गिरहदार हाथ चलाता या कोई पेंचदार वार बचा जाता, तो लोगों की गर्दन आप ही आप उठ जाती; पर किसी के मुंह से एक शब्द भी नहीं निकलता था। अखाड़े के अंदर तलवारों की खींचतान थी; पर देखनेवालों के लिए अखाड़े से बाहर मैदान में इससे भी बढ़ कर तमाशा था। बार-बार जातीय प्रतिष्ठा के विचार से मन के भावों को रोकना और प्रसन्नता या दुःख का शब्द मुंह से बाहर न निकलने देना तलवारों के वार बचाने से अधिक कठिन काम था। एकाएक कादिर खां 'अल्लाहो-अकबर' चिल्लाया, मानो बादल गरज उठा और उसके गरजते ही कालदेव के सिर पर बिजली गिर पड़ी।

कालदेव के गिरते ही बुंदेलों को सब्र न रहा। हर एक के चेहरे पर निर्बल क्रोध और कुचले हुए घमंड की तस्वीर खिंच गई। हज़ारों आदमी जोश में आ कर अखाड़े पर दौड़े, पर हरदौल ने कहा, "खबरदार! अब कोई आगे न बढ़े।" इस आवाज़ ने पैरों के साथ जंजीर का काम किया। दर्शकों को रोक कर जब वे अखाड़े में गए और कालदेव को देखा, तो आंखों में आंसू भर आए। जख्मी शेर ज़मीन पर पड़ा तड़प रहा था। उसके जीवन की तरह उसकी तलवार के दो टुकड़े हो गए थे।

आज का दिन बीता, रात आई; पर बुंदेलों की आंखों में नींद कहां। लोगों ने करवटें बदल कर रात काटी जैसे दुःखित मनुष्य विकलता से सुबह की बाट जोहता है, उसी तरह बुंदेले रह-रह कर आकाश की तरफ़ देखते और उसकी धीमी चाल पर झुंझलाते थे। उनके जातीय घमंड पर गहरा घाव लगा था। दूसरे दिन ज्यों ही सूर्य निकला, तीन लाख बुंदेले तालाब के किनारे पहुंचे। जिस समय भालदेव शेर की तरह अखाड़े की तरफ़ चला, दिलों में धड़कन-सी होने लगी। कल जब कालदेव अखाड़े में उतरा था, बुंदेलों के हौंसले बढ़े हुए थे; पर आज वह बात न थी। हृदय में आशा की जगह डर घुसा हुआ था। कादिर खां कोई चुटीला वार करता तो लोगों के दिल उछल कर होंठों तक आ जाते। सूर्य सिर पर चढ़ा जाता था और लोगों के दिल बैठ जाते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि भालदेव अपने भाई से फुर्तीला और तेज़ था। उसने कई बार कादिर खां को नीचा दिखलाया; पर दिल्ली का निपुण पहलवान हर बार संभल जाता था। पूरे तीन घंटे तक दोनों बहादुरों में तलवारें चलती रहीं। एकाएक खट्टाके की आवाज़ हुई और भालदेव की तलवार के दो टुकड़े हो गए। राजा हरदौल अखाड़े के सामने खड़े थे। उन्होंने भालदेव की तरफ़ तेज़ी से अपनी तलवार फेंकी। भालदेव तलवार लेने के लिए झुका ही था कि कादिर खां की तलवार उसकी गर्दन पर आ पड़ी। घाव गहरा न था, केवल एक 'चरका' था; पर उसने लड़ाई का फैसला कर दिया।

हताश बुंदेले अपने-अपने घरों को लौटे। यद्यपि भालदेव अब भी लड़ने को तैयार था; पर हरदौल ने समझा कर कहा कि 'भाइयों, हमारी हार उसी समय हो गई जब हमारी तलवार ने जवाब दे दिया। यदि हम कादिर खां की जगह होते तो निहत्थे आदमी पर वार न करते और जब तक हमारे शत्रु के हाथ में तलवार न आ जाती, हम उस पर हाथ न उठाते; पर कादिर खां में यह उदारता कहां? बलवान शत्रु का सामना करने में उदारता को ताक पर रख देना पड़ता है। तो भी हमने दिखा दिया है कि तलवार की लड़ाई में हम उसके बराबर हैं अब हमको यह दिखाना रहा है कि हमारी तलवार में भी वैसा ही जौहर है!" इसी तरह लोगों को तसल्ली दे कर राजा हरदौल रनिवास को गए।

कुलीना ने पूछा, "लाला, आज दंगल का क्या रंग रहा?"
हरदौल ने सिर झुका कर जवाब दिया, "आज भी वही कल का-सा हाल रहा।"
कुलीना- क्या भालदेव मारा गया?
हरदौल - नहीं, जान से तो नहीं पर हार हो गई।
कुलीना - तो अब क्या करना होगा?
हरदौल - मैं स्वयं इसी सोच में हूं। आज तक ओरछे को कभी नीचा न देखना पड़ा था। हमारे पास धन न था, पर अपनी वीरता के सामने हम राज और धन कोई चीज़ न समझते थे। अब हम किस मुंह से अपनी वीरता का घमंड करेंगे? ओरछे की और बुंदेलों की लाज अब जाती है।
कुलीना - क्या अब कोई आस नहीं है?
हरदौल - हमारे पहलवानों में वैसा कोई नहीं है जो उससे बाजी ले जाए। भालदेव की हार ने बुंदेलों की हिम्मत तोड़ दी है। आज सारे शहर में शोक छाया हुआ है। सैंकड़ों घरों में आग नहीं जली। चिराग रोशन नहीं हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज़ जिससे हमारा मान था, अब अंतिम सांस ले रही है। भालदेव हमारा उस्ताद था। उसके हार चुकने के बाद मेरा मैदान में आना धृष्टता है; पर बुंदेलों की साख जाती है, तो मेरा सिर भी उसके साथ जाएगा। कादिर खां बेशक अपने हुनर में एक ही है, पर हमारा भालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि भालदेव के हाथ में होती तो मैदान ज़रूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल एक तलवार है जो कादिर खां की तलवार का मुंह मोड़ सकती है। वह भैया की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अंतिम चेष्टा होगी। यदि इस बार भी हार हुई तो ओरछे का नाम सदैव के लिए डूब जाएगा।

कुलीना सोचने लगी, तलवार इनको दूं या न दूं। राजा रुक गए हैं। उनकी आज्ञा थी कि किसी दूसरे की परछाही भी उस पर न पड़ने पाए। क्या ऐसी दशा में मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन करूं तो वे नाराज़ होंगे? कभी नहीं। जब वे सुनेंगे कि मैंने कैसे कठिन समय में तलवार निकाली है, तो उन्हें सच्ची प्रसन्नता होगी। बुंदेलों की आन किसको इतनी प्यारी नहीं है? उससे ज़्यादा ओरछे की भलाई चाहने वाला कौन होगा? इस समय उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना ही आज्ञा मानना है। यह सोच कर कुलीना ने तलवार हरदौल को दे दी।

सवेरा होते ही यह ख़बर फैल गई कि राजा हरदौल कादिर खां से लड़ने के लिए जा रहे हैं। इतना सुनते ही लोगों में सनसनी-सी फैल गई और चौंक उठे। पागलों की तरह लोग अखाड़े की ओर दौड़े। हर एक आदमी कहता था कि जब तक हम जीते हैं, महाराज को लड़ने नहीं देंगे; पर जब लोग अखाड़े के पास पहुंचे तो देखा कि अखाड़े में बिजलियां-सी चमक रही हैं। बुंदेलों के दिलों पर उस समय जैसी बीत रही थी, उसका अनुमान करना कठिन है। उस समय उस लंबे-चौड़े मैदान में जहां तक निगाह जाती थी, आदमी ही आदमी नज़र आते थे; पर चारों तरफ़ सन्नाटा था। हर एक आंख अखाड़े की तरफ़ लगी हुई थी और हर एक का दिल हरदौल की मंगल-कामना के लिए ईश्वर का प्रार्थी था। कादिर खां का एक-एक वार हज़ारों दिलों के टुकड़े कर देता था और हरदौल की एक-एक काट से मनों में आनंद की लहरें उठती थीं। अखाड़ों में दो पहलवानों का सामना था और अखाड़े के बाहर आशा और निराशा का। आख़िर घड़ियाल ने पहला पहर बजाया और हरदौल की तलवार बिजली बनकर कादिर के सिर पर गिरी। यह देखते ही बुंदेले मारे आनंद के उन्मत्त हो गए। किसी को किसी की सुधि न रही। कोई किसी से गले मिलता, कोई उछलता और कोई छलांगे मारता था। हज़ारों आदमियों पर वीरता का नशा छा गया। तलवारें स्वयं म्यान से निकल पड़ीं, भाले चमकने लगे। जीत की खुशी में सैंकड़ों जानें भेंट हो गईं। पर जब हरदौल अखाड़े से बाहर आए और उन्होंने बुंदेलों की ओर तेज़ निगाहों से देखा तो आन-की-आन में लोग संभल गए। तलवारें म्यान में जा छिपीं। ख़्याल आ गया। यह खुशी क्यों, यह उमंग क्यों और यह पागलपन किसलिए? बुंदेलों के लिए यह कोई नयी बात नहीं हुई। इस विचार ने लोगों का दिल ठंडा कर दिया। हरदौल की इस वीरता ने उसे हर एक बुंदेले के दिल में मान प्रतिष्ठा की ऊंची जगह पर बिठाया, जहां न्याय और उदारता भी उसे न पहुंचा सकती थी। वह पहले ही से सर्वप्रिय था और अब वह अपनी जाति का वीरवर और बुंदेला दिलावरी का सिरमौर बन गया।

राजा जुझारसिंह ने भी दक्षिण में अपनी, योग्यता का परिचय दिया। वे केवल लड़ाई में ही वीर न थे, बल्कि राज्य-शासन में भी अद्वितीय थे। उन्होंने अपने सुप्रबंध से दक्षिण प्रांतों का बलवान राज्य बना दिया और वर्ष भर के बाद बादशाह से आज्ञा लेकर वे ओरछे की तरफ़ चले। ओरछे की याद उन्हें सदैव बेचैन करती रही। आह ओरछा! वह दिन कब आएगा कि फिर तेरे दर्शन होंगे! राजा मंज़िलें मारते चले आते थे, न भूख थी, न प्यास, ओरछेवालों की मुहब्बत खींचे लिए आती थी। यहां तक कि ओरछे के जंगलों में आ पहुंचे। साथ के आदमी पीछे छूट गए।

दोपहर का समय था। धूप तेज थी। वे घोड़े से उतरे और एक पेड़ की छांह में जा बैठे। भाग्यवश आज हरदौल भी जीत की खुशी में शिकार खेलने निकले थे। सैंकड़ों बुंदेला सरदार उनके साथ थे। सब अभिमान के नशे में चूर थे। उन्होंने राजा जुझारसिंह को अकेले बैठे थे देखा; पर वे अपने घमंड में इतने डूबे हुए थे कि इनके पास तक न आए। समझा कोई यात्री होगा। हरदौल की आंखों ने भी धोखा खाया। वे घोड़े पर सवार अकड़ते हुए जुझारसिंह के सामने आए और पूछना चाहते थे कि तुम कौन हो कि भाई से आंख मिल गई। पहचानते ही घोड़े से कूद पड़े और उनको प्रणाम किया। राजा ने भी उठ कर हरदौल को छाती से लगा लिया; पर उस छाती में अब भाई की मुहब्बत न थी। मुहब्बत की जगह ईर्ष्या ने घेर ली थी और वह केवल इसीलिए कि हरदौल दूर से नंगे पैर उनकी तरफ़ न दौड़ा, उसके सवारों ने दूर ही से उनकी अभ्यर्थना न की। संध्या होते-होते दोनों भाई ओरछे पहुंचे। राजा के लौटने का समाचार पाते ही नगर में प्रसन्नता की दुंदुभी बजने लगी। हर जगह आनंदोत्सव होने लगा और तुरता-फुरती शहर जगमगा उठा।

आज रानी कुलीना ने अपने हाथों भोजन बनाया। नौ बजे होंगे। लौंडी ने आकर कहा, "महाराज, भोजन तैयार है। दोनों भाई भोजन करने गए। सोने के थाल में राजा के लिए भोजन परोसा गया और चांदी के थाल में हरदौल के लिए। कुलीना ने स्वयं भोजन बनाया था, स्वयं थाल परोसे थे और स्वयं ही सामने लाई थी; पर दिनों का चक्र कहो, या भाग्य के दुर्दिन, उसने भूल से सोने का थाल हरदौल के आगे रख दिया और चांदी का राजा के सामने। हरदौल ने कुछ ध्यान न दिया, वह वर्ष भर से सोने के थाल में खाते-खाते उसका आदी हो गया था, पर जुझारसिंह तिलमिला गए। जबान से कुछ न बोले; पर तेवर बदल गए और मुंह लाल हो गया। रानी की तरफ़ घूर कर देखा और भोजन करने लगे। पर ग्रास विष मालूम होता था। दो-चार ग्रास खा कर उठ आए। रानी उनके तेवर देख कर डर गई। आज कैसे प्रेम से उसने भोजन बनाया था, कितनी प्रतीक्षा के बाद यह शुभ दिन आया था, उसके उल्लास का कोई पारावार न था; पर राजा के तीवर देख कर

उसके प्राण सूख गए। जब राजा उठ गए और उसने थाल को देखा, तो कलेजा धक से हो गया और पैरों तले से मिट्टी निकल गई। उसने सिर पीट लिया, "ईश्वर! आज रात कुशलतापूर्वक कटे, मुझे शकुन अच्छे दिखाई नहीं देते।

राजा जुझारसिंह शीशमहल में लेटे। चतुर नाइन ने रानी का श्रृंगार किया और वह मुस्करा कर बोली, "कल महाराज से इसका इनाम लूंगी। यह कह कर वह चली गई; परंतु कुलीना वहां से न उठी। वह गहरे सोच में पड़ी हुई थी। उनके सामने कौन-सा मुंह लेकर जाऊं? नाइन ने नाहक मेरा श्रृंगार कर दिया। मेरा श्रृंगार देख कर वे खुश भी होंगे? मुझसे इस समय अपराध हुआ है, मैं अपराधिनी हूं, मेरा उनके पास इस समय बनाव-श्रृंगार करके जाना उचित नहीं। नहीं, नहीं; आज मुझे उनके पास भिखारिनी के भेष में जाना चाहिए। मैं उनसे क्षमा मांगूंगी। इस समय मेरे लिए यही उचित है। यह सोच कर रानी बड़े शीशे के सामने खड़ी हो गई। वह अप्सरा-सी मालूम होती थी। सुंदरता की कितनी ही तस्वीरें उसने देखी थीं; पर उसे इस समय शीशे की तस्वीर सबसे ज़्यादा खूबसूरत मालूम होती थी।

सुंदरता और आत्मरुचि का साथ है। हल्दी बिना रंग के नहीं रह सकती। थोड़ी देर के लिए कुलीना सुंदरता के मद से फूल उठी। वह तन कर खड़ी हो गई। लोग कहते हैं कि सुंदरता में जादू है और वह जादू, जिसका कोई उतार नहीं। धर्म और कर्म, तन और मन सब सुंदरता पर न्यौछावर है। मैं सुंदर न सही, ऐसी कुरूपा भी नहीं हूं। क्या मेरी सुंदरता में इतनी भी शक्ति नहीं है कि महाराज से मेरा अपराध क्षमा करा सके? ये बाहुलताएं जिस समय उनके गले का हार होंगी, ये आंखें जिस समय प्रेम के मद से लाल होकर देखेंगी, तब क्या मेरे सौंदर्य की शीतलता उनकी क्रोधाग्नि को ठंडा न कर देंगी? पर थोड़ी देर में रानी को ज्ञात हुआ। आह! यह मैं क्या स्वप्न देख रही हूं! मेरे मन में ऐसी बातें क्यों आती हैं! मैं अच्छी हूं या बुरी हूं उनकी चेरी हूं। मुझसे अपराध हुआ है, मुझे उनसे क्षमा मांगनी चाहिए। यह श्रृंगार और बनाव इस समय उपयुक्त नहीं है। यह सोच कर रानी ने सब गहने उतार दिए। इतर में बसी हुई रेशम की साड़ी अलग कर दी। मोतियों से भरी मांग खोल दी और वह खूब फूट-फूट कर रोई। यह मिलाप की रात वियोग की रात से भी विशेष दुःखदायिनी है। भिखारिनी का भेष बना कर रानी शीशमहल की ओर चली। पैर आगे बढ़ते थे, पर मन पीछे हटा जाता था। दरवाज़े तक आई, पर भीतर पैर न रख सकी। दिल धड़कने लगा। ऐसा जान पड़ा मानो उसके पैर थर्रा रहे हैं। राजा जुझारसिंह बोले, "कौन है? कुलीना! भीतर क्यों नहीं आ जाती?"

कुलीना ने जी कड़ा करके कहा, "महाराज, कैसे आऊं? मैं अपनी जगह क्रोध को बैठा पाती हूं।"
राजा -"यह क्यों नहीं कहती कि मन दोषी है, इसलिए आंखें नहीं मिलने देता।
कुलीना - निस्संदेह मुझसे अपराध हुआ है, पर एक अबला आपसे क्षमा का दान मांगती है।
राजा - इसका प्रायश्चित करना होगा।
कुलीना - क्यों कर?
राजा - हरदौल के खून से।

कुलीना सिर से पैर तक कांप गई। बोली, "क्या इसलिए कि आज मेरी भूल से ज्योनार के थालों में उलट-फेर हो गया?"
राजा - नहीं, इसलिए कि तुम्हारे प्रेम में हरदौल ने उलट-फेर कर दिया!

जैसे आग की आंच से लोहा लाल हो जाता है, वैसे ही रानी का मुंह लाल हो गया। क्रोध की अग्नि सद्भावों को भस्म कर देती है, प्रेम और प्रतिष्ठा, दया और न्याय, सब जल के राख हो जाते हैं। एक मिनट तक रानी को ऐसा मालूम हुआ, मानो दिल और दिमाग़ दोनों खौल रहे हैं, पर उसने आत्मदमन की अंतिम चेष्टा से अपने को संभाला, केवल इतना बोली - "हरदौल को अपना लड़का और भाई समझती हूं।"

राजा उठ बैठे और कुछ नर्म स्वर में बोले - "नहीं, हरदौल लड़का नहीं है, लड़का मैं हूं, जिसने तुम्हारे ऊपर विश्वास किया। कुलीना, मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। मुझे तुम्हारे ऊपर घमंड था। मैं समझता था, चांद-सूर्य टल सकते हैं, पर तुम्हारा दिल नहीं टल सकता, पर आज मुझे मालूम हुआ कि वह मेरा लड़कपन था। बड़ों ने सच कहा है कि स्त्री का प्रेम पानी की धार है, जिस ओर ढाल पाता है, उधर ही बह जाता है। सोना ज़्यादा गरम होकर पिघल जाता है।

कुलीना रोने लगी। क्रोध की आग पानी बन कर आंखों से निकल पड़ी। जब आवाज़ वश में हुई, तो बोली, "आपके इस संदेह को कैसे दूर करूं?"
राजा – हरदौल के खून से।
रानी – मेरे खून से दाग न मिटेगा?
राजा – तुम्हारे खून से और पक्का हो जाएगा।
रानी – और कोई उपाय नहीं है?
राजा – नहीं।
रानी – यह आपका अंतिम विचार है?
राजा – हां, यह मेरा अंतिम विचार है। देखो, इस पानदान में पान का बीड़ा रखा है। तुम्हारे सतीत्व की परीक्षा यही है कि तुम हरदौल को इसे अपने हाथों खिला दो। मेरे मन का भ्रम उसी समय निकलेगा जब इस घर से हरदौल की लाश निकलेगी।

रानी ने घृणा की दृष्टि से पान के बीड़े को देखा और वह उलटे पैर लौट आई।
रानी सोचने लगी, "क्या हरदौल के प्राण लूं? निर्दोष, सच्चरित्र वीर हरदौल की जान से अपने सतीत्व की परीक्षा दूं? उस हरदौल के खून से अपना हाथ काला करूं जो मुझे बहन समझता है? यह पाप किसके सिर पड़ेगा? क्या एक निर्दोष का खून रंग न लाएगा? आह! अभागी कुलीना! तुझे आज अपने सतीत्व की परीक्षा देने की आवश्यकता पड़ी है और वह ऐसी कठिन? नहीं यह पाप मुझसे नहीं होगा। यदि राजा मुझे कुलटा समझते हैं, तो समझें, उन्हें मुझ पर संदेह है, तो हो। मुझसे यह पाप न होगा। राजा को ऐसा संदेह क्यों हुआ? क्या केवल थालों के बदल जाने से? नहीं, अवश्य कोई और बात है। आज हरदौल उन्हें जंगल में मिल गया। राजा ने उसकी कमर में तलवार देखी होगी। क्या आश्चर्य है, हरदौल से कोई अपमान भी हो गया हो। मेरा अपराध क्या है? मुझ पर इतना बड़ा दोष क्यों लगाया जाता है? केवल थालों के बदल जाने से? हे ईश्वर! मैं किससे अपना दुःख कहूं? तू ही मेरा साक्षी है। जो चाहे सो हो; पर मुझसे यह पाप न होगा।

रानी ने फिर सोचा, "राजा, तुम्हारा हृदय ऐसा ओछा और नीच है? तुम मुझसे हरदौल की जान लेने को कहते हो? यदि तुमसे उसका अधिकार और मान नहीं देखा जाता, तो क्यों साफ़-साफ़ ऐसा नहीं कहते? क्यों मरदों की लड़ाई नहीं लड़ते? क्यों स्वयं अपने हाथ से उसका सिर नहीं काटते और मुझसे वह काम करने को कहते हो? तुम खूब जानते हो, मैं यह नहीं कर सकती। यदि मुझसे तुम्हारा जी उकता गया है, यदि मैं तुम्हारी जान की जंजाल हो गई हूं, तो मुझे काशी या मथुरा भेज दो। मैं बेखटके चली जाऊंगी, पर ईश्वर के लिए मेरे सिर इतना बड़ा कलंक न लगने दो। पर मैं जीवित ही क्यों रहूं, मेरे लिए अब जीवन में कोई सुख नहीं है। अब मेरा मरना ही अच्छा है। मैं स्वयं प्राण दे दूंगी, पर यह महापाप मुझसे न होगा। विचारों ने फिर पलटा खाया। तुमको पाप करना ही होगा। इससे बड़ा पाप शायद आज तक संसार में न हुआ हो, पर यह पाप तुमको करना होगा। तुम्हारे पतिव्रत पर संदेह किया जा रहा है और तुम्हें इस संदेह को मिटाना होगा। यदि तुम्हारी जान जोखिम में होती, तो कुछ हर्ज न था। अपनी जान देकर हरदौल को बचा लेती; पर इस समय तुम्हारे पतिव्रत पर आंच आ रही है। इसलिए तुम्हें यह पाप करना ही होगा, और पाप करने के बाद हंसना और प्रसन्न रहना होगा। यदि तुम्हारा चित्त तनिक भी विचलित हुआ, यदि तुम्हारा मुखड़ा ज़रा भी मद्धिम हुआ, तो इतना बड़ा पाप करने पर भी तुम संदेह मिटाने में सफल न होगी। तुम्हारे जी पर चाहे जो बीते, पर तुम्हें यह पाप करना ही पड़ेगा। परंतु कैसे होगा? क्या मैं हरदौल का सिर उतारूंगी? यह सोच कर रानी के शरीर में कंपकंपी आ गई। नहीं, मेरा हाथ उस पर कभी नहीं उठ सकता। प्यारे हरदौल, मैं तुम्हें खिला सकती। मैं जानती हूं, तुम मेरे लिए आनंद से विष का बीड़ा खा लोगे। हां, मैं जानती हूं तुम 'नहीं' न करोगे, पर मुझसे यह महापाप नहीं हो सकता। एक बार नहीं, हज़ार बार नहीं हो सकता।"

हरदौल को इन बातों की कुछ भी ख़बर न थी। आधी रात को एक दासी रोती हुई उसके पास गई और उसने सब समाचार अक्षर-अक्षर कह सुनाया। वह दासी पान-दान लेकर रानी के पीछे-पीछे राजमहल से दरवाज़े पर गई थी और सब बातें सुन कर आई थी। हरदौल राजा का ढंग देख कर पहले ही ताड़ गया था कि राजा के मन में कोई-न-कोई कांटा अवश्य खटक रहा है। दासी की बातों ने उसके संदेह को और भी पक्का कर दिया। उसने दासी से कड़ी मनाही कर दी कि सावधान! किसी दूसरे के कानों में इन बातों की भनक न पड़े और वह स्वयं मरने को तैयार हो गया।

हरदौल बुंदेलों की वीरता का सूरज था। उसकी भौहों के तनिक इशारे से तीन लाख बुंदेले मरने और मारने के लिए इकट्ठे हो सकते थे, ओरछा उस पर न्यौछावर था। यदि जुझारसिंह खुले मैदान उसका सामना करते तो अवश्य मुंह की खाते, क्योंकि हरदौल भी बुंदेला था और बुंदेला अपने शत्रु के साथ किसी प्रकार की मुंह देखी नहीं करते, मारना-मरना उनके जीवन का एक अच्छा दिलबहलाव है। उन्हें सदा इसकी लालसा रही है कि कोई हमें चुनौती दे, कोई हमें छेड़ें। उन्हें सदा खून की प्यास रहती है और वह प्यास कभी नहीं बुझती। परंतु उस समय एक स्त्री को उसके खून की ज़रूरत थी और उसका साहस उसके कानों में कहता था कि एक निर्दोष और सती अबला के लिए अपने शरीर का खून देने में मुंह न मोड़ो। यदि भैया को यह संदेह होता कि मैं उनके खून का प्यासा हूं और उन्हें मार कर राज अधिकार करना चाहता हूं, तो कुछ हर्ज न था। राज्य के लिए कत्ल और खून, दगा और फ़रेब सब उचित समझा गया है, परंतु उनके इस संदेह का निपटारा मेरे मरने के सिवा और किसी तरह नहीं हो सकता। इस समय मेरा धर्म है कि अपने प्राण देकर उनके इस संदेह को दूर कर दूं। उनके मन में यह दुखानेवाला संदेह उत्पन्न करके भी यदि मैं जीता ही रहूं और अपने मन की पवित्रता जताऊं, तो मेरी ढिठाई है। नहीं, इस भले काम से अधिक आगा-पीछा करना अच्छा नहीं। मैं खुशी से विष का बीड़ा खाऊंगा। इससे बढ़ कर शूर-वीर की मृत्यु और क्या हो सकती है?

क्रोध में आकर मारू के भय बढ़ानेवाले शब्द सुन कर रणक्षेत्र में अपनी जान को तुच्छ समझना इतना कठिन नहीं है। आज सच्चा वीर हरदौल अपने हृदय के बड़प्पन पर अपनी सारी वीरता और न्यौछावर करने को उद्यत है।

दूसरे दिन हरदौल ने खूब तड़के स्नान किया। बदन पर अस्त्र-शस्त्र सजा मुस्कराता हुआ राजा के पास गया। राजा भी सोकर तुरंत ही उठे थे, उनकी अलसायी हुई आंखें हरदौल की मूर्ति की ओर लगी हुई थीं। सामने संगमरमर की चौकी पर विष मिला पान सोने की तश्तरी में रखा हुआ था। राजा कभी पान की ओर ताकते और कभी मूर्ति की ओर, शायद उनके विचार ने इस विष की गांठ और उस मूर्ति में एक संबंध पैदा कर दिया था। उस समय जो हरदौल एकाएक घर में पहुंचे तो राजा चौंक पड़े। उन्होंने संभल कर पूछा, "इस समय कहां चले?"

हरदौल का मुखड़ा प्रफुल्लित था। वह हंस कर बोला, "कल आप यहां पधारे हैं, इसी खुशी में मैं आज शिकार खेलने जाता हूं। आपको ईश्वर ने अजित बनाया है, मुझे अपने हाथ से विजय का बीड़ा दीजिए।"
यह कह कर हरदौल ने चौकी पर से पान-दान उठा लिया और उसे राजा के सामने रख कर बीड़ा लेने के लिए हाथ बढ़ाया। हरदौल का खिला हुआ मुखड़ा देख कर राजा की ईर्ष्या की आग और भी भड़क उठी। दुष्ट, मेरे घाव पर नमक छिड़कने आया है! मेरे मान और विश्वास को मिट्टी में मिलाने पर भी तेरा जी न भरा! मुझसे विजय का बीड़ा मांगता है! हां, यह विजय का बीड़ा है; पर तेरी विजय का नहीं, मेरी विजय का।

इतना मन में कहकर जुझारसिंह ने बीड़े को हाथ में उठाया। वे एक क्षण तक कुछ सोचते रहे, फिर मुस्करा कर हरदौल को बीड़ा दे दिया। हरदौल ने सिर झुका कर बीड़ा लिया, उसे माथे पर चढ़ाया, एक बार बड़ी ही करुणा के साथ चारों ओर देखा और फिर बीड़े को मुंह में रख लिया। एक सच्चे राजपूत ने अपना पुरुषत्व दिखा दिया। विष हलाहल था, कंठ के नीचे उतरते ही हरदौल के मुखड़े पर मुर्दनी छा गई और आंखें बुझ गईं। उसने एक ठंडी सांस ली, दोनों हाथ जोड़ कर जुझारसिंह को प्रणाम किया और ज़मीन पर बैठ गया। उसके ललाट पर पसीने की ठंडी-ठंडी बूंदें दिखाई दे रही थीं और सांस तेजी से चलने लगी थी; पर चेहरे पर प्रसन्नता और संतोष की झलक दिखाई देती थी।

जुझारसिंह अपनी जगह से ज़रा भी न हिले। उनके चेहरे पर ईर्ष्या से भरी हुई मुस्कराहट छाई हुई थी; पर आंखों में आंसू भर आए थे। उजाले और अंधेरे का मिलाप हो गया था।

## 'रानी केतकी की कहानी' सैय्यद इंशा अल्ला ख़ाँ

यह वह कहानी है कि जिसमें हिंदी छुट।
और न किसी बोली का मेल है न पुट।।

सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सब को बनाया और बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं; उसके बिन ध्यान यह सब फाँसे हैं। यह कल का पुतला जो अपने उस खेलाड़ी की सुध रक्खे तो खटाई में क्यों पड़े और कड़वा कसैला क्यों हो। उस फल की मिठाई चक्खे जो बड़े से बड़े अगलों ने चक्खी है।

देखने को दो आँखें दीं और सुनने के दो कान।
नाक भी सब में ऊँची कर दी मरतों को जी दान।।

मिट्टी के बासन को इतनी सकत कहाँ जो अपने कुम्हार के करतब कुछ ताड़ सके। सच है, जो बनाया हुआ हो, सो अपने बनानेवालो को क्या सराहे और क्या कहे। यों जिसका जी चाहे, पड़ा बके। सिर से लगा पाँव तक जितने रोंगटे हैं, जो सबके सब बोल उठें और सराहा करें और उतने बरसों उसी ध्यान में रहें जितनी सारी नदियों में रेत और फूल फलियाँ खेत में हैं, तो भी कुछ न हो सके, कराहा करें। इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को जिसके लिये यों कहा है –

जो तू न होता तो मैं कुछ न बनाता; और उसका चचेरा भाई जिसका ब्याह उसके घर हुआ, उसकी सुरत मुझे लगी रहती है। मैं फूला अपने आप में नहीं समाता, और जितने उनके लड़के वाले हैं, उन्हीं को मेरे जी में चाह है। और कोई कुछ हो, मुझे नहीं भाता। मुझको उम्र घराने छूट किसी चोर ठग से क्या पड़ी! जीते और मरते आसरा उन्हीं सभों का और उनके घराने का रखता हूँ तीसों घड़ी।

### डौल डाल एक अनोखी बात का

एक दिन बैठे–बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलने वालों में से एक कोई पढ़े–लिखे, पुराने–धुराने, डाँग, बूढ़े धाग यह खटराग लाए। सिर हिलाकर, मूँह थुथाकर, नाक भी चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने – यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जैसे भले लोग अच्छे आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो, यह नही होने का। मैंने उनकी ठंडी साँस का टहोका खाकर झुँझलाकर कहा – मैं कुछ ऐसा ब ढ़ – बोला नहीं जो राई को परबत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोलकर उँगलियाँ नचाऊँ, और बे–सिर बे–ठिकाने की उलझी–सुलझी बातें सुनाऊँ, जो मुझ से न हो सकता तो यह बात मुँह से क्यों निकालता? जिस ढब से होता, इस बखेड़े को टालता।

इस कहानी का कहनेवाला यहाँ आपको जताता है और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं, कह सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेरकर आपको जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो यह ताव–भाव, राव–चाव और कूद–फाँद, लपट झपट दिखाऊँ जो देखते ही आप के ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अल्हड़पन में है, हिरन के रूप में अपनी चौकड़ी भूल जाय।

टुक घोड़े पर चढ़ के अपने आता हूँ मैं।
करतब जो कुछ है, कर दिखता हूँ मैं।।
उस चाहनेवाले ने जो चाहा तो अभी।
कहता जो कुछ हूँ, कर दिखाता हूँ मैं।।

अब आप कान रख के, आँखें मिला के, सन्मुख होके टुक इधर देखिए, किस ढंग से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल के पंखड़ी जैसे होठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।

## कहानी के जीवन का उभार और बोलचाल की दुलहिन का सिंगार

किसी देश में किसी राजा के घर एक बेटा था। उसे उसके माँ–बाप और सब घर के लोग कुँवर उदैभान करके पुकारते थे। सचमुच उसके जीवन की जोत में सूरज की एक स्रोत आ मिली थी। उसका अच्छापन और भला लगना कुछ ऐसा न था जो किसी के लिखने और कहने में आ सके। पंद्रह बरस भरके उसने सोलहवें में पाँव रक्खा था। कुछ यों ही सी मसें भीनती चली थीं। पर किसी बात के सोच का घर–घाट न पाया था और चाह की नदी का पाट उसने देखा न था। एक दिन हरियाली देखने को अपने घोड़े पर चढ़के अठखेल और अल्हड़पन के साथ देखता भालता चला जाता था। इतने में जो एक हिरनी उसके सामने आई, तो उसका जी लोट पोट हुआ। उस हिरनी के पीछे सब छोड़ छाड़कर घोड़ा फेंका। कोई घोड़ा उसको पा सकता था? जब सूरज छिप गया और हिरनी आँखों से ओझल हुई, तब तो कुँवर उदैभान भूखा, प्यासा, उनींदा, जँभाइयाँ, अँगड़ाइयाँ लेता, हक्का बक्का होके लगा आसरा ढूँढ़ने। इतने में कुछ एक अमराइयाँ देख पड़ी, तो उधर चल निकला; तो देखता है वो चालीस–पचास रंडियाँ एक से एक जोबन में अगली झूला डाले पड़ी झूल रही है और सावन गातियाँ हैं।

ज्यों ही उन्होंने उसको देखा – तू कौन? तू कौन? की चिंघाड़ सी पड़ गई। उन सभों में एक के साथ उसकी आँख लग गई।

कोई कहती थी यह उचक्का है।
कोई कहती थी एक पक्का है।

वही झूलेवाली लाल जोड़ा पहने हुए, जिसको सब रानी केतकी कहते थीं, उसके भी जी में उसकी चाह ने घर किया। पर कहने–सुनने को बहुत सी नाँह–नूह की और कहा –

"इस लग चलने को भला क्या कहते हैं! हक न धक, जो तुम झट से टहक पड़े। यह न जाना, यह रंडियाँ अपने झूल रही हैं। अजी तुम तो इस रूप के साथ इस रव बेधड़क चले आए हो, ठंडे ठंडे चले जाओ।"

तब कुँवर ने मसोस के मलीला खाके कहा – "इतनी रूखाइयाँ न कीजिए। मैं सारे दिन का थका हुआ एक पेड़ की छाँह में ओस का बचाव करके पड़ा रहूँगा। बड़े तड़के धुँधलके में उठकर जिधर को मुँह पड़ेगा चला जाऊँगा। कुछ किसी का लेता देता नहीं। एक हिरनी के पीछे सब लोगों को छोड़ छाड़कर घोड़ा फेंका था। कोई घोड़ा उसको पा सकता था? जब तलक उजाला रहा उसके ध्यान में था। जब अँधेरा छा गया और जी बहुत घबरा गया, इन अमराइयों का आसरा ढूँढ़कर यहाँ चला आया हूँ। कुछ रोक टोक तो इतनी न थी जो माथा ठनक जाता और रूका रहता। सिर उठाए हाँपता चला आया। क्या जानता था – वहाँ पद्मिनियाँ पड़ी झूलती पेंगै चढ़ा रही हैं। पर यों बदी थी, बरसों मैं भी झूल करूँगा।"

यह बात सुनकर वह जो लाल जोड़ेवाली सब की सिरधरी थी, उसने कहा –
"हाँ जी, बोलियाँ ठोलियाँ न मारो और इनको कह दो जहाँ जी चाहे, अपने पड़ रहें, और जो कुछ खाने को माँगे, इन्हें पहुँचा दो। घर आए को आज तक किसी ने मार नहीं डाला। इनके मुँह का डौल, गाल तमतमाए, और होंठ पपड़ाए, और घोड़े का हाँपना, और जी का काँपना, और ठंडी साँसें भरना, और निढाल हो गिरे पड़ना इनको सच्चा करता है। बात बनाई हुई और सचौटी की कोई छिपती नहीं। पर हमारे इनके बीच कुछ ओट कपड़े लत्ते की कर दो।"

इतना आसरा पाके सबसे परे जो कोने में पाँच सात पौदे थे, उनकी छाँव में कुँवर उदैभान ने अपना बिछौना किया और

कुछ सिरहाने धरकर चाहता था कि सो रहें, पर नींद कोई चाहत की लगावट में आती थी? पड़ा पड़ा अपने जी से बातें कर रहा था। जब रात साँय-साँय बोलने लगी और साथवालियाँ सब सो रहीं, रानी केतकी ने अपनी सहेली मदनबान को जगाकर यों कहा – "अरी ओ, तूने कुछ सुना है? मेरा जी उसपर आ गया है; और किसी डौल से थम नहीं सकता। तू सब मेरे भेदों को जानती है। अब होनी जो हो सो हो; सिर रहता रहे, जाता जाय। मैं उसके पास जाती हूँ। तू मेरे साथ चल। पर तेरे पाँवों पड़ती हूँ, कोई सुनने न पाए। अरी यह मेरा जोड़ा मेरे और उसके बनानेवाले ने मिला दिया। मैं इसी जी में इस अमराइयों में आई थी।"

रानी केतकी मदनबान का हाथ पकड़े हुए वहाँ आन पहुँची, जहाँ कुँवर उदैभान लेटे हुए कुछ कुछ सोच में बड़बड़ा रहे थे।
मदनबान आगे बढ़के कहने लगी – "तुम्हें अकेला जानकर रानी जी आप आई हैं।"

कुँवर उदैभान यह सुनकर उठ बैठे और यह कहा – "क्यों न हो, जी को जी से मिलाप है?"
कुँवर और रानी दोनों चुपचाप बैठे; पर मदनबान दोनों को गुदगुदा रही थी। होते होते रानी का वह पता खुला कि राजा जगतपरकास की बेटी है और उनकी माँ रानी कामलता कहलाती है। "उनको उनके माँ बाप ने कह दिया है – एक महीने पीछे अमराइयों में जाकर झूल आया करो। आज वही दिन था; सो तुम से मुठभेड़ हो गई। बहुत महाराजों के कुँवरों से बातें आई, पर किसी पर इनका ध्यान न चढ़ा। तुम्हारे धन भाग जो तुम्हारे पास सबसे छुपके, मैं जो उनके लड़कपन की गोइयाँ हूँ, मुझे अपने साथ लेके आई है। अब तुम अपनी बीती कहानी कहो – तुम किस देस के कौन हो।"

उन्होंने कहा – "मेरा बाप राजा सूरजभान और माँ रानी लछमीबास हैं। आपस में जो गँठजोड हो जाय तो कुछ अनोखी, अचरज और अचंभे की बात नहीं। योंही आगे से होता चला आया है। जैसा मुँह वैसा थप्पड़। जोड़ तोड़ टटोल लेते हैं। दोनों महाराजों को यह चितचाही बात अच्छी लगेगी, पर हम तुम दोनों के जी का गँठजोड़ा चाहिए।"

इसी में मदनबान बोल उठी – "सो तो हुआ। अपनी अपनी अँगूठियाँ हेर फेर कर लो और आपस में लिखौती लिख दो। फिर कुछ हिचर मिचर न रहे।"

कुँवर उदैभान ने अपनी अँगूठी रानी केतकी को पहना दी; और रानी ने भी अपनी अँगूठी कुँवर की उंगली में डाल दी; और एक धीमी सी चुटकी भी ले ली।

इसमें मदनबाल बोली – "जो सच पूछा तो इतनी भी बहुत हुई। मेरे सिर चोट है। इतना बढ़ चलना अच्छा नहीं। अब उठ चलो और इनको सोने दो; और रोएं तो पड़े रोने दो। बातचीत तो ठीक हो चुकी।" पिछले पहर से रानी तो अपनी सहेलियों को लेके जिधर से आई थी, उधर को चली गई और कुँवर उदैभान अपने घोड़े को पीठ लगाकर अपने लोगों से मिलके अपने घर पहुँचे।

पर कुँवर जी का रूप क्या कहूँ। कुछ कहने में नहीं आता। न खाना, न पीना, न मग चलना, न किसी से कुछ कहना, न सुनना। जिस स्थान में थे उसी में गुथे रहना और घड़ी घड़ी कुछ सोच सोच कर सिर धुनना। होते होते लोगों में इस बात का चरचा फैल गई।

किसी किसी ने महाराज और महारानी से कहा – "कुछ दाल में काला है। वह कुँवर बुरे तेंवर और बेडौल आँखें दिखाई देती हैं। घर से बाहर पाँव नहीं धरना। घरवालियाँ जो किसी डौल से बहलातियाँ हैं, तो और कुछ नहीं करना, ठंडी ठंडी साँसें भरता है। और बहुत किसी ने छेड़ा तो छपरखट पर जाके अपना मुंह लपेट के आठ आठ आँसू पड़ा रोता है।"

यह सुनते ही कुँवर उदैभान के माँ-बाप दोनों दौड़े आए। गले लगाया, मुँह चूम पाँव पर बेटे के गिर पड़े, हाथ जोड़े और कहा – 'जो अपने जी की बात है, सो कहते क्यों नहीं? क्या दुखड़ा है जो पड़े पड़े कराहते हो? राज-पाट जिसको चाहो,

दे डालो। कहो तो, क्या चाहते हो? तुम्हारा जी क्यों नहीं लगता? भला वह क्या है जो हो नहीं सकता? मुँह से बोलो, जी को खोलो। जो कुछ कहने से सोच करते हो, अभी लिख भेजो। जो कुछ लिखोगे, ज्यों की त्यों करने में आएगी। जो तुम कहो कूंएँ में गिर पड़ो, तो हम दोनों अभी गिर पड़ते हैं। कहो – सिर काट डालो, तो सिर अपने अभी काट डालते हैं।"

कुँवर उदैभान, जो बोलते ही न थे, लिख भेजने का आसरा पाकर इतना बोले – "अच्छा आप सिधारिए, मैं लिख भेजता हूँ। पर मेरे उस लिखे को मेरे मुँह पर किसी ढब से न लाना। इसीलिए मैं मारे लाज के मुखपाट होके पड़ा था और आप से कुछ न कहना था।"
यह सुनकर दोनों महाराज और महारानी अपने स्थान को सिधारे। तब कुँवर ने यह लिख भेजा – "अब जो मेरा जी होठों पर आ गया और किसी डौल न रहा गया और आपने मुझे सौ सौ रूप से खोल और बहुत सा टटोला, तब तो लाज छोड़ के हाथ जोड़ के मुँह फाड़ के घिघिया के यह लिखता हूँ –

चाह के हाथों किसी को सुख नहीं।
है भला वह कौन जिसको दुख नहीं।।

उस दिन जो मैं हरियाली देखने को गया था, एक हिरनी मेरे सामने कनौतियाँ उठाए आ गई। उसके पीछे मैंने घोड़ा बगछुट फेंका। जब तक उजाला रहा, उसकी धुन में बहका किया। जब सूरज डूबा मेरा जी बहुत ऊबा। सुहानी सी अमराइयाँ ताड़ के मैं उनमें गया, तो उन अमराइयों का पत्ता पत्ता मेरे जी का गाहक हुआ। वहाँ का यह सौहिला है। कुछ रंडियाँ झूला डाले झूल रही थीं। उनकी सिरधरी कोई रानी केतकी महाराज जगतपरकास की बेटी हैं। उन्होंने यह अँगूठी अपनी मुझे दी और मेरी अँगूठी उन्होंने ले ली और लिखौट भी लिख दी। सो यह अँगूठी उनकी लिखौट समेत मेरे लिखे हुए के साथ पहुँचती है। अब आप पढ़ लीजिए। जिसमें बेटे का जी रह जाय, सो कीजिए।"

महाराज और महारानी ने अपने बेटे के लिखे हुए पर सोने के पानी से यों लिखा – "हम दोनों ने इस अँगूठी और लिखौट को अपनी आँखों से मला। अब तुम इतने कुछ कुढ़ो पचो मत। जो रानी केतकी के माँ बाप तुम्हारी बात मानते हैं, तो हमारे समधी और समधिन हैं। दोनों राज एक हो जायेंगे। और जो कुछ नाँह–नूँह ठहरेगी तो जिस डौल से बन आवेगा, ढाल तलवार के बल तुम्हारी दुल्हन हम तुमसे मिला देंगे। आज से उदास मत रहा करो। खेलो, कूदो, बोलो चालो, आनंदें करो। अच्छी घड़ी, सुभ मुहूरत सोच के तुम्हारी ससुराल में किसी ब्राह्मन को भेजते हैं; जो बात चीतचाही ठीक कर लावे।' और सुभ घड़ी सुभ मुहूरत देख के रानी केतकी के माँ–बाप के पास भेजा।

ब्राह्मन जो सुभ मुहूरत देखकर हड़बड़ी से गया था, उस पर बुरी घड़ी पड़ी। सुनते ही रानी केतकी के माँ–बाप ने कहा – "हमारे उनके नाता नहीं होने का! उनके बाप–दादे हमारे बापदादे के आगे सदा हाथ जोड़कर बातें किया करते थे और टुक जो तेवरी चढ़ी देखते थे, बहुत डरते थे। क्या हुआ, जो अब वह बढ़ गए, ऊँचे पर चढ़ गए। जिनके माथे हम बाएँ पाँव के अँगूठे से टीका लगावें, वह महाराजों का राजा हो जावे। किसी का मुँह जो यह बात हमारे मुँह पर लावे!" ब्राह्मण ने जल–भुन के कहा – "अगले भी बिचारे ऐसे ही कुछ हुए हैं।

राजा सूरजभान भी भरी सभा में कहते थे – हममें उनमें कुछ गोत का तो मेल नहीं। यह कुँवर की हठ से कुछ हमारी नहीं चलती। नहीं तो ऐसी ओछी बात कब हमारे मुँह से निकलती।" यह सुनते ही उन महाराज ने ब्राह्मन के सिर पर फूलों की चँगेर फेंक मारी और कहा – "जो ब्राह्मण की हत्या का धड़का न होता तो तुझको अभी चक्की में दलवा डालता।" और अपने लोगों से कहा – "इसको ले जाओ और ऊपर एक अँधेरी कोठरी में मूँद रक्खो।" जो इस ब्राह्मन पर बीती सो सब उदैभान के माँ–बाप ने सुनी। सुनते ही लड़ने के लिये अपना ठाठ बाँध के भादों के दल बादल जैसे घिर आते हैं, चढ़ आया। जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन–भादों के रूप रोने लगी; और दोनों के जी में यह आ गई – यह कैसी चाहत जिसमें लोह बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।

कुँवर ने चुपके से यह कहला भेजा – "अब मेरा कलेजा टुकड़े टुकड़े हुआ जाता है। दोनों महाराजाओं को आपस में लड़ने

दो। किसी डौल से जो हो सके, तो मुझे अपने पास बुला लो। हम तुम मिलके किसी और देस निकल चलें; होनी हो सो हो, सिर रहता रहे, जाता जाय।"

एक मालिन, जिसको फूलकली कर सब पुकारते थे, उसने उस कुँवर की चिट्ठी किसी फूल की पंखड़ी में लपेट लपेट कर रानी केतकी तक पहुँचा दी। रानी ने उस चिट्ठी को अपनी आँखों लगाया और मालिन को एक थाल भर के मोती दिए; और उस चिट्ठी की पीठ पर अपने मुँह की पीक से यह लिखा – "ऐ मेरे जी के ग्राहक, जो तू मुझे बोटी बोटी कर के चील–कौवों को दे डाले, तो भी मेरी आँखों चैन और कलेजे सुख हो। पर यह बात भाग चलने की अच्छी नहीं। इसमें एक बाप–दादे के चिट लग जाती है; और जब तक माँ–बाप जैसा कुछ होता चला आता है उसी डौल से बेटे–बेटी को किसी पर पटक न मारें और सिर से किसी के चेपक न दें, तब तक यह एक जो तो क्या, जो करोड़ जी जाते रहें तो कोई बात हमें रूचती नहीं।"

यह चिट्ठी जो बिस भरी कुँवर तक जा पहुँची, उस पर कई एक थाल सोने के हीरे, मोती, पुखराज के खचाखच भरे हुए निछावर करके लुटा देता है। और जितनी उसे बेचैनी थी, उससे चौगुनी पचगुनी हो जाती है। और उस चिट्ठी को अपने उस गोरे डंड पर बाँध लेता है।

### आना जोगी महेंदर गिर का कैलास पहाड़ पर से और कुँवर उदैभान और उसके माँ–बाप को हिरनी हिरन कर डालना

जगतपरकास अपने गुरू को जो कैलास पहाड़ पर रहता था, लिख भेजता है – कुछ हमारी सहाय कीजिए। महाकठिन बिपताभार हम पर आ पड़ी है। राजा सूरजभान को अब यहाँ तक वाव बँहक ने लिया है, जो उन्होंने हम से महाराजों से डौल किया है।

### सराहना जोगी जी के स्थान का

कैलास पहाड़ जो एक डौल चाँदी का है, उस पर राजा जगतपरकास का गुरू, जिसको महेंदर गिर सब इंदरलोक के लोग कहते थे, ध्यान ज्ञान में कोई **90** लाख अतीतों के साथ ठाकुर के भजन में दिन रात लगा रहता था। सोना, रूपा, ताँबे, राँगे का बनाना तो क्या और गुटका मुँह में लेकर उड़ना परे रहे, उसको और बातें इस इस ढब की ध्यान में थीं जो कहने सुनने से बाहर हैं। मेंह सोने रूपे का बरसा देना और जिस रूप में चाहना हो जाना, सब कुछ उसके आगे खेल था। गाने बजाने में महादेव जी छूट सब उसके आगे कान पकड़ते थे। सरस्वती जिसकी सब लोग कहते थे, उनने भी कुछ कुछ गुनगुनाना उसी से सीखा था।

उसके सामने छः राग छत्तीस रागिनियाँ आठ पहर रूप बँदियों का सा धरे हुए उसकी सेवा में सदा हाथ जोड़े खड़ी रहती थीं। और वहाँ अतीतों को गिर कहकर पुकारते थे – भैरोगिर, बिभासगिर, हिंडोलगिर, मेघनाथ, केदारनाथ, दीपकसेन, जोतिसरूप सारंगरूप। और अतीतिनें उस ढब से कहलाती थीं – गुजरी, टोड़ी, असावरी, गौरी, मालसिरी, बिलावली। जब चाहता, अधर में सिधासन पर बैठकर उड़ाए फिरता था और नब्बें लाख अतीत गुटके अपने मुँह में लिए, गेरूए वस्तर पहने, जटा बिखेरे उसके साथ होते थे। जिस घड़ी रानी केतकी के बाप की चिट्ठी एक बगला उसके घर पहुँचा देता है, गुरू महेंदर गिर एक चिग्घाड़ मारकर दल बादलों को ढलका देता है।

बघंबर पर बैठे भभूत अपने मुँह से मल कुछ कुछ पढ़ंत करता हुआ बाव के घोड़े भी पीठ लगा और सब अतीत मृगछालों पर बैठे हुए गुटके मुँह में लिए हुए बोल उठे – गोरख जागा और मुंछदर भागा। एक आँख की झपक में वहाँ आ पहुँचता है जहाँ दोनों महाराजों में लड़ाई हो रही थी। पहले तो एक काली आँधी आई; फिर ओले बरसे; फिर टिड्डी आई। किसी को अपनी सुध न रही। राजा सूरजभान के जितने हाथी घोड़े और जितने लोग और भीड़ भाड़ थी, कुछ न समझा कि क्या किधर गई और उन्हें कौन उठा ले गया। राजा जगत परकास के लोगों पर और रानी केतकी के लोगों पर क्योड़े की बूँदों

की नन्हीं–नन्हीं फुहार सी पड़ने लगी। जब यह सब कुछ हो चुका, तो गुरूजी ने अतीतियों से कहा – "उदैभान, सूरजभान, लछमीबास इन तीनों को हिरनी हिरन बना के किसी बन में छोड़ दो; और जो उनके साथी हों, उन सभों को तोड़ फोड़ दो।"

जैसा गुरूजी ने कहा, झटपट वही किया। विपत का मारा कुँवर उदैभान और उसका बाप वह राजा सूरजभान और उसकी माँ लछमीबास हिरन हिरनी वन गए। हरी घास कई बरस तक चरते रहे; और उस भीड़ भाड़ का तो कुछ थल बेड़ा न मिला, किधर गए और कहाँ थे बस यहाँ की यहीं रहने दो। फिर सुनो। अब रानी केतकी के बाप महाराजा जगतपरकास की सुनिए। उनके घर का घर गुरूजी के पाँव पर गिरा और सबने सिर झुकाकर कहा – "महाराज, यह आपने बड़ा काम किया। हम सबको रख लिया। जो आज आप न पहुँचते तो क्या रहा था। सब ने मर मिटने की ठान ली थी।

इन पापियों से कुछ न चलेगी, यह जानते थे। राज पाट हमारा अब निछावर करके जिसको चाहिए, दे डालिए; राज हम से नहीं थम सकता। सूरजभान के हाथ से आपने बचाया। अब कोई उनका चचा चंद्रभान चढ़ आवेगा तो क्योंकर बचना होगा? अपने आप में तो सकत नहीं। फिर ऐसे राज का फिट्टे मुँह कहाँ तक आपको सताया करें।" जोगी महेंदर गिर ने यह सुनकर कहा – "तुम हमारे बेटा बेटी हो, अनंदे करो, दनदनाओ, सुख चैन से रहों। अब वह कौन है जो तुम्हें आँख भरकर और ढब से देख सके। वह बघंबर और यह भभूत हमने तुमको दिया। जो कुछ ऐसी गाढ़ पड़े तो इसमें से एक रोंगटा तोड़ आग में फूंक दीजियो। वह रोंगटा फुकने न पावेगा जो बात की बात में हम आ पहुँचेंगे। रहा भभूत, सो इसलिये है जो कोई इसे अंजन करै, वह सबको देखै और उसे कोई न देखै, जो चाहै सो करै।"

## जाना गुरूजी का राजा के घर

गुरू महेंदर गिर के पाँव पूजे और धनधन महाराज कहे। उनसे तो कुछ छिपाव न था। महाराज जगतपरकास उनको मुर्छल करते हुए अपनी रानियों के पास ले गए। सोने रूपे के फूल गोद भर–भर सबने निछावर किए और माथे रगड़े। उन्होंने सबकी पीठें ठोंकी।

रानी केतकी ने भी गुरूजी को दंडवत की; पर जी में बहुत सी गुरू जी को गालियाँ दी। गुरूजी सात दिन सात रात यहाँ रह कर जगतपरकास को सिंघासन पर बैठाकर अपने बघंबर पर बैठ उसी डौल से कैलाश पर आ धमके और राजा जगतपरकास अपने अगले ढब से राज करने लगा।

रानी केतकी का मदनबान के आगे रोना और पिछली बातों का ध्यान कर जान से हाथ धोना।

दोहरा
(अपनी बोली की धुन में)
रानी को बहुत सी बेकली थी।
कब सूझती कुछ बुरी भली थी।।
चुपके चुपके कराहती थी।
जीना अपना न चाहती थी।।
कहती थी कभी अरी मदनबान।
है आठ पर मुझे वही ध्यान।।
याँ प्यास किसे किसे भला भूख।
देखूँ वही फिर हरे हरे रूख।।
टपके का डर है अब यह कहिए।
चाहत का घर है अब यह कहिए।।
अमराइयों में उनका वह उतरना।

और रात का साँय साँय करना।।
और चुपके से उठके मेरा जाना।
और तेरा वह चाह का जताना।।
उनकी वह उतार अँगूठी लेनी।
और अपनी अँगूठी उनको देनी।।
आँखों में मेरे वह फिर रही है।
जी का जो रूप था वही है।।
क्योंकर उन्हें भूलूँ क्या करूँ मैं।
माँ बाप से कब तक डरूँ मैं।।
अब मैंने सुना है ऐ मदनबान।
बन बन के हिरन हुए उदयभान।।
चरते होंगे हरी हरी दूब।
कुछ तू भी पसीज सोच में डूब।।
मैं अपनी गई हूँ चौकड़ी भूल।
मत मुझको सुंघा यह डहडहे फूल।।
फूलों को उठाके यहाँ से लेजा।
सौ टुकड़े हुआ मेरा कलेजा।।
बिखरे जी को न कर इकट्ठा।
एक घास का ला के रख दे गट्ठा।।
हरियाली उसी की देख लूँ मैं।
कुछ और तो तुझको क्या कहूँ मैं।।
इन आँखों में हैं फड़क हिरन की।
पलकें हुई जैसे घासवन की।।
जब देखिए डब-डबा रही है।
ओसें आंसू की छा रही हैं।।
यह बात जो जी में गड़ गई है।
एक ओस-सी मुझ पै पड़ गई है।
इसी डौल जब अकेली होती तो मदनवान के साथ ऐसे कुछ मोती पिरोती।

रानी केतकी का चाहत से बेकल होना और मदनवान का साथ देने से नाहीं करना और लेना उसी भभूत का, जो गुरूजी दे गए थे, आँख-मिचौबल के बहाने अपनी माँ रानी कामलता से।

एक रात रानी केतकी ने अपनी माँ रानी कामलता को भुलावे में डालकर यों कहा और पूछा - "गुरूजी गुसाई महेंदर गिर ने जो भभूत मेरे बाप को दिया है, वह कहाँ रक्खा है और उससे क्या होता है?"

रानी कामलता बोल उठी - आँख-मिचौवल खेलने के लिये चाहती हूँ। जब अपनी सहेलियों के साथ खेलूँ और चोर बनूँ तो मुझको कोई पकड़ न सके।"

महारानी ने कहा - "वह खेलने के लिये नहीं हैं। ऐसे लटके किसी बुरे दिन के सँभालने को डाल रखते हैं। क्या जाने कोई घड़ी कैसी है, कैसी नहीं।"

रानी केतकी अपनी माँ की इस बात पर अपना मुँह थुथा कर उठ गई और दिन भर खाना न खाया। महाराज ने जो बुलाया तो कहा मुझे रूच नहीं। तब रानी कामलता बोल उठीं

– "अजी तुमने सुना भी, बेटी तुम्हारी आँख मिचौवल खेलने क लिये वह भभूत गुरूजी का दिया माँगती थी। मैंने न दिया और कहा, लड़की यह लड़कपन की बातें अच्छी नहीं। किसी बुरे दिन के लिये गुरूजी गए हैं। इसी पर मुझ से रूठी है। बहुतेरा बहलाती हूँ, मानती नहीं।"

महाराज ने कहा – "भभूत तो क्या, मुझे अपना जी भी उससे प्यारा नहीं। मुझे उसके एक पहर के बहल जाने पर एक जी तो क्या, जो करोर जी हों तो दे डालें।"
रानी केतकी को डिबिया में से थोड़ा सा भभूत दिया। कई दिन तलक आँख मिचौवल अपने माँ–बाप के सामने सहेलियों के साथ खेलती सबको हँसाती रही, जो सौ सौ
थाल मोतियों के निछावर हुआ किए, क्या कहूँ, एक चुहल थी जो कहिए तो करोड़ों पोथियों में ज्यों की त्यों न आ सके।

रानी केतकी का चाहत से बेकल होना और मदन बान का साथ देने से नहीं करना

एक रात रानी केतकी उसी ध्यान में मदनबान से यों बोल उठी – "अब मैं निगोडी लाज से कुट करती हूँ, तू मेरा साथ दे।" मदनबान ने कहा – क्यों कर? रानी केतकी ने वह भभूत का लेना उसे बताया और यह सुनाया – "यह सब आँख–मिचौवल के झाई झप्पे मैंने इसी दिन के लिये कर रक्खे थे।"

मदनबान बोली – "मेरा कलेजा थरथराने लगा। अरी यह माना जो तुम अपनी आँखों में उस भभूत का अंजन कर लोगी और मेरे भी लगा दोगी तो हमें तुम्हें कोई न देखेगा। और हम तुम सब को देखेंगी। पर ऐसी हम कहाँ जी चली हैं। जो बिन साथ, जोबन लिए, बन–बन में पड़ी भटका करें और हिरनों की सींगों पर दोनों हाथ डालकर लटका करें, और जिसके लिए यह सब कुछ है, सो वह कहाँ? और होय तो क्या जाने जो यह रानी केतकी है और यह मदनबान निगोड़ी नोची खसोटी उजड़ी उनकी सहेली है। चूल्हे और भाड़ में जाय यह चाहत जिसके लिए आपकी माँ–बाप का राज–पाट सुख नींद लाज छोड़कर नदियों के कछारों में फिरना पड़े, सो भी बेडौल। जो वह अपने रूप में होते तो भला थोड़ा बहुत आसरा था।

ना जी यह तो हमसे न हो सकेगा| जो महाराज जगतपरकास और महारानी कामलता का हम जान–बूझकर घर उजाड़ें और इनकी जो इकलौती लाडली बेटी है, उसको भगा ले जायें और जहाँ तहाँ उसे भटकावें और बनासपत्ति खिलावें और अपने घोड़ें को हिलावें। जब तुम्हारे और उसके माँ बाप में लड़ाई हो रही थी और उनने उस मालिन के हाथ तुम्हें लिख भेजा था जो मुझे अपने पास बुला लो, महाराजों को आपस में लड़ने दो, जो होनी हो सो हो; हम तुम मिलके किसी देश को निकल चलें; उस दिन न समझीं। तब तो वह ताव भाव दिखाया। अब जो वह कुँवर उदैभान और उसके माँ बाप तीनों जी हिरनी हिरन बन गए। क्या जाने किधर होंगे|

उनके ध्यान पर इतनी कर बैठिए जो किसी ने तुम्हारे घराने में न की, अच्छी नहीं। इस बात पर पानी डाल दो; नहीं तो बहुत पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा| तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती, तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलता। पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो। तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर यह भभूत जो बह गया निगोड़ा भूत मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी।"

रानी केतकी ने यह रूखाइयाँ मदनबान की सुनकर हँसकर टाल दिया और कहा – "जिसका जी हाथ में न हो, उसे ऐसी लाखों सूझती है; पर कहने और करने में बहुत सा फेर है। भला यह कोई अँधेर है जो माँ बाप, रावपाट, लाज छोड़कर हिरन के पीछे दौड़ती करछालें मारती फिरूँ। पर अरी तू तो बड़ी बावली चिड़िया है जो यह बात सच जानी और मुझसे लड़ने लगी।"

## रानी केतकी का भभूत लगाकर बाहर निकल जाना और सब छोटे बड़ों का तिलमिलाना

दस पन्द्रह दिन पीछे एक दिन रानी केतकी बिन कहे मदनबान के वह भभूत आँखों में लगा के घर से बाहर निकल गई। कुछ कहने में आता नहीं, जो माँ बाप पर हुई। सब ने यह बात ठहराई, गुरूजी ने कुछ समझकर रानी केतकी को अपने पास बुला लिया होगा। महाराज जगतपरकास और महारानी कामलता राजपाट उस वियोग में छोड़ छाड़ के पहाड़ को चोटी पर जा बैठे और किसी को अपने आँखों में से राज थामने को छोड़ गए। बहुत दिनों पीछे एक दिन महारानी ने महाराज जगतपरकास से कहा – "रानी केतकी का कुछ भेद जानती होगी तो मदनबान जानती होगी। उसे बुलाकर तो पूँछो।" महाराज ने उसे बुलाकर पूछा तो मदनबान ने सब बातें खोलियाँ। रानी केतकी के माँ बाप ने कहा – "अरी मदनबान, जो तू भी उसके साथ होती तो हमारा जी भरता। अब तो वह तुझे ले जाये तो कुछ हचर पचर न कीजियो, उसको साथ ही लीजियो। जितना भभूत है, तू अपने पास रख। हम कहाँ इस राख को चूल्हें में डालेंगे। गुरूजी ने तो दोनों राज का खोज खोया – कुँवर उदैभान और उसके माँ–बाप दोनों अलग हो रहे। जगतपरकास और कामलता को यों तलपट किया। भभूत न होती तो ये बातें काहे को सामने आती" ।
मदनबान भी उनके ढूँढ़ने को निकली। अंजन लगाए हुए रानी केतकी रानी केतकी कहती हुई पड़ी फिरती थी।

बहुत दिनों पीछे कहीं रानी केतकी भी हिरनों की दहाड़ों में उदैभान उदैभान चिघाड़ती हुई आ निकली। एक ने एक को ताड़कर पुकारा – "अपनी तनी आँखें धो डालो।" एक डबरे पर बैठकर दोनों की मुठभेड़ हुई। गले लग के ऐसी रोइयाँ जो पहाड़ों में कूक सी पड़ गई।

दोहरा

छा गई ठंडी साँस झाड़ों में।
पड़ गई कूक सी पहाड़ों में।
दोनों जनियाँ एक अच्छी सी छाँव को ताड़कर आ बैठियाँ और अपनी अपनी दोहराने लगीं।

## बातचीत रानी केतकी की मदनबान के साथ

रानी केतकी ने अपनी बीती सब कही और मदनबान वही अगला झींकना झीका की और उनके माँ–बाप ने जो उनके लिये जोग साधा था, जो वियोग लिया था, सब कहा। जब यह सब कुछ हो चुकी, तब फिर हँसने लगी। रानी केतकी उसके हंसने पर रूककर कहने लगी –

दोहरा
हम नहीं हँसने से रूकते, जिसका जी चाहे हँसे।
है वही अपनी कहावत आ फँसे जी आ फँसे।।
अब तो सारा अपने पीछे झगड़ा झाँटा लग गया।
पाँव का क्या ढूँढ़ती हा जी में काँटा लग गया।।

पर मदनबान से कुछ रानी केतकी के आँसू पुँछते चले। उन्ने यह बात कही – "जो तुम कहीं ठहरो तो मैं तुम्हारे उन उज़ड़े हुए माँ–बाप को ले आऊँ और उन्हीं से इस बात को ठहराऊँ। गोसाई महेंदर गिर जिसकी यह सब करतूत है, वह भी इन्हीं दोनों उजड़े हुओं की मुट्ठी में हैं। अब भी जो मेरा कहा तुम्हारे ध्यान चढ़ें, तो गए हुए दिन फिर सकते हैं। पर तुम्हारे कुछ भावे नहीं, हम क्या पड़ी बकती है। मैं इसपर बीड़ा उठाती हूँ"। बहुत दिनों पीछे रानी केतकी ने इसपर 'अच्छा' कहा और मदनबान को अपने माँ–बाप के पास भेजा और चिट्ठी अपने हाथों से लिख भेजी जो आपसे हो सके तो उस जोगी से ठहरा के आवें।

## मदनबान का महाराज और महारानी के पास फिर आना और चितचाही बात सुनना

मदनबान रानी केतकी को अकेला छोड़कर राजा जगतपरकास और रानी कामलता जिस पहाड़ पर बैठी थीं, झट से आदेश करके आ खड़ी हुई और कहने लगी – "लीजे आप राज कीजे, आपके घर नए सिर से बसा और अच्छे दिन आये। रानी केतकी का एक बाल भी बाँका नहीं हुआ। उन्हीं के हाथों की लिखी चिट्ठी लाई हूँ, आप पढ़ लीजिए। आगे जो जी चाहे सो कीजिए।'

महाराज ने उस बघंबर में से एक रोंगटा तोड़कर आग पर रख के फूँक दिया। बात की बात में गोसाई महेंदर गिर आ पहुँचा और जो कुछ नया सर्वांग जोगी–जागिन का आया, आँखों देखा; सबको छाती लगाया और कहा –

"बघंबर इसी लिये तो मैं सौंप गया था कि जो तुम पर कुछ हो तो इसका एक बाल फूँक दीजियो। तुम्हारी यह गत हो गई । अब तक क्या कर रहे थे और किन नींदों में सोते थे? पर तुम क्या करो यह खिलाड़ी जो रूप चाहे सौ दिखावे, जो नाच चाहे सौ नचावे। भभूत लड़की को क्या देना था। हिरनी हिरन उदैभान और सूरजभान उसके बाप और लछमीबास उनकी माँ को मैंने किया था। फिर उन तीनों को जैसा का तैसा करना कोई बड़ी बात न थी। अच्छा, हुई सो हुई। अब उठ चलो, अपने राज पर विराजो और ब्याह को ठाट करो। अब तुम अपनी बेटी को समेटो, कुँवर उदैभान को मैंने अपना बेटा किया और उसको लेके मैं ब्याहने चढ़ूँगा।"

महाराज यह सुनते ही अपनी गद्दी पर आ बैठे और उसी घड़ी यह कह दिया "सारी छतों और कोठों को गोटे से मढ़ो और सोने और रूपे के सुनहरे रूपहरे सेहरे सब झाड़ पहाड़ों पर बाँध दो और पेड़ों में मोती की लड़ियाँ बाँध दो और कह दो, चालीस दिन रात तक जिस घर में नाच आठ पहर न रहेगा, उस घर वाले से मैं रूठ रहूँगा, और छः महिने कोई चलनेवाला कहीं न ठहरे। रात दिन चला जावे।" इस हेर फेर में वह राज था। सब कहीं यही डौल था।

## जाना महाराज, महारानी और गुसाई महेंदर गिर का रानी केतकी के लिये

फिर महाराज और महारानी और महेंदर गिर मदनबान के साथ जहाँ रानी केतकी चुपचाप सुन खींचे हुए बैठी हुई थी, चुप चुपाते वहाँ आन पहुँचे। गुरूजी ने रानी केतकी को अपने गोद में लेकर कुँवर उदैभान का चढ़ावा दिया और कहा – तुम अपने माँ–बाप के साथ अपने घर सिधारो। अब मैं बेटे उदैभान को लिये हुये आता हूँ।"

गुरूजी गोसाई जिनको दंडित है, सो तो वह सिधारते हैं। आगे जो होगी सो कहने में आवेंगी – यहाँ पर धूम धाम और फैलावा अब ध्यान कीजिये। महाराज जगतपरकास ने अपने सारे देश में कह दिया – "यह पुकार दे जो यह न करेगा उसकी बुरी गत होवेगी। गाँव गाँव में अपने सामने छिपोले बना बना के सूहे कपड़े उनपर लगा के मोट धनुष की और गोखरू, रूपहले सुनहरे की किरनें और डाँक टाँक टाँक रक्खो और जितने बड़ पीपल नए पुराने जहाँ जहाँ पर हों, उनके फूल के सेहरे बड़े बड़े ऐसे जिसमें सिर से लगा पैर तलक पहुँचे, बाँधो।

चौतुक्का

पौदों ने रंगा के सूहे जोड़े पहने। सब पाँव में डालियों ने तोड़े पहने।।
बूटे बूटे ने फूल फूल के गहने पहने। जो बहुत न थे तो थोड़े थोड़े पहने।।

जितने डहडहे और हरियावल फल पात थे, सब ने अपने हाथ में चहचही मेहंदी की रचावट के साथ जितनी सजावट में समा सके, कर लिये और जहाँ जहाँ नयी ब्याही दुलहिनें नन्हीं नन्हीं फलियों की और सुहागिनें नई नई कलियों के जोड़े पंखुड़ियों के पहने हुए थीं। सब ने अपनी गोद सुहाय और प्यार के फूल और फलों से भरी और तीन बरस का पैसा सारे

उस राजा के राज भर में जो लोग दिया करते थे, जिस ढब से हो सकता था खेती बारी करके, हल जोत के और कपड़ा लत्ता बेंचकर सो सब उनको छोड़ दिया और कहा जो अपने अपने घरों में बनाव की ठाट करें। और जितने राज भर में कुएँ थे, खँड़सालों की खँडसालें उनमें उड़ेल गई और सारे बनों और पहाड़ तनियाँ में लाल पटों की झमझमाहट रातों को दिखाई देने लगी। और जितनी झीलें थीं उनमें कुसुम और टेसू और हरसिंगार पड़ गया और केसर भी थोड़ी थोड़ी घोले में आ गई।

फुनगे से लगा जड तलक जितने झाड़ झंखाड़ों में पत्ते और पत्ती बँधी थीं, उनपर रूपहरी सुनहरी डाँक गोंद लगाकर चिपका दिया और सबों को कह दिया जो सही पगड़ी और बागे बिन कोई किसी डौल किसी रूप से फिर चले नहीं। और जितने गवैये, बजवैए, भांड-भगतिए रहस धारी और संगीत पर नाचनेवाले थे, सबको कह दिया जिस जिस गाँव में जहाँ जहाँ हों अपनी अपनी ठिकानों से निकलकर अच्छे अच्छे बिछौने बिछाकर गाते-नाचते धूम मचाते कूदते रहा करें।

ढूँढ़ना गोसाई महेंदर गिर का कुँवर उदैभान और
उसके माँ बाप को, न पाना और बहुत तलमलाना

यहाँ की बात और चुहलें जो कुछ है, सो यहीं रहने दो। अब आगे यह सुनो। जोगी महेंदर और उसके **90** लाख जतियों ने सारे बन के बन छान मारे, पर कहीं कुँवर उदैभान और उसके माँ-बाप का ठिकाना न लगा। तब उन्होंने राजा इंदर को चिट्ठी लिख भेजी। उस चिट्ठी में यह लिखा हुआ था - 'इन तीनों जनों को हिरनी हिरन कर डाला था। अब उनको ढूँढ़ता फिरता हूँ। कहीं नहीं मिलते और मेरी जितनी सकत थी, अपनी सी बहुत कर चुका हूँ। अब मेरे मुंह से निकला कुँवर उदैभान मेरा बेटा मैं उसका बाप और ससुराल में सब ब्याह का ठाट हो रहा है। अब मुझपर विपत्ति गाढ़ी पड़ी जो तुमसे हो सके, करो।'

राजा इंदर चिट्ठी का देखते ही गुरू महेंदर को देखने को सब इंद्रासन समेट कर आ पहुँचे और कहा - "जैसा आपका बेटा वैसा मेरा बेटा। आपके साथ मैं सारे इंद्रलोक को समेटकर कुँवर उदैभान को ब्याहने चढूँगा।" गोसाई महेंदर गिर ने राजा इंद्र से कहा - हमारी आपकी एक ही बात है, पर कुछ ऐसा सुझाइए जिससे कुँवर उदैभान हाथ आ जावे।" राजा इंदर ने कहा - जितने गवैए और गायनें हैं, उन सबको साथ लेकर हम और आप सारे बनों में फिरा करें। कहीं न कहीं ठिकाना लग जाएगा।" गुरू ने कहा - अच्छा।

हिरन हिरनी का खेल बिगड़ना और कुँवर उदैभान
और उसके माँ बाप का नए सिरे से रूप पकड़ना

एक रात राजा इंदर और गोसाई महेंदर गिर निखरी हुई चाँदनी में बैठे राग सुन रहे थे, करोड़ों हिरन राग के ध्यान में चौकड़ी भूल आस पास सर झुकाए खड़े थे। इसी में राजा इंदर ने कहा - "इन सब हिरनों पर पढ़के मेरी सकत गुरू की भगत फूरे मंत्र ईश्वरोवाच पढ़ के एक एक छींटा पानी का दो।" क्या जाने वह पानी कैसा था। छीटों के साथ ही कुँवर उदैभान और उसके माँ बाप तीनों जनें हिरनों का रूप छोड़ कर जैसे थे वैसे हो गए। गोसाई महेंदर गिर और राजा इंदर ने उन तीनों को गले लगाया और बड़ी आवभगत से अपने पास बैठाया और वही पानी घड़ा अपने लोगों को देकर वहाँ भेजवाया जहाँ सिर मुंडवाते ही ओले पड़े थे।

राजा इंदर के लोगों ने जो पानी के छीटें वही ईश्वरोवाच पढ़ के दिए तो जो मरे थे सब उठ खड़े हुए; और जो अधमुए भाग बचे थो, सब सिमट आए। राजा इंदर और महेंदर गिर कुँवर उदैभान और राजा सूरजभान और रानी लक्ष्मीबास को लेकर एक उड़न - खटोलो पर बैठकर बड़ी धुमधाम से उनको उनके राज पर बिठाकर ब्याह का ठाट करने लगे। पसेरियन हीरे-मोती उन सब पर से निछावर हुए।

राजा सूरजभान और कुँवर उदैभान और रानी लछमीबास चितचाही असीस पाकर फूली न समाई और अपने सारे राज को कह दिया – "जेवर भोरे के मुंह खोल दो। जिस जिस को जो जा उकत सूझे, बोल दो। आज के दिन का सा कौन सा दिन होगा। हमारी आँखों की पुतलियों का जिससे चैन हैं, उस लाडले इकलौते का ब्याह और हम तीनों का हिरनों के रूप से निकलकर फिर राज पर बैठना। पहले तो यह चाहिए जिन जिन की बेटियाँ बिन ब्याहियाँ हों, उन सब को उतना कर दो जो अपनी जिस चाव चीज से चाहें; अपनी गुड़ियाँ सँवार के उठावें; और तब तक जीती रहें, सब की सब हमारे यहाँ से खाया पकाया रींधा करें। और सब राज भर की बेटियाँ सदा सुहागनें बनी रहें और सूहे रातें छुट कभी कोई कुछ न पहना करें और सोने रूपे के केवाड़ गंगाजमुनी सब घरों में लग जाएँ और सब कोठों के माथे पर केसर और चंदन के टीके लगे हों।

और जितने पहाड़ हमारे देश में हों, उतने ही पहाड़ सोने रूपे के आमने सामने खड़े हो जाएँ और सब डाँगों की चोटियाँ मोतियों की माँग ताँगे भर जाएँ; और फूलों के गहने और बँधनवार से सब झाड़ पहाड़ लदे फँदे रहें; और इस राज से लगा उस राज तक अधर में छत सी बाँध दो। और चप्पा चप्पा कहीं ऐसा न रहें जहाँ भीड़ भड़क्का धूम धड़क्का न हो जाय। फूल बहुत सारे बहा दो जो नदियाँ जैसे सचमुच फूल की बहियाँ हैं यह समझा जाय। और यह डौल कर दो, जिधर से दुल्हा को ब्याहने चढ़े सब लाड़ली और हीरे पन्ने पोखराज की उमड़ में इधर और उधर कबैल की टट्टियाँ बन जायँ और क्यारियाँ सी हो जायें जिनके बीचो बीच से हो निकलें। और कोई डाँग और पहाड़ी तली का चढ़ाव उतार ऐसा दिखाई न दे जिसकी गोद पंखुरियों से भरी हुई न हों।

## राजा इंदर का कुँवर उदैभान का साथ करना

राजा इंदर ने कह दिया, 'वह रंडियाँ चुलबुलियाँ जो अपने मद में उड़ चलियाँ हैं, उनसे कह दो – सोलहो सिंगार, बास गूँधमोती पिरो अपने अचरज और अचंभे के उड़न खटोलों का इस राज से लेकर उस राज तक अधर में छत बाँध दो। कुछ इस रूप से उड़ चलो जो उड़न–खटोलियों की क्यारियाँ और फुलवारियाँ सैंकड़ों कोस तक हो जायें। और अधर ही अधर मृदंग, बीन, जलतरंग, मुँहचग, घुँगरू, तबले घंटताल और सैकड़ों इस ढब के अनोखे बाजे बजते आएँ। और उन क्यारियों के बीच में हीरे, पुखराज, अनवेधे मोतियों के झाड़ और लाल पटों की भीड़भाड़ की झमझमाहट दिखाई दे और इन्हीं लाल पटों में से हथफूल, फूलझड़ियाँ, जाही जुही, कदम, गेंदा, चमेली इस ढब से छूटने लगें जो देखनेवालों को छातियों के किवाड़ खुल जायें। और पटाखे जो उछल उछल फूटें, उनमें हँसती सुपारी और बोलती करोती ढल पड़े। और जब तुम सबको हँसी आवे, तो चाहिए उस हँसी से मोतियों की लड़ियाँ झड़ें जो सबके सब उनको चुन चुनके राजे हो जायें।

डोमनियों के जो रूप में सारंगियाँ छेड़ छेड़ सोहलें गाओ। दोनों हाथ हिलाके उगलियाँ बचाओ। जो किसी ने न सुनी हो, वह ताव भाव वह चाव दिखाओ; ठुड्डियाँ गिनगिनाओ, नाक भँवे तान तान भाव बताओ; कोई छुटकर न रह जाओ। ऐसा चाव लाखों बरस में होता है।' जो जो राजा इंदर ने अपने मुँह से निकाला था, आँख की झपक के साथ वही होने लगा। और जो कुछ उन दोनों महाराजों ने कह दिया था, सब कुछ उसी रूप से ठीक ठीक हो गया। जिस ब्याह की यह कुछ फैलावट और जमावट और रचावट ऊपर तले इस जमघट के साथ होगी, और कुछ फैलावा क्या कुछ होगा, यही ध्यान कर लो।

## ठाटो करना गोसाई महेंदर गिर का

जब कुँवर उदैभान को वे इस रूप से ब्याहने चढ़े और वह ब्राह्मन जो अँधेरी कोठरी से मुँदा हुआ था, उसको भी साथ ले लिया और बहुत से हाथ जोड़े और कहा – ब्राह्मन देवता हमारे कहने सुनने पर न जाओ। तुम्हारी जो रीत चली आई है, बताते चलो।

एक उड़न खटोले पर वह भी रीत बता के साथ हो लिया। राजा इंदर और गोसाई महेंदर गिर ऐरावत हाथी ही पर झूलते

झालते देखते भालते चले जाते थे। राजा सूरजभान दुल्हा के घोड़े के साथ माला जपता हुआ पैदल था। इसी में एक सन्नाटा हुआ। सब घबरा गए। उस सन्नाटे में से जो वह 90 लाख अतीत थे, अब जोगी से बने हुए सब माले मोतियों की लड़ियों की गले में डाले हुए और गातियाँ उस ढब की बाँधे हुए मिरिगछालों और बघंबरों पर आ ठहर गए। लोगों के जियों में जितनी उमंगे छा रही थी, वह चौगुनी पचगुनी हो गई। सुखपाल और चंडोल और रथों पर जितनी रानियाँ थीं, महारानी लछमीदास के पीछे चली आतियाँ थीं। सब को गुदगुदियाँ सी होने लगीं इसी में भरथरी का सवाँग आया।

कहीं जोगी जातियाँ आ खड़े हुए। कहीं कहीं गोरख जागे कहीं मुछंदारनाथ भागे। कहीं मच्छ कच्छ बराह संमुख हुए, कहीं परसुराम, कहीं बामन रूप, कहीं हरनाकुस और नरसिंह, कहीं राम लछमन सीता सामने आई, कहीं रावन और लंका का बखेड़ा सारे का सारा सामने दिखाई देने लगा कहीं कन्हैया जी की जनम अष्टमी होना और वसुदेव का गोकुल ले जाना और उनका बढ़ चलना, गाए चरानी और मुरली बजानी और गोपियों से धूमें मचानी और राधिका रहस और कुब्जा का बस कर लेना, वही करील की कुंजे, बसीबट, चीरघाट, वृंदावन, सेवाकुंज, बरसाने में रहना और कन्हैया से जो जो हुआ था, सब का सब ज्यों का त्यों आँखों में आना और द्वारका जाना और वहाँ सोने का घर बनाना, इधर बिरिज को न आना और सोलह सौ गोपियों का तलमलाना सामने आ गया। उन गोपियों में से ऊधो क हाथ पकड़कर एक गोपी के इस कहने ने सबको रूला दिया जो इस ढब से बोल के उनसे रूँधे हुए जी को खोले थी।

चौचुक्का<br>
जब छांड़ि करील को कुँजन को हरि द्वारिका जीउ माँ जाय बसे।<br>
कलधौत के धाम बनाए घने महराजन के महराज भये।<br>
तज मोर मुकुट अरू कामरिया कछु औरहि नाते जाड़ लिए।<br>
धरे रूप नए किए नेह नए और गइया चरावन भूल गए।

### अच्छापन घाटों का

कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनों राज की नदियों में थे, पक्के चाँदी के थक्के से होकर लोगों को हक्का बक्का कर रहे थे। निवाड़े, भौलिए, बजरे, लचके, मोरपंखी, स्यामसुंदर, रामसुंदर, और जितनी ढब की नावे थीं, सुनहरी रूपहरी, सजी सजाई कसी कसाई और सौ सौ लचकें खातियाँ, आतियाँ, जातियाँ, ठहरातियाँ, फिरातियाँ थीं। उन सभी पर खचाखच कंचनियाँ, रामजनियाँ, डोमिनियाँ भरी हुई अपने अपने करतबों में नाचती गाती बजाती कूदती फाँदती घूमें मचातियाँ अँगड़ातियाँ जम्हातियाँ उँगलियाँ नचातियाँ और ढुली पड़तियाँ थीं और कोई नाव ऐसी न थी जो सोने रूपे के पत्तरों से मढ़ी हुई और सवारी से भरी हुई न हो। और बहुत सी नावों पर हिंडोले भी उसी डब के थे। उनपर गायनें बैठी झुलती हुई सोहनी, केदार, बागेसरी, काम्हड़ों में गा रही थीं। दल बादल ऐसे नेवाड़ों के सब झीलों में छा रहे थे।

### आ पहुँचना कुँवर उदैभान का ब्याह के ठाट के साथ दूल्हन की ड्योढ़ी पर

इस धूमधाम के साथ कुँवर उदैभान सेहरा बाँधे दूल्हन के घर तक आ पहुँचा और जो रीतें उनके घराने में चली आई थीं, होने लगियाँ। मदनबान रानी केतकी से ठठोली करके बोली – 'लीजिए, अब सुख समेटिए, भर भर झोली। सिर निहुराए, क्या बैठी हो, आओ न टुक हम तुम मिल के झरोखों से उन्हें झाँकें।'' रानी केतकी ने कहा – 'न री, ऐसी नीच बातें न कर। हमें ऐसी क्या पड़ी जो इस घड़ी ऐसी झेल कर रेल पेल ऐसी उठें और तेल फुलेल भरी हुई उनके झाँकने को जा खड़ी हों।'' मदनबान उसकी इस रूखाई को उड़नझाई की बातों में डालकर बोली –

बोलचाल मदनबान की अपनी बोली के दोनों में –<br>
यों तो देखो वा छड़े जी वा छड़े जी वा छड़े।<br>
हम से जो आने लगी हैं आप यों मुहरे कड़े।।

छान मारे बन के बन थे आपने जिनके लिये।
वह हिरन जीवन के मद में हैं बने दूल्हा खड़े।।

तुम न जाओ देखने को जो उन्हें क्या बात है।
ले चलेंगी आपको हम हैं इसी धुन पर अड़े।
है कहावत जी को भावै और यों मुड़िया हिले।
झांकने के ध्यान में उनके हैं सब छोटे बड़े।।
साँस ठंडी भरके रानी केतकी बोली कि सच।
सब तो अच्छा कुछ हुआ पर अब बखेड़े में पड़े।।

### वारी फेरी होना मदनबान का रानी केतकी पर और उसकी बास सूँघना और उनींदे पन से ऊँघना

उस घड़ी मदनबान को रानी केतकी का बादले का जूड़ा और भीना भीनापन और अँखड़ियों का लजाना और बिखरा बिखरा जाना भला लग गया, तो रानी केतकी की
बास सूँघने लगी और अपनी आँखों को ऐसा कर लिया जैसे कोई ऊँघने लगता है। सिर से लगा पाँव तक वारी फेरी होके तलवे सुहलाने लगी। तब रानी केतकी झट एक धीमी सी सिसकी लचके के साथ ले ऊठी ः मदनबान बोली – 'मेरे हाथ के टहोके से, वही पांव का छाला दुख गया होगा जो हिरनों की ढूँढ़ने में पड़ गया था।''
इसी दुःख की चुटकी से रानी केतकी ने मसोस कर कहा – ''काटा अड़ा तो अड़ा, छाला पड़ा तो पड़ा, पर निगोड़ी तू क्यों मेरी पनछाला हुई।''

### सराहना रानी केतकी के जोबन का

केतकी का भला लगना लिखने पढ़ने से बाहर है। वह दोनों भैवों का खिंचावट और पुतलियों में लाज की समावट और नुकीली पलकों की रूँधावट हँसी की लगावट और दंतड़ियों में मिस्सी की ऊदाहट और इतनी सी बात पर रूकावट है। नाक और त्योरी का चढ़ा लेना, सहेलियों को गालियाँ देना और चल निकलना और हिरनों के रूप से करछालें मारकर परे उछलना कुछ कहने में नहीं आता।

### सराहना कुँवर जी के जोबन का

कुँवर उदैभान के अच्छेपन का कुछ हाल लिखना किससे हो सके। हाय रे उनके उभार के दिनों का सुहानापन, चाल ढाल का अच्छन बच्छन, उठती हुई कोंपल की काली फबन और मुखड़े का गदराया हुआ जोबन जैसे बड़े तड़के धुंधले के हरे भरे पहाड़ों की गोद से सूरज की किरनें निकल आती है। यही रूप था। उनकी भींगी मसों से रस टपका पड़ता था। अपनी परछाँई देखकर अकड़ता जहाँ जहाँ छाँव थी, उसका डौल ठीक ठीक उनके पाँव तले जैसे धूप थी।

### दूल्हा का सिंहासन पर बैठना

दूल्हा उदैभान सिंहासन पर बैठा और इधर उधर राजा इंदर और जोगी महेंदर गिर जम गए और दूल्हा का बाप अपने बेटे के पीछे माला लिये कुछ गुनगुनाने लगा। और नाच लगा होने और अधर में जो उड़न खटोले राजा इंदर के अखाड़े के थे। सब उसी रूप से छत बाँधे थिरका किए। दोनों महारानियाँ समधिन बन के आपस में मिलियाँ चलियाँ और देखने दाखने को कोठों पर चन्दन के किवाड़ों के आड़ तले आ बैठियाँ। सर्वांग संगीत भँड़ताल रहस हँसी होने लगी। जितनी राग रागिनियाँ थीं, ईमन कल्यान, सुध कल्यान, झिंझोटी, कन्हाड़ा, खम्माच, सोहनी, परज, बिहाग, सोरठ, कालंगड़ा,

भैरवी, गीत, ललित भैरी रूप पकड़े हुए सचमुच के जैसे गानेवाले होते हैं, उसी रूप में अपने अपने समय पर गाने लगे और गाने लगियाँ। उस नाच का जो ताव भाव रचावट के साथ हो, किसका मुंह जो कह सके। जितने महाराजा जगतपरकास के सुखचैन के घर थे, माधो बिलास, रसधाम कृष्ण निवास, मच्छी भवन, चंद्र भवन सबके सब लप्पे लपेटे और सच्वी मोतियों की झालरें अपनी अपनी गाँठ में समेटे हुए एक भेस के साथ मतवालों के बैठनेवालों के मुँह चूम रहे थे।

बीचो बीच उन सब घरों के एक आरसी धाम बना था जिसकी छत और किवाड़ और आंगन में आरसी छुट कहीं लकड़ी, ईंट, पत्थर की पुट एक उँगली के पोर बराबर न लगी थी। चाँदनी सा जोड़ा पहने जब रात घड़ी एक रह गई थी। तब रानी केतकी सी दुल्हन को उसी आरसी भवन में बैठकर दूल्हा को बुला भेजा। कुँवर उदैभान कन्हैया सा बना हुआ सिर पर मुकुट धरे सेहरा बाँधे उसी तड़ावे और जमघट के साथ चाँद सा मुखड़ा लिए जा पहुँचा। जिस जिस ढब में ब्राह्मन और पंडित बहते गए और जो जो महाराजों में रीतें होती चली आई थी, उसी डौल से उसी रूप से भँवरी गँठजोड़ा हो लिया।

अब उदैभान और रानी केतकी दोनों मिले।<br>
घास के जो फूल कुम्हालाए हुए थे फिर खिले।।<br>
चैन होता ही न था जिस एक को उस एक बिन।<br>
रहने सहने सो लगे आपस में अपने रात दिन।।<br>
ऐ खिलाड़ी यह बहुत सा कुछ नहीं थोड़ा हुआ।<br>
आन कर आपस में जो दोनों का, गठजोड़ा हुआ।।<br>
चाह के डूबे हुए ऐ मेरे दाता सब तिरें।<br>
दिन फिरे जैसे इन्हों के वैसे दिन अपने फिरें।।

वह उड़नखटोलीवालियाँ जो अधर में छत सी बाँधे हुए थिरक रही थी, भर भर झोलियाँ और मुट्ठियाँ हीरे और मोतियाँ से निछावर करने के लिए उतर आइयाँ और उड़न-खटोले अधर में ज्यों के त्यों छत बाँधे हुए खड़े रहे। और वह दूल्हा दूल्हन पर से सात सात फेरे वारी फेर होने में पिस गइयाँ। सभों को एक चुपकी सी लग गई। राजा इंदर ने दूल्हन को मुँह दिखाई में एक हीरे का एक डाल छपरखट और एक पेड़ी पुखराज की दी और एक परजात का पौधा जिसमें जो फल चाहो सो मिले, दूल्हा दूल्हन के सामने लगा दिया। और एक कामधेनू गाय की पठिया बछिया भी उसके पीछे बाँध दी और इक्कीस लौंड़िया उन्हीं उड़न-खटोलेवालियों में से चुनकर अच्छी से अच्छी सुथरी से सुथरी गाती बजातियाँ सीतियाँ पिरोतियाँ और सुघर से सुघर सौंपी और उन्हें कह दिया - "रानी केतकी छूट उनके दूल्हा से कुछ बात चीत न रखना, नहीं तो सब की सब पत्थर की मूरत हो जाओगी और अपना किया पाओगी।" और गोसाई महेंदर गिर ने बावन तोले पाख रत्ती जो उसकी इक्कीस चुटकी आगे रक्खी और कहा - "यह भी एक खेल है। जब चाहिए, बहुत सा ताँबा गलाके एक इतनी सी चुटकी छोड़ दीजै; कंचन हो जायेगा।" और जोगी जी ने सभों से यह कह दिया- "जो लोग उनके ब्याह में जागे हैं, उनके घरों में चालीस दिन रात सोने की नदियों के रूप में मनि बरसे। जब तक जिएँ, किसी बात को फिर न तरसें।"

**9** लाख **99** गायें सोने रूपे की सिगौरियों की, जड़ाऊ गहना पहने हुए, घुँघरू छमछमातियाँ महंतों को दान हुई और सात बरस का पैसा सारे राज को छोड़ दिया गया। बाईस सौ हाथी और छत्तीस सौ ऊँट रूपयों के तोड़े लादे हुए लुटा दिए। कोई उस भीड़भाड़ में दोनों राज का रहनेवाला ऐसा न रहा जिसको घोड़ा, जोड़ा, रूपयों का तोड़ा, जड़ाऊ कपड़ों के जोड़े न मिले हो। और मदनबान छुट दूल्हा दूल्हन के पास किसी का हियाव न था जो बिना बुलाये चली जाए। बिना बुलाए दौड़ी आए तो वही और हँसाए तो वही हँसाए। रानी केतकी के छेड़ने के लिए उनके कुँवर उदैभान को कुँवर क्योड़ा जी कहके पुकारती थी और ऐसी बातों को सौ सौ रूप से सँवारती थी।

दोहरा

घर बसा जिस रात उन्हीं का तब मदनबान उसी घड़ी।

कह गई दूल्हा दुल्हन से ऐसी सौ बातें कड़ी।।
जी लगाकर केवड़े से केतकी का जी खिला।
सच है इन दोनों जियों को अब किसी की क्या पड़ी।।
क्या न आई लाज कुछ अपने पराए की अजी।
थी अभी उस बात की ऐसी भला क्या हड़बड़ी।।
मुसकरा के तब दुल्हन ने अपने घूँघट से कहा।
मोगरा सा हो कोई खोले जो तेरी गुलछड़ी।।
जी में आता है तेरे होठों को मलवा लूँ अभी।
बल बें ऐं रंडी तेरे दाँतों की मिस्सी की घड़ी।।

## 'पद्मा और लिली' सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

पद्मा के चन्द्र-मुख पर षोडश कला की शुभ्र चन्द्रिका अम्लान खिल रही है। एकान्त कुंज की कली-सी प्रणय के वासन्ती मलयस्पर्श से हिल उठती, विकास के लिए व्याकुल हो रही है।

पद्मा की प्रतिभा की प्रशंसा सुनकर उसके पिता ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट पण्डित रामेश्वरजी शुक्ल उसके उज्ज्वल भविष्य पर अनेक प्रकार की कल्पनाएँ किया करते हैं। योग्य वर के अभाव से उसका विवाह अब तक रोक रक्खा है। मैट्रिक परीक्षा में पद्मा का सूबे में पहला स्थान आया था। उसे वृत्ति मिली थी। पत्नी को, योग्य वर न मिलने के कारण विवाह रूका हुआ है, शुक्लजी समझा देते हैं। साल-भर से कन्या को देखकर माता भविष्य-शंका से कांप उठती हैं।

पद्मा काशी विश्वविद्यालय के कला-विभाग में दूसरे साल की छात्रा है। गर्मियों की छुट्टी है, इलाहाबाद घर आयी हुई है। अबके पद्मा का उभार, उसका रंग-रूप, उसकी चितवन-चलन-कौशल-वार्तालाप पहले से सभी बदल गये हैं। उसके हृदय में अपनी कल्पना से कोमल सौन्दर्य की भावना, मस्तिष्क में लोकाचार से स्वतन्त्र अपने उच्छृंखल आनुकूल्य के विचार पैदा हो गये हैं। उसे निस्संकोच चलती - फिरती, उठती-बैठती, हँसती-बोलती देखकर माता हृदय के बोलवाले तार से कुछ और ढीली तथा बेसुरी पड़ गयी हैं।

एक दिन सन्ध्या के डूबते सूर्य के सुनहले प्रकाश में, निरभ्र नील आकाश के नीचे, छत पर, दो कुर्सियाँ डलवा माता और कन्या गंगा का रजत-सौन्दर्य एकटक देख रही थी। माता पद्मा की पढ़ाई, कॉलेज की छात्राओं की संख्या, बालिकाओं के होस्टल का प्रबन्ध आदि बातें पूछती हैं, पद्मा उत्तर देती है। हाथ में है हाल की निकली स्ट्रैंड मैगजीन की एक प्रति। तस्वीरें देखती जाती है। हवा का एक हलका झोंका आया, खुले रेशमी बाल, सिर से साड़ी को उड़ाकर, गुदगुदाकर, चला गया। "सिर ढक लिया करो, तुम बेहया हुई जाती हो।" माता ने रूखाई से कहा। पद्मा ने सिर पर साड़ी की ज़रीदार किनारी चढ़ा ली, आँखें नीची कर किताब के पन्ने उलटने लगी।
"पद्मा!" गम्भीर होकर माता ने कहा।
"जी!" चलते हुए उपन्यास की एक तस्वीर देखती हुई नम्रता से बोली।

मन से अपराध की छाप मिट गयी, माता की वात्सल्य-सरिता में कुछ देर के लिए बाढ़-सी आ गयी, उठते उच्छ्वास से बोली, "कानपुर में एक नामी वकील महेशप्रसाद त्रिपाठी हैं।"
"हूँ".... एक दूसरी तस्वीर देखती हुई।
"उनका लड़का आगरा युनिवर्सिटी से एम•ए• में इस साल फर्स्ट क्लास फर्स्ट आया है।"

"हूँ" पद्मा ने सिर उठाया। आँखें प्रतिभा से चमक उठीं।
"तेरे पिताजी को मैंने भेजा था, वह परसों देखकर लौटे हैं। कहते थे, लड़का हीरे का टुकड़ा, गुलाब का फूल है। बातचीत दस हजार में पक्की हो गयी है।"
"हूँ" मोटर की आवाज पा पद्मा उठकर छत के नीचे देखने लगी। हर्ष से हृदय में तरंगें उठने लगीं। मुस्किराहट दबाकर आप ही में हँसती हुई चुपचाप बैठ गयी।

माता ने सोचा, लड़की बड़ी हो गयी है, विवाह के प्रसंग से प्रसन्न हुई है। खुलकर कहा, "मैं बहुत पहले से तेरे पिताजी से कह रही थी, वह तेरी पढ़ाई के विचार में पड़े थे।"
नौकर ने आकर कहा, "राजेन बाबू मिलने आये हैं।"
पद्मा की माता ने एक कुर्सी डाल देने के लिए कहा। कुर्सी डालकर नौकर राजेन बाबू को बुलाने नीचे उतर गया। तब तक दूसरा नौकर रामेश्वरजी का भेजा हुआ पद्मा की माता के पास आया। कहा, "जरूरी काम से कुछ देर के लिए पण्डितजी जल्द बुलाते हैं।"

जीने से पद्मा की माता उतर रही थीं, रास्ते में राजेन्द्र से भेंट हुई। राजेन्द्र ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। पद्मा की माता ने कन्धे पर हाथ रखकर आशिर्वाद दिया और कहा, "चलो, पद्मा छत पर है, बैठो, मैं अभी आती हूँ।"

राजेन्द्र जज का लड़का है, पद्मा से तीन साल बड़ा, पढ़ाई में भी। पद्मा अपराजिता बड़ी-बड़ी आँखों की उत्सुकता से प्रतीक्षा में थी, जब से छत से उसने देखा था।
"आइए, राजेन बाबू, कुशल तो है?" पद्मा ने राजेन्द्र का उठकर स्वागत किया। एक कुर्सी की तरफ बैठने के लिए हाथ से इंगित कर खड़ी रही। राजेन्द्र बैठ गया, पद्मा भी बैठ गयी।
"राजेन, तुम उदास हो!"
"तुम्हारा विवाह हो रहा है?" राजेन्द्र ने पूछा।
पद्मा उठकर खड़ी हो गयी। बढ़कर राजेन्द्र का हाथ पकड़कर बोली, "राजेन, तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं? जो प्रतिज्ञा मैंने की है, हिमालय की तरह उस पर अटल रहूँगी।"

पद्मा अपनी कुर्सी पर बैठ गयी। मैगजीन खोल उसी तरह पन्नों में नज़र गड़ा दी। जीने से आहट मालूम दी।

माता निगरानी की निगाह से देखती हुई आ रही थीं। प्रकृति स्तब्ध थी। मन में वैसी ही अन्वेषक चपलता।
"क्यों बेटा, तुम इस साल बी॰ए॰ हो गये?" हँसकर पूछा।
"जी हाँ।" सिर झुकाये हुए राजेन्द्र ने उत्तर दिया।
"तुम्हारा विवाह कब तक करेंगे तुम्हारे पिताजी, जानते हो?"
"जी नहीं।"
"तुम्हारा विचार क्या है?"

"आप लोगों से आज्ञा लेकर विदा होने के लिए आया हूँ, विलायत भेज रहे हैं पिताजी।" नम्रता से राजेन्द्र ने कहा।
"क्या बैरिस्टर होने की इच्छा है?" पद्मा की माता ने पूछा।
"जी हाँ।"
"तुम साहब बनकर विलायत से आना और साथ एक मेम भी लाना, मैं उसकी शुद्धि कर लूँगी।" पद्मा हँसकर बोली।

नौकर ने एक तश्तरी पर दो प्यालों में चाय दी – दो रकाबियों पर कुछ बिस्कुट और केक। दूसरा एक मेज़ उठा लिया। राजेन्द्र और पद्मा की कुर्सी के बीच रख दी, एक धुली तौलिया ऊपर से बिछा दी। सासर पर प्याले तथा रकाबियों पर बिस्कुट और केक रखकर नौकर पानी लेने गया, दूसरा आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ा रहा।

"मैं निश्चय कर चुका हूँ, जबान भी दे चुका हूँ। अबके तुम्हारी शादी कर दूँगा।" पण्डित रामेश्वरजी ने कन्या से कहा।
"लेकिन मैंने भी निश्चय कर लिया है, डिग्री प्राप्त करने से पहले विवाह न करूँगी।" सिर झुकाकर पद्मा ने जवाब दिया।
"मैं मैजिस्ट्रेट हूँ बेटी, अब तक अक्ल ही की पहचान करता रहा हूँ, शायद इससे ज्यादा सुनने की तुम्हें इच्छा न होगी।" गर्व से रामेश्वरजी टहलने लगे।

पद्मा के हृदय के खिले गुलाब की कुल पंखड़िया हवा के एक पुरजोर झोंके से काँप उठीं। मुक्ताओं-सी चमकती हुई दो बूँदें पलकों के पत्रों से झड़ पड़ी। यही उसका उत्तर था।

"राजेन जब आया, तुम्हारी माता को बुलाकर मैंने जीने पर नौकर भेज दिया था, एकान्त में तुम्हारी बातें सुनने के लिए।.. .. तुम हिमालय की तरह अटल हो, मैं भी वर्तमान की तरह सत्य और दृढ़।"
रामेश्वरजी ने कहा, "तुम्हें इसलिए मैंने नहीं पढ़ाया कि तुम कुल-कलंक बनो।"
"आप यह सब क्या कह रहे हैं?"
"चुप रहो। तुम्हें नहीं मालूम? तुम ब्राह्मण-कुल की कन्या हो, वह क्षत्रिय-घराने का लड़का है- ऐसा विवाह नहीं हो सकता।" रामेश्वरजी की साँस तेज चलने लगीं, आँखें भौंहों से मिल गयीं।
"आप नहीं समझे मेरे कहने का मतलब।" पद्मा की निगाह कुछ उठ गयी।
"मैं बातों का बनाना आज दस साल से देख रहा हूँ। तू मुझे चराती है? वह बदमाश... !"
"इतना बहुत है। आप अदालत के अफसर है! अभी-अभी आपने कहा था, अब तक अक्ल की पहचान करते रहे हैं, यह आपकी अक्ल की पहचान है! आप इतनी बड़ी बात राजेन्द्र को उसके सामने कह सकते हैं? बतलाइए, हिमालय की तरह अटल सुन लिया, तो इससे आपने क्या सोचा?"

आग लग गयी, जो बहुत दिनों से पद्मा की माता के हृदय में सुलग रही थी।
"हट जा मेरी नजरों से बाहर, मैं समझ गया।" रामेश्वर जी क्रोध से काँपने लगे।
"आप गलती कर रहे हैं, आप मेरा मतलब नहीं समझे, मैं भी बिना पूछे हुए बतलाकर कमजोर नहीं बनना चाहती।"

पद्मा जेठ की लू में झुलस रही थी, स्थल पद्म-सा लाल चेहरा तम-तमा रहा था। आँखों की दो सीपियाँ पुरस्कार की दो मुक्ताएँ लिये सगर्व चमक रही थीं।

रामेश्वरजी भ्रम में पड़ गये। चक्कर आ गया। पास की कुर्सी पर बैठ गये। सर हथेली से टेककर सोचने लगे। पद्मा उसी तरह खड़ी दीपक की निष्कम्प शिखा-सी अपने प्रकाश में जल रही थी।
"क्या अर्थ है, मुझे बता।" माता ने बढ़कर पूछा।
"मतलब यह, राजेन को सन्देह हुआ था, मैं विवाह कर लूँगी - यह जो पिताजी पक्का कर आये हैं, इसके लिए मैंने कहा था कि मैं हिमालय की तरह अटल हूँ, न कि यह कि मैं राजन के साथ विवाह करूँगी। हम लोग कह चुके थे कि पढ़ाई का अन्त होने पर दूसरी चिन्ता करेंगे।"

पद्मा उसी तरह खड़ी सीधे ताकती रही।
"तू राजेन को प्यार नहीं करती?" आँख उठाकर रामेश्वरजी ने पूछा।
"प्यार? करती हूँ।"
"करती है?"
"हाँ, करती हूँ।"
"बस, और क्या?"
"पिता!"...

पद्मा की आबदार आँखों से आँसुओं के मोती टूटने लगे, जो उसके हृदय की कीमत थे, जिनका मूल्य समझनेवाला वहाँ कोई न था।

माता ने ठोढ़ी पर एक उँगली रख रामेश्वरजी की तरफ देखकर कहा, "प्यार भी करती है, मानती भी नहीं, अजीब लड़की है।"
"चुप रहो।" पद्मा की सजल आँखें भौंहों से सट गयीं, "विवाह और प्यार एक बात है? विवाह करने से होता है, प्यार आप होता है। कोई किसी को प्यार करता है, तो वह उससे विवाह भी करता है? पिताजी जज साहब को प्यार करते हैं, तो क्या इन्होंने उनसे विवाह भी कर लिया है?"
रामेश्वरजी हँस पड़े।

•••

रामेश्वरजी ने शंका की दृष्टि से डॉक्टर से पूछा, "क्या देखा आपने डॉक्टर साहब?"
"बुखार बड़े जोर का है, अभी तो कुछ कहा नहीं जा सकता।

जिस्म की हालत अच्छी नहीं, पूछने से कोई जवाब भी नहीं देती। कल तक अच्छी थी, आज एकाएक इतने जोर का बुखार, क्या सबब है?" डॉक्टर ने प्रश्न की दृष्टि से रामेश्वरजी की तरफ देखा।

रामेश्वरजी पत्नी की तरफ देखने लगे।

डाक्टर ने कहा, "अच्छा, मैं एक नुस्खा लिखे देता हूँ, इससे जिस्म की हालत अच्छी रहेगी। थोड़ी-सी बर्फ मँगा लीजिएगा। आइस-बैग तो क्यों होगा आपके यहाँ? एक नौकर मेरे साथ भेज दीजिए, मैं दे दूँगा। इस वक्त एक सौ चार डिग्री बुखार है। बर्फ डालकर सिर पर रखिएगा। एक सौ एक तक आ जाय, तब जरूरत नहीं।"

डॉक्टर चले गये। रामेश्वरजी ने अपनी पत्नी से कहा, "यह एक दूसरा फसाद खड़ा हुआ। न तो कुछ कहते बनता है, न करते। मैं कौम की भलाई चाहता था, अब खुद ही नकटों का सिरताज हो रहा हूँ। हम लोगों में अभी तक यह बात न थी कि ब्राह्मण की लड़की का किसी क्षत्रिय लड़के से विवाह होता। हाँ, ऊँचे कुल की लड़कियाँ ब्राह्मणों के नीचे कुलों में गयी हैं। लेकिन, यह सब आखिर कौम ही में हुआ है।"
"तो क्या किया जाय?" स्फारित, स्फुरित आँखें, पत्नी ने पूछा।
"जज साहब से ही इसकी बचत पूछूंगा। मेरी अक्ल अब और नहीं पहुँचती।... अरे छीटा!"
"जी!" छीटा चिलम रखकर दौड़ा।
"जज साहब से मेरा नाम लेकर कहना, जल्द बुलाया है।"
"और भैया बाबू को भी बुला लाऊँ?"
"नहीं-नहीं।" रामेश्वरजी की पत्नी ने डाँट दिया।

जज साहब पुत्र के साथ बैठे हुए वार्तालाप कर रहे थे। इंग्लैंड के मार्ग, रहन-सहन, भोजन-पान, अदब-कायदे का बयान कर रहे थे। इसी समय छीटा बँगले पर हाजिर हुआ, और झुककर सलाम किया। जज साहब ने आँख उठाकर पूछा, "कैसे आये छीटाराम?"
"हुजूर को सरकार ने बुलाया है, और कहा है, बहुत जल्द आने के लिए कहना।"
"क्यों?"
"बीबी रानी बीमार हैं, डाक्टर साहब आये थे, और हुजूर... " बाकी छीटा ने कह ही डाला था।
"और क्या?"
"हुजूर... " छीटा ने हाथ जोड़ लिये। उसकी आँखें डबडबा आयीं।

जज साहब बीमारी कड़ी समझकर घबरा गये! ड्राइवर को बुलाया। छीटा चल दिया। ड्राइवर नहीं था। जज साहब ने राजेन्द्र से कहा, "जाओ, मोटर ले आओ। चलें, देखें, क्या बात है।"

राजेन्द्र को देखकर रामेश्वरजी सूख गये। टालने की कोई बात न सूझी। कहा, "बेटा, पद्मा को बुखार आ गया है, चलो, देखो, तब तक मैं जज साहब से कुछ बातें करता हूँ।"

राजेन्द्र उठ गया। पद्मा के कमरे में एक नौकर सिर पर आइस-बैग रक्खे खड़ा था। राजेन्द्र को देखकर एक कुर्सी पलंग के नजदीक रख दी।
"पद्मा!"
"राजेन!"
पद्मा की आँखों से टप-टप गर्म आँसू गिरने लगे। पद्मा को एकटक प्रश्न की दृष्टि से देखते हुए राजेन्द्र ने रूमाल से उसके आँसू पोंछ दिये।
सिर पर हाथ रक्खा, बड़े जोर से धड़क रही थी।

पद्मा ने पलकें मूंद ली, नौकर ने फिर सिर पर आइस-बैग रख दिया।

सिरहाने थरमामीटर रक्खा था। झाड़कर, राजेन्द्र ने आहिस्ते से बगल में लगा दिया। उसका हाथ बगल से सटाकर पकड़े रहा। नज़र कमरे की घड़ी की तरफ थी।

निकालकर देखा, बुखार एक सौ तीन डिग्री था।

अपलक चिन्ता की दृष्टि से देखते हुए राजेन्द्र ने पूछा, "पद्मा, तुम कल तो अच्छी थीं, आज एकाएक बुखार कैसे आ गया?"
पद्मा ने राजेन्द्र की तरफ करवट ली, कुछ न कहा।
"पद्मा, मैं अब जाता हूँ।"

ज्वर से उभरी हुई बड़ी-बड़ी आँखों ने एक बार देखा, और फिर पलकों के पर्दे में मौन हो गयीं।

अब जज साहब और रामेश्वरजी भी कमरे में आ गये।

जज साहब ने पद्मा के सिर पर हाथ रखकर देखा, फिर लड़के की तरफ निगाह फेरकर पूछा, "क्या तुमने बुखार देखा है?"
"जी हाँ, देखा है।"
"कितना है?"
"एक सौ तीन डिग्री।"
"मैंने रामेश्वरजी से कह दिया है, तुम आज यही रहोगे। तुम्हें यहाँ से कब जाना है? - परसों न?"
"जी।"
"कल सुबह बतलाना घर आकर, पद्मा की हालत-कैसी रहती है। और रामेश्वरजी, डॉक्टर की दवा करने की मेरे खयाल से कोई जरूरत नहीं।"
"जैसा आप कहें।" सम्प्रदान-स्वर से रामेश्वरजी बोले।

जज साहब चलने लगे। दरवाजे तक रामेश्वरजी भी गये। राजेन्द्र वहीं रह गया। जज साहब ने पीछे फिरकर कहा, "आप

घबराइए मत, आप पर समाज का भूत सवार है।" मन-ही-मन कहा, "कैसा बाप और कैसी लड़की!

तीन साल बीत गये। पद्मा के जीवन में वैसा ही प्रभात, वैसा ही आलोक भरा हुआ है। वह रूप, गुण, विद्या और ऐश्वर्य की भरी नदी, वैसी ही अपनी पूर्णता से अदृश्य की ओर, वेग से बहती जा रही है। सौन्दर्य की वह ज्योति-राशि स्नेह-शिखाओं से वैसी ही अम्लान स्थिर है। अब पद्मा एम•ए• क्लास में पढ़ती है।

वह सभी कुछ है, पर वह रामेश्वरजी नहीं हैं। मृत्यु के कुछ समय पहले उन्होंने पद्मा को एक पत्र में लिखा था, "मैंने तुम्हारी सभी इच्छाएँ पूरी की हैं, पर अभी तक मेरी एक भी इच्छा तुमने पूरी नहीं की। शायद मेरा शरीर न रहे, तुम मेरी सिर्फ एक बात मानकर चलो- राजेन्द्र या किसी अपर जाति के लड़के से विवाह न करना। बस।"

इसके बाद से पद्मा के जीवन में आश्चर्यकर परिवर्तन हो गया। जीवन की धारा ही पलट गयी। एक अद्भुत स्थिरता उसमें आ गयी। जिस गति के विचार ने उसके पिता को इतना दुर्बल कर दिया था, उसी जाति की बालिकाओं को अपने ढंग पर शिक्षित कर, अपने आदर्श पर लाकर पिता की दुर्बलता से प्रतिशोध लेने का उसने निश्चय कर लिया।

राजेन्द्र बैरिस्टर होकर विलायत से आ गया। पिता ने कहा, "बेटा, अब अपना काम देखो।" राजेन्द्र ने कहा, "जरा और सोच लूँ, देश की परिस्थिति ठीक नहीं।"

"पद्मा!" राजेन्द्र ने पद्मा को पकड़कर कहा।
पद्मा हँस दी। "तुम यहाँ कैसे राजेन?" पूछा।
"बैरिस्टरी में जी नहीं लगता पद्मा, बड़ा नीरस व्यवसाय है, बड़ा बेदर्द। मैंने देश की सेवा का व्रत ग्रहण कर लिया है, और तुम?"
"मैं भी लड़कियाँ पढ़ाती हूँ - तुमने विवाह तो किया होगा?"
"हाँ, किया तो है।" हँसकर राजेन्द्र ने कहा।

पद्मा के हृदय पर जैसे बिजली टूट पड़ी, जैसे तुषार की प्रहत पद्मिनी क्षण भर में स्याह पड़ गयी। होश में आ, अपने को सँभालकर कृत्रिम हँसी रँगकर पूछा,
"किसके साथ किया?"
"लिली के साथ।" उसी तरह हँसकर राजेन्द्र बोला।
"लिली के साथ!" पद्मा स्वर में काँप गयी।
"तुम्हीं ने तो कहा था-विलायत जान और मेम लाना।"

पद्मा की आँखें भर आयीं।
हँसकर राजेन्द्र ने कहा, "यही तुम अंगेजी की एम•ए• हो? लिली के मानी?"

## 'लिहाफ'  इस्मत चुगताई

जब मैं जाड़ों में लिहाफ ओढ़ती हूँ तो पास की दीवार पर उसकी परछाई हाथी की तरह झूमती हुई मालूम होती है। और एकदम से मेरा दिमाग बीती हुई दुनिया के पर्दों में दौड़ने-भागने लगता है। न जाने क्या कुछ याद आने लगता है।

माफ कीजियेगा, मैं आपको खुद अपने लिहाफ़ का रूमानअंगेज़ ज़िक्र बताने नहीं जा रही हूँ, न लिहाफ़ से किसी किस्म का रूमान जोड़ा ही जा सकता है। मेरे ख़याल में कम्बल कम आरामदेह सही, मगर उसकी परछाई इतनी भयानक नहीं होती जितनी – जब लिहाफ़ की परछाई दीवार पर डगमगा रही हो। यह जब का जिक्र है, जब मैं छोटी-सी थी और दिन-भर भाइयों और उनके दोस्तों के साथ मार-कुटाई में गुज़ार दिया करती थी। कभी – कभी मुझे ख़याल आता कि मैं कमबख्त इतनी लड़ाका क्यों थी? उस उम्र में जबकि मेरी और बहनें आशिक जमा कर रही थीं, मैं अपने-पराये हर लड़के और लड़की से जूतम-पैजार में मशगूल थी।

यही वजह थी कि अम्माँ जब आगरा जाने लगीं तो हफ्ता-भर के लिए मुझे अपनी एक मुँहबोली बहन के पास छोड़ गयीं। उनके यहाँ, अम्माँ खूब जानती थी कि चूहे का बच्चा भी नहीं और मैं किसी से भी लड़-भिड़ न सकूँगी। सज़ा तो खूब थी मेरी! हाँ, तो अम्माँ मुझे बेगम जान के पास छोड़ गयीं। वही बेगम जान जिनका लिहाफ़ अब तक मेरे ज़हन में गर्म लोहे के दाग की तरह महफूज है। ये वो बेगम जान थीं जिनके गरीब माँ-बाप ने नवाब साहब को इसलिए दामाद बना लिया कि गो वह पकी उम्र के थे मगर निहायत नेक। कभी कोई रण्डी या बाज़ारी औरत उनके यहाँ नज़र न आयी। खुद हाजी थे और बहुतों को हज करा चुके थे।

मगर उन्हें एक निहायत अजीबो-गरीब शौक था। लोगों को कबूतर पालने का जुनून होता है, बटेरें लड़ाते हैं, मुर्गबाज़ी करते हैं – इस किस्म के वाहियात खेलों से नवाब साहब को नफ़रत थी। उनके यहाँ तो बस तालिब इल्म रहते थे। नौजवान, गोरे-गोरे, पतली कमरों के लड़के, जिनका खर्च वे खुद बर्दाश्त करते थे।

मगर बेगम जान से शादी करके तो वे उन्हें कुल साज़ो-सामान के साथ ही घर में रखकर भूल गये। और वह बेचारी दुबली-पतली नाजुक-सी बेगम तन्हाई के गम में घुलने लगीं। न जाने उनकी ज़िन्दगी कहाँ से शुरू होती है? वहाँ से जब वह पैदा होने की गलती कर चुकी थीं, या वहाँ से जब एक नवाब की बेगम बनकर आयीं और छपरखट पर ज़िन्दगी गुजारने लगीं, या जब से नवाब साहब के यहाँ लड़कों का जोर बँधा। उनके लिए मुरग्गन हलवे और लज़ीज़ खाने जाने लगे और बेगम जान दीवानखाने की दरारों में से उनकी लचकती कमरोंवाले लड़कों की चुस्त पिण्डलियाँ और मोअत्तर बारीक शबनम के कुर्ते देख-देखकर अंगारों पर लोटने लगीं।

या जब से वह मन्नतों-मुरादों से हार गयीं, चिल्ले बँधे और टोटके और रातों की वज़ीफाख़्वानी भी चित हो गयी। कहीं पत्थर में जोंक लगती है! नवाब साहब अपनी जगह से टस-से-मस न हुए। फिर बेगम जान का दिल टूट गया और वह इल्म की तरफ मोतवज्जा हुई। लेकिन यहाँ भी उन्हें कुछ न मिला। इश्किया नावेल और जज़्बाती अशआर पढ़कर और भी पस्ती छा गयी। रात की नींद भी हाथ से गयी और बेगम जान जी-जान छोड़कर बिल्कुल ही यासो-हसरत की पोट बन गयीं।

चूल्हे में डाला था ऐसा कपड़ा-लत्ता। कपड़ा पहना जाता है किसी पर रोब गाँठने के लिए। अब न तो नवाब साहब को फुर्सत कि शबनमी कुर्तों को छोड़कर ज़रा इधर तवज्जा करें और न वे उन्हें कहीं आने-जाने देते। जब से बेगम जान ब्याहकर आयी थीं, रिश्तेदार आकर महीनों रहते और चले जाते, मगर वह बेचारी कैद की कैद रहतीं।

उन रिश्तेदारों को देखकर और भी उनका खून जलता था कि सबके-सब मज़े से माल उड़ाने, उम्दा घी निगलने, जाड़े का साज़ो-सामान बनवाने आन मरते और वह बावजूद नयी रूई के लिहाफ के, पड़ी सर्दी में अकड़ा करतीं। हर करवट पर लिहाफ़ नयीं-नयीं सूरतें बनाकर दीवार पर साया डालता। मगर कोई भी साया ऐसा न था जो उन्हें ज़िन्दा रखने लिए

काफी हो। मगर क्यों जिये फिर कोई? ज़िन्दगी! बेगम जान की ज़िन्दगी जो थी! जीना बंदा था नसीबों में, वह फिर जीने लगीं और खूब जीं।

रब्बो ने उन्हें नीचे गिरते-गिरते सँभाल लिया। चटपट देखते-देखते उनका सूखा जिस्म भरना शुरू हुआ। गाल चमक उठे और हुस्न फूट निकला। एक अजीबो-गरीब तेल की मालिश से बेगम जान में ज़िन्दगी की झलक आयी। माफ़ कीजियेगा, उस तेल का नुस्ख़ा आपको बेहतरीन-से-बेहतरीन रिसाले में भी न मिलेगा।

जब मैंने बेगम जान को देखा तो वह चालीस-बयालीस की होंगी। ओफ्फोह! किस शान से वह मसनद पर नीमदराज़ थीं और रब्बो उनकी पीठ से लगी बैठी कमर दबा रही थी। एक ऊदे रंग का दुशाला उनके पैरों पर पड़ा था और वह महारानी की तरह शानदार मालूम हो रही थीं। मुझे उनकी शक्ल बेइन्तहा पसन्द थी। मेरा जी चाहता था, घण्टों बिल्कुल पास से उनकी सूरत देखा करूँ। उनकी रंगत बिल्कुल सफेद थी। नाम को सुर्खी का ज़िक्र नहीं। और बाल स्याह और तेल में डूबे रहते थे। मैंने आज तक उनकी माँग ही बिगड़ी न देखी। क्या मजाल जो एक बाल इधर-उधर हो जाये। उनकी आँखें काली थीं और अबरू पर के ज़ायद बाल अलहदा कर देने से कमानें-सीं खिंची होती थीं। आँखें ज़रा तनी हुई रहती थीं। भारी-भारी फूले हुए पपोटे, मोटी-मोटी पलकें। सबसे ज़ियाद जो उनके चेहरे पर हैरतअंगेज़ जाज़िबे-नज़र चीज़ थी, वह उनके होंठ थे। अमूमन वह सुर्खी से रंगे रहते थे। ऊपर के होंठ पर हल्की-हल्की मूँछें-सी थीं और कनपटियों पर लम्बे-लम्बे बाल। कभी-कभी उनका चेहरा देखते-देखते अजीब-सा लगने लगता था – कम उम्र लड़कों जैसा।

उनके जिस्म की जिल्द भी सफेद और चिकनी थी। मालूम होता था किसी ने कसकर टाँके लगा दिये हों। अमूमन वह अपनी पिण्डलियाँ खुजाने के लिए किसोलतीं तो मैं चुपके-चुपके उनकी चमक देखा करती। उनका कद बहुत लम्बा था और फिर गोश्त होने की वजह से वह बहुत ही लम्बी-चौड़ी मालूम होतीं थीं। लेकिन बहुत मुतनासिब और ढला हुआ जिस्म था। बड़े-बड़े चिकने और सफेद हाथ और सुडौल कमर... तो रब्बो उनकी पीठ खुजाया करती थी। यानी घण्टों उनकी पीठ खुजाती – पीठ खुजाना भी ज़िन्दगी की जरूरियात में से था, बल्कि शायद जरूरियाते-ज़िन्दगी से भी ज्यादा।

रब्बो को घर का और कोई काम न था। बस वह सारे वक्त उनके छपरखट पर चढ़ी कभी पैर, कभी सिर और कभी जिस्म के और दूसरे हिस्से को दबाया करती थी। कभी तो मेरा दिल बोल उठता था, जब देखो रब्बो कुछ-न-कुछ दबा रही है या मालिश कर रही है।

कोई दूसरा होता तो न जाने क्या होता? मैं अपना कहती हूँ, कोई इतना करे तो मेरा जिस्म तो सड़-गल के खत्म हो जाय। और फिर यह रोज़-रोज़ की मालिश काफी नहीं थीं। जिस रोज़ बेगम जान नहातीं, या अल्लाह! बस दो घण्टा पहले से तेल और खुशबुदार उबटनों की मालिश शुरू हो जाती। और इतनी होती कि मेरा तो तख़य्युल से ही दिल लोट जाता। कमरे के दरवाज़े बन्द करके अँगीठियाँ सुलगती और चलता मालिश का दौर। अमूमन
सिर्फ़ रब्बो ही रही। बाकी की नौकरानियाँ बड़बड़ातीं दरवाज़े पर से ही, जरूरियात की चीज़ें देती जातीं।

बात यह थी कि बेगम जान को खुजली का मर्ज़ था। बिचारी को ऐसी खुजली होती थी कि हज़ारों तेल और उबटने मले जाते थे, मगर खुजली थी कि कायम। डाक्टर -हकीम कहते, "कुछ भी नहीं, जिस्म साफ़ चट पड़ा है। हाँ, कोई जिल्द के अन्दर बीमारी हो तो खैर।" 'नहीं भी, ये डाक्टर तो मुये हैं पागल! कोई आपके दुश्मनों को मर्ज़ है? अल्लाह रखे, खून में गर्मी है! रब्बो मुस्कराकर कहती, महीन-महीन नज़रों से बेगम जान को घूरती! ओह यह रब्बो! जितनी यह बेगम जान गोरी थीं उतनी ही यह काली। जितनी बेगम जान सफेद थीं, उतनी ही यह सुर्ख। बस जैसे तपाया हुआ लोहा। हल्के-हल्के चेचक के दाग। गठा हुआ ठोस जिस्म। फुर्तीले छोटे-छोटे हाथ। कसी हुई छोटी-सी तोंद। बड़े-बड़े फूले हुए होंठ, जो हमेशा नमी में डूबे रहते और जिस्म में से अजीब घबरानेवाली बू के शरारे निकलते रहते थे। और ये नन्हें-नन्हें फूले हुए हाथ किस कदर फूर्तीले थे! अभी कमर पर, तो वह लीजिए फिसलकर गये कूल्हों पर! वहाँ से रपटे रानों पर और फिर दौड़े टखनों की तरफ! मैं तो जब कभी बेगम जान के पास बैठती, यही देखती कि अब उसके हाथ कहाँ हैं और क्या कर

रहें हैं?

गर्मी–जाड़े बेगम जान हैदराबादी जाली कारगे के कुर्ते पहनतीं। गहरे रंग के पाजामे और सफेद झाग–से कुर्ते। और पंखा भी चलता हो, फिर भी वह हल्की दुलाई ज़रूर जिस्म पर ढके रहती थीं। उन्हें जाड़ा बहुत पसन्द था। जाड़े में मुझे उनके यहाँ अच्छा मालूम होता। वह हिलती–डुलती बहुत कम थीं। कालीन पर लेटी हैं, पीठ खुज रही हैं, खुश्क मेवे चबा रही हैं और बस! रब्बो से दूसरी सारी नौकरियाँ खार खाती थीं। चुड़ैल बेगम जान के साथ खाती, साथ उठती–बैठती और माशा अल्लाह! साथ ही सोती थी! रब्बो और बेगम जान आम जलसों और मजमूओं की दिलचस्प गुफ्तगू का मौजूँ थीं। जहाँ उन दोनों का ज़िक्र आया और कहकहे उठे। लोग न जाने क्या–क्या चुटकुले गरीब पर उड़ाते, मगर वह दुनिया में किसी से मिलती ही न थी। वहाँ तो बस वह थीं और उनकी खुजली!

मैंने कहा कि उस वक्त मैं काफ़ी छोटी थी और बेगम जान पर फिदा। वह भी मुझे बहुत प्यार करती थीं। इत्तेफाक से अम्माँ आगरे गयीं। उन्हें मालूम था कि अकेले घर में भाइयों से मार–कुटाई होगी, मारी–मारी फिरूँगी, इसलिए वह हफ्ता–भर के लिए बेगम जान के पास छोड़ गयीं। मैं भी खुश और बेगम जान भी खुश। आखिर को अम्माँ की भाभी बनी हुई थीं।

सवाल यह उठा कि मैं सोऊँ कहाँ? कुदरती तौर पर बेगम जान के कमरे में। लिहाज़ा मेरे लिए भी उनके छपरखट से लगाकर छोटी–सी पलँगड़ी डाल दी गयी। दस–ग्यारह बजे तक तो बातें करते रहे। मैं और बेगम जान चांस खेलते रहे और फिर मैं सोने के लिए अपने पलंग पर चली गयी। और जब मैं सोयी तो रब्बो वैसी ही बैठी उनकी पीठ खुजा रही थी। 'भंगन कहीं की!' मैंने सोचा। रात को मेरी एकदम से आँख खुली तो मुझे अजीब तरह का डर लगने लगा। कमरे में घुप अँधेरा। और उस अँधेरे में बेगम जान का लिहाफ ऐसे हिल रहा था, जैसे उसमें हाथी बन्द हो!
"बेगम जान!" मैंने डरी हुई आवाज़ निकाली। हाथी हिलना बन्द हो गया। लिहाफ नीचे दब गया।
"क्या है? सो जाओ।"
बेगम जान ने कहीं से आवाज़ दी।
"डर लग रहा है।"
मैंने चूहे की–सी आवाज़ से कहा।
"सो जाओ। डर की क्या बात है? आयतलकुर्सी पढ़ लो।"
"अच्छा।"
मैंने जल्दी–जल्दी आयतलकुर्सी पढ़ी। मगर 'यालमू मा बीन' पर हर दफा आकर अटक गयी। हालाँकि मुझे वक्त पूरी आयत याद है।

"तुम्हारे पास आ जाऊँ बेगम जान?"
"नहीं बेटी, सो रहो।" ज़रा सख्ती से कहा।
और फिर दो आदमियों के घुसुर–फुसुर करने की आवाज़ सुनायी देने लगी। हाय रे! यह दूसरा कौन? मैं और भी डरी।
"बेगम जान, चोर–वोर तो नहीं?"
"सो जाओ बेटा, कैसा चोर?"
रब्बो की आवाज़ आयी। मैं जल्दी से लिहाफ में मुँह डालकर सो गयी।
सुबह मेरे जहन में रात के खौफनाक नज़्ज़ारे का खयाल भी न रहा। मैं हमेशा की वहमी हूँ। रात को डरना, उठ–उठकर भागना और बड़बड़ाना तो बचपन में रोज़ ही होता था। सब तो कहते थे, मुझ पर भूतों का साया हो गया है। लिहाज़ा मुझे खयाल भी न रहा। सुबह को लिहाफ बिल्कुल मासूम नज़र आ रहा था।

मगर दूसरी रात मेरी आँख खुली तो रब्बो और बेगम जान में कुछ झगड़ा बड़ी खामोशी से छपरखट पर ही तय हो रहा था। और मेरी खाक समझ में न आया कि क्या फैसला हुआ? रब्बो हिचकियाँ लेकर रोयी, फिर बिल्ली की तरह सपड़–सपड़ रकाबी चाटने–जैसी आवाज़ें आने लगीं, ऊँह! मैं तो घबराकर सो गयी।

आज रब्बो अपने बेटे से मिलने गयी हुई थी। वह बड़ा झगड़ालू था। बहुत कुछ बेगम जान ने किया – उसे दुकान करायी, गाँव में लगाया, मगर वह किसी तरह मानता ही नहीं था। नवाब साहब के यहाँ कुछ दिन रहा, खूब जोड़े–बागे भी बने, पर न जाने क्यों ऐसा भागा कि रब्बो से मिलने भी न आता। लिहाज़ा रब्बो ही अपने किसी रिश्तेदार के यहाँ उससे मिलने गयी थीं। बेगम जान न जाने देतीं, मगर रब्बो भी मजबूर हो गयी। सारा दिन बेगम जान परेशान रहीं। उनका जोड़–जोड़ टूटता रहा। किसी का छूना भी उन्हें न भाता था। उन्होंने खाना भी न खाया और सारा दिन उदास पड़ी रहीं।
"मैं खुजा दूँ बेगम जान?"
मैंने बड़े शौक से ताश के पत्ते बाँटते हुए कहा। बेगम जान मुझे गौर से देखने लगीं।
"मैं खुजा दूँ? सच कहती हूँ!"
मैंने ताश रख दिये।
मैं थोड़ी देर तक खुजाती रही और बेगम जान चुपकी लेटी रहीं। दूसरे दिन रब्बो को आना था, मगर वह आज भी गायब थी। बेगम जान का मिज़ाज चिड़चिड़ा होता गया। चाय पी–पीकर उन्होंने सिर में दर्द कर लिया। मैं फिर खुजाने लगी उनकी पीठ–चिकनी मेज़ की तख्ती–जैसी पीठ। मैं हौले–हौले खुजाती रही। उनका काम करके कैसी खुशी होती थी!
"जरा ज़ोर से खुजाओ। बन्द खोल दो।" बेगम जान बोलीं, "इधर... ऐ है, ज़रा शाने से नीचे... हाँ.... वाह भइ वाह! हा!हा!" वह सुरूर में ठण्डी–ठण्डी साँसें लेकर इत्मीनान ज़ाहिर करने लगीं।

"और इधर.... " हालाँकि बेगम जान का हाथ खूब जा सकता था, मगर वह मुझसे ही खुजवा रही थीं और मुझे उल्टा फख्र हो रहा था। "यहाँ... ओई! तुम तो गुदगुदी करती हो... वाह!" वह हँसी। मैं बातें भी कर रही थी और खुजा भी रही थी।
"तुम्हें कल बाज़ार भेजूँगी। क्या लोगी? वही सोती–जागती गुड़िया?"
"नहीं बेगम जान, मैं तो गुड़िया नहीं लेती। क्या बच्चा हूँ अब मैं?"
"बच्चा नहीं तो क्या बूढ़ी हो गयी?" वह हँसी "गुड़िया नहीं तो बनवा लेना कपड़े, पहनना खुद। मैं दूँगी तुम्हें बहुत–से कपड़े। सुनां?" उन्होंने करवट ली।
"अच्छा।" मैंने जवाब दिया।
"इधर... " उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर जहाँ खुजली हो रही थी, रख दिया। जहाँ उन्हें खुजली मालूम होती, वहाँ मेरा हाथ रख देतीं। और मैं बेखयाली में, बबुए के ध्यान में डूबी मशीन की तरह खुजाती रही और वह मुतवातिर बातें करती रहीं।
"सुनो तो.... तुम्हारी फ्राकें कम हो गयी हैं। कल दर्जी को दे दूँगी, कि नयी सी लाये। तुम्हारी अम्माँ कपड़ा दे गयी हैं।"
"वह लाल कपड़े की नहीं बनवाऊँगी। चमारों–जैसा है!" मैं बकवास कर रही थी और हाथ न जाने कहाँ–से–कहाँ पहुँचा। बातों–बातों में मुझे मालूम भी न हुआ।
बेगम जान तो चुप लेटी थीं। "अरे!" मैंने जल्दी से हाथ खींच लिया।

"ओई लड़की! देखकर नहीं खुजाती! मेरी पसलियाँ नोचे डालती है!"
बेगम जान शरारत से मुस्करायीं और मैं झेंप गयी।
"इधर आकर मेरे पास लेट जा।"
"उन्होंने मुझे बाजू पर सिर रखकर लिटा लिया।
"अब है, कितनी सूख रही है। पसलियाँ निकल रही हैं।" उन्होंने मेरी पसलियाँ गिनना शुरू कीं।
"ऊँ!" मैं भुनभुनाायी।
"ओइ! तो क्या मैं खा जाऊँगी? कैसा तंग स्वेटर बना है! गरम बनियान भी नहीं पहना तुमने!"
मैं कुलबुलाने लगी।
"कितनी पसलियाँ होती हैं?" उन्होंने बात बदली।
"एक तरफ नौ और दूसरी तरफ दस।"
मैंने स्कूल में याद की हुई हाइजिन की मदद ली। वह भी ऊटपटाँग।

"हटाओ तो हाथ... हाँ, एक... दो... तीन... "
मेरा दिल चाहा किसी तरह भागूँ... और उन्होंने जोर से भींचा।
"ऊँ!" मैं मचल गयी।
बेगम जान जोर-जोर से हँसने लगीं।

अब भी जब कभी मैं उनका उस वक्त का चेहरा याद करती हूँ तो दिल घबराने लगता है। उनकी आँखों के पपोटे और वज़नी हो गये। ऊपर के होंठ पर सियाही घिरी हुई थी। बावजूद सर्दी के, पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूँदें होंठों और नाक पर चमक रहीं थीं। उनके हाथ ठण्डे थे, मगर नरम-नरम जैसे उन पर की खाल उतर गयी हो। उन्होंने शाल उतार दी थी और कारगे के महीन कुर्ते में उनका जिस्म आटे की लोई की तरह चमक रहा था। भारी जड़ाऊ सोने के बटन गरेबान के एक तरफ झूल रहे थे। शाम हो गयी थी और कमरे में अँधेरा घुप हो रहा था। मुझे एक नामालूम डर से दहशत-सी होने लगी। बेगम जान की गहरी-गहरी आँखें!

मैं रोने लगी दिल में। वह मुझे एक मिट्टी के खिलौने की तरह भींच रही थीं। उनके गरम-गरम जिस्म से मेरा दिल बौलाने लगा। मगर उन पर तो जैसे कोई भूतना सवार था और मेरे दिमाग का यह हाल कि न चीखा जाये और न रो सकूँ।

थोड़ी देर के बाद वह पस्त होकर निढाल लेट गयीं। उनका चेहरा फीका और बदरौनक हो गया और लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगीं। मैं समझी कि अब मरीं यह। और वहाँ से उठकर सरपट भागी बाहर।

शुक्र है कि रब्बो रात को आ गयी और मैं डरी हुई जल्दी से लिहाफ ओढ़ सो गयी। मगर नींद कहाँ? चुप घण्टों पड़ी रही।

अम्माँ किसी तरह आ ही नहीं रही थीं। बेगम जान से मुझे ऐसा डर लगता था कि मैं सारा दिन मामाओं के पास बैठी रहती। मगर उनके कमरे में कदम रखते दम निकलता था। और कहती किससे, और कहती ही क्या, कि बेगम जान से डर लगता है? तो यह बेगम जान मेरे ऊपर जान छिड़कती थीं...

आज रब्बो में और बेगम जान में फिर अनबन हो गयी। मेरी किस्मत की खराबी कहिए या कुछ और, मुझे उन दोनों की अनबन से डर लगा। क्योंकि फौरन ही बेगम जान को खयाल आया कि मैं बाहर सर्दी में घूम रही हूँ और मरूँगी निमोनिया में!
"लड़की क्या मेरी सिर मुँडवायेगी? जो कुछ हो-हवा गया और आफत आयेगी।"

उन्होंने मुझे पास बिठा लिया। वह खुद मुँह-हाथ सिलप्ची में धो रही थीं। चाय तिपाई पर रखी थी।

"चाय तो बनाओ। एक प्याली मुझे भी देना।" वह तौलिया से मुँह खुश्क करके बोली, "मैं ज़रा कपड़े बदल लूँ।"

वह कपड़े बदलती रहीं और मैं चाय पीती रही। बेगम जान नाइन से पीठ मलवाते वक्त अगर मुझे किसी काम से बुलाती तो मैं गर्दन मोड़े-मोड़े जाती और वापस भाग आती। अब जो उन्होंने कपड़े बदले तो मेरा दिल उलटने लगा। मुँह मोड़े मैं चाय पीती रही।

"हाय अम्माँ!" मेरे दिल ने बेकसी से पुकारा, "आखिर ऐसा मैं भाइयों से क्या लड़ती हूँ जो तुम मेरी मुसीबत... "

अम्माँ को हमेशा से मेरा लड़कों के साथ खेलना नापसन्द है। कहो भला लड़के क्या शेर-चीते हैं जो निगल जायेंगे उनकी लाड़ली को? और लड़के भी कौन, खुद भाई और दो-चार सड़े-सड़ाये ज़रा-ज़रा-से उनके दोस्त! मगर नहीं, वह तो औरत

जात को सात तालों में रखने की कायल और यहाँ बेगम जान की वह दहशत, कि दुनिया-भर के गुण्डों से नहीं।

बस चलता तो उस वक्त स़ड़क पर भाग जाती, पर वहाँ न टिकती। मगर लाचार थी। मजबूरन कलेजे पर पत्थर रखे बैठी रही।

कपड़े बदल, सोलह सिंगार हुए, और गरम-गरम खुशबुओं के अतर ने और भी उन्हें अंगार बना दिया। और वह चलीं मुझ पर लाड उतारने।
"घर जाऊँगी।"
मैं उनकी हर राय के जवाब में कहा और रोने लगी।
"मेरे पास तो आओ, मैं तुम्हें बाज़ार ले चलूँगी, सुनो तो।"

मगर मैं खली की तरह फैल गयी। सारे खिलौने, मिठाइयाँ एक तरफ और घर जाने की रट एक तरफ।
"वहाँ भैया मारेंगे चुड़ैल!" उन्होंने प्यार से मुझे थप्पड़ लगाया।
"पड़े मारे भैया," मैंने दिल में सोचा और रूठी, अकड़ी बैठी रही।
"कच्ची अमियाँ खट्टी होती हैं बेगम जान!"
जली-कटी रब्बों ने राय दी।
और फिर उसके बाद बेगम जान को दौरा पड़ गया। सोने का हार, जो वह थोड़ी देर पहले मुझे पहना रही थीं, टुकड़े-टुकड़े हो गया। महीन जाली का दुपट्टा तार-तार। और वह माँग, जो मैंने कभी बिगड़ी न देखी थी, झाड़-झंखाड हो गयी।
"ओह! ओह! ओह! ओह!" वह झटके ले-लेकर चिल्लाने लगीं। मैं रपटी बाहर।

बड़े जतनों से बेगम जान को होश आया। जब मैं सोने के लिए कमरे में दबे पैर जाकर झाँकी तो रब्बो उनकी कमर से लगी जिस्म दबा रही थी।
"जूती उतार दो।" उसने उनकी पसलियाँ खुजाते हुए कहा और मैं चुहिया की तरह लिहाफ़ में दुबक गयी।

सर सर फट खच!

बेगम जान का लिहाफ अँधेरे में फिर हाथी की तरह झूम रहा था।
"अल्लाह! आँ!" मैंने मरी हुई आवाज़ निकाली। लिहाफ़ में हाथी फुदका और बैठ गया। मैं भी चुप हो गयी। हाथी ने फिर लोट मचाई। मेरा रोआँ-रोआँ काँपा। आज मैंने दिल में ठान लिया कि जरूर हिम्मत करके सिरहाने का लगा हुआ बल्ब जला दूँ। हाथी फिर फड़फड़ा रहा था और जैसे उकडूँ बैठने की कोशिश कर रहा था। चपड़-चपड़ कुछ खाने की आवाजें आ रही थीं - जैसे कोई मज़ेदार चटनी चख रहा हो। अब मैं समझी! यह बेगम जान ने आज कुछ नहीं खाया।

और रब्बो मुई तो है सदा की चट्टू! ज़रूर यह तर माल उड़ा रही है। मैंने नथुने फुलाकर सूँ-सूँ हवा को सूँघा। मगर सिवाय अतर, सन्दल और हिना की गरम-गरम खुशबू के और कुछ न महसूस हुआ।

लिहाफ़ फिर उमँडना शुरू हुआ। मैंने बहुतेरा चाहा कि चुपकी पड़ी रहूँ, मगर उस लिहाफ़ ने तो ऐसी अजीब-अजीब शक्लें बनानी शुरू कीं कि मैं लरज गयी।
मालूम होता था, गों-गों करके कोई बड़ा-सा मेंढक फूल रहा है और अब उछलकर मेरे ऊपर आया!

"आ..... न.... अम्माँ!" मैं हिम्मत करके गुनगुनायी, मगर वहाँ कुछ सुनवाई न हुई और लिहाफ मेरे दिमाग में घुसकर फूलना शुरू हुआ। मैंने डरते-डरते पलंग के दूसरी तरफ पैर उतारे और टटोलकर बिजली का बटन दबाया। हाथी ने

लिहाफ के नीचे एक कलाबाज़ी लगायी और पिचक गया। कलाबाज़ी लगाने मे लिहाफ़ का कोना फुट-भर उठा – अल्लाह! मैं गड़ाप से अपने बिछौने में ! ! !

## "वापसी"    उषा प्रियंवदा

गजाधर बाबू ने कमरे में जमा सामान पर एक नज़र दौड़ाई — दो बक्स, डोलची, बालटी -- "यह डिब्बा कैसा है, गनेशी? " उन्होंने पूछा। गनेशी बिस्तर बांधता हुआ, कुछ गर्व, कुछ दुःख, कुछ लज्जासे बोला," घरवाली ने साथ को कुछ बेसन के लड्डू रख दिये हैं। कहा, बाबूजी को पसन्द थे, अब कहां हम गरीब लोग आपकी कुछ खातिर कर पाएंगे।" घर जाने की खुशी में भी गजाधर बाबू ने एक विषाद का अनुभव किया जैसे एक परिचित, स्नेह, आदरमय, सहज संसार से उनका नाता टूट रहा था।
"कभी-कभी हम लोगों की भी खबर लेते रहिएगा।" गनेशी बिस्तर में रस्सी बांधते हुआ बोला।
"कभी कुछ जरूरत हो तो लिखना गनेशी! इस अगहन तक बिटिया की शादी कर दो।"
गनेशी ने अंगोछे के छोर से आंखे पोछी, "अब आप लोग सहारा न देंगे तो कौन देगा! आप यहां रहते तो शादी में कुछ हौसला रहता।"
गजाधर बाबू चलने को तैयार बैठे थे। रेल्वे क्वार्टर का वह कमरा, जिसमें उन्होंने कितने वर्ष बिताए थे, उनका सामान हट जाने से कुरूप और नग्न लग रहा था। आंगन में रोपे पौधे भी जान पहचान के लोग ले गए थे और जगह-जगह मिट्टी बिखरी हुई थी। पर पत्नी, बाल-बच्चों के साथ रहने की कल्पना में यह बिछोह एक दुर्बल लहर की तरह उठ कर विलीन हो गया।

गजाधर बाबू खुश थे, बहुत खुश। पैंतीस साल की नोकरी के बाद वह रिटायर हो कर जा रहे थे। इन वर्षों में अधिकांश समय उन्होंने अकेले रह कर काटा था। उन अकेले क्षणों में उन्होंने इसी समय की कल्पना की थी, जब वह अपने परिवार के साथ रह सकेंगे। इसी आशा के सहारे वह अपने अभाव का बोझ ढो रहे थे। संसार की दृष्टि से उनका जीवन सफल कहा जा सकता था। उन्होंने शहर में एक मकान बनवा लिया था, बड़े लड़के अमर और लडकी कान्ति की शादियां कर दी थीं, दो बच्चे ऊंची कक्षाओं में पढ़ रहे थे। गजाधर बाबू नौकरी के कारण प्रायः छोटे स्टेशनों पर रहे और उनके बच्चे तथा पत्नी शहर में, जिससे पढ़ाई में बाधा न हो। गजाधर बाबू स्वभाव से बहुत स्नेही व्यक्ति थे और स्नेह के आकांक्षी भी। जब परिवार साथ था, डयूटी से लौट कर बच्चों से हंसते-खेलते, पत्नी से कुछ मनोविनोद करते – उन सबके चले जाने से उनके जीवन में गहन सूनापन भर उठा। खाली क्षणों में उनसे घरमें टिका न जाता। कवि प्रकृति के न होने पर भी उन्हें पत्नी की स्नेहपूर्ण बातें याद आती रहतीं। दोपहर में गर्मी होने पर भी दो बजे तक आग जलाए रहती और मना करने पर भी थोड़ासा कुछ और थाली में परोस देती और बड़े प्यार से आग्रह करती। जब वह थके-हारे बाहर से आते, तो उनकी आहट पा वह रसोई के द्वार पर निकल आती और उनकी सलज्ज आंखे मुस्करा उठतीं। गजाधर बाबू को तब हर छोटी बात भी याद आती और उदास हो उठते। अब कितने वर्षों बाद वह अवसर आया था जब वह फिर उसी स्नेह और आदर के मध्य रहने जा रहे थे।

टोपी उतार कर गजाधर बाबू ने चारपाई पर रख दी, जूते खोल कर नीचे खिसका दिए, अन्दर से रह-रह कर कहकहों की आवाज़ आ रही थी, इतवार का दिन था और उनके सब बच्चे इकट्ठे हो कर नाश्ता कर रहे थे। गजाधर बाबू के सूखे होठों पर स्निग्ध मुस्कान आ गई, उसी तरह मुस्कुराते हुए वह बिना खांसे अन्दर चले आये। उन्होंने देखा कि नरेन्द्र कमर पर हाथ रखे शायद रात की फिल्म में देखे गए किसी नृत्य की नकल कर रहा था और बसन्ती हंस-हंस कर दुहरी हो रही थी। अमर की बहू को अपने तन-बदन, आंचल या घूंघट का कोई होश न था और वह उन्मुक्त रूप से हंस रही

थी। गजाधर बाबू को देखते ही नरेंद्र धप-से बैठ गया और चाय का प्याला उठा कर मुंह से लगा लिया। बहू को होश आया और उसने झट से माथा ढक लिया, केवल बसन्ती का शरीर रह-रह कर हंसी दबाने के प्रयत्न में हिलता रहा।

गजाधर बाबू ने मुस्कराते हुए उन लोगों को देखा। फिर कहा, "क्यों नरेन्द्र, क्या नकल हो रही थी? "

"कुछ नहीं बाबूजी।" नरेन्द्रने सिर फिराकर कहा। गजाधर बाबू ने चाहा था कि वह भी इस मनो-विनोद में भाग लेते, पर उनके आते ही जैसे सब कुण्ठित हो चुप हो गए, उसे उनके मनमें थोड़ी-सी खिन्नता उपज आई। बैठते हुए बोले, "बसन्ती, चाय मुझे भी देना। तुम्हारी अम्मां की पूजा अभी चल रही है क्या?"

बसन्ती ने मां की कोठरी की ओर देखा, " अभी आती ही होंगी" और प्याले में उनके लिए चाय छानने लगी। बहू चुपचाप पहले ही चली गई थी, अब नरेन्द्र भी चाय का आखिरी घूंट पी कर उठ खड़ा हुआ। केवल बसन्ती पिता के लिहाज में, चौके में बैठी मां की राह देखने लगी। गजाधर बाबू ने एक घूंट चाय पी, फिर कहा, "बिट्टी – चाय तो फीकी है।"

"लाइए, चीनी और डाल दूं।" बसन्ती बोली।
"रहने दो, तुम्हारी अम्मा जब आयेगी, तभी पी लूंगा।"

थोड़ी देर में उनकी पत्नी हाथ में अर्घ्य का लोटा लिये निकली और असुध्द स्तुति कहते हुए तुलसी कों डाल दिया। उन्हें देखते ही बसन्ती भी उठ गई। पत्नी ने आकर गजाधर बाबू को देखा और कहा, "अरे आप अकेले बैंठें हैं – ये सब कहां गये?" गजाधर बाबू के मन में फांस-सी करक उठी, "अपने-अपने काम में लग गए हैं – आखिर बच्चे ही हैं।"

पत्नी आकर चौके में बैठ गई; उन्होनें नाक-भौं चढ़ाकर चारों ओर जूठे बर्तनों को देखा। फिर कहा, "सारे में जूठे बर्तन पड़े हैं। इस घर में धरम-करम कुछ है नहीं। पूजा करके सीधे चौंके में घुसो।" फिर उन्होंने नौकर को पुकारा, जब उत्तर न मिला तो एक बार और उच्च्य स्वर में फिर पति की ओर देख कर बोलीं, "बहू ने भेजा होगा बाज़ार।" और एक लम्बी सांस ले कर चुप हो रहीं।

गजाधर बाबू बैठ कर चाय और नाश्ते का इन्तजार करते रहे। उन्हें अचानक गनेशी की याद आ गई। रोज सुबह, पॅसेंजर आने से पहले यह गरम-गरम पूरियां और जलेबियां और चाय लाकर रख देता था। चाय भी कितनी बढ़िया, कांच के गिलास में उपर तक भरी लबालब, पूरे ढ़ाई चम्मच चीनी और गाढ़ी मलाई। पैसेंजर भले ही रानीपुर लेट पहुंचे, गनेशी ने चाय पहुंचाने में कभी देर नहीं की। क्या मज़ाल कि कभी उससे कुछ कहना पड़े।

पत्नी का शिकायत भरा स्वर सुन उनके विचारों में व्याघात पहुंचा। वह कह रही थी, "सारा दिन इसी खिच-खिच में निकल जाता है। इस गृहस्थी का धन्धा पीटते-पीटते उमर बीत गई। कोई जरा हाथ भी नहीं बटाता।"

"बहू क्या किया करती हैं?" गजाधर बाबू ने पूछा।
"पड़ी रहती है। बसन्ती को तो, फिर कहो कि कॉलेज जाना होता हैं।"

गजाधर बाबू ने जोश में आकर बसन्ती को आवाज दी। बसन्ती भाभी के कमरे से निकली तो गजाधर बाबू ने कहा, "बसन्ती, आज से शाम का खाना बनाने की जिम्मेदारी तुम पर है। सुबह का भोजन तुम्हारी भाभी बनायेगी।" बसन्ती मुंह लटका कर बोली, "बाबूजी, पढ़ना भी तो होता है।"

गजाधर बाबू ने प्यार से समझाया, "तुम सुबह पढ़ लिया करो। तुम्हारी मां बूढ़ी हुई, अब वह शक्ति नहीं बची हैं। तुम हो, तुम्हारी भाभी हैं, दोनों को मिलकर काम में हाथ बंटाना चाहिए।"

बसन्ती चुप रह गई। उसके जाने के बाद उसकी मां ने धीरे से कहा, "पढ़ने का तो बहाना है। कभी जी ही नहीं लगता, लगे कैसे? शीला से ही फुरसत नहीं, बड़े बड़े लड़के है उस घर में, हर वक्त वहां घुसा रहना मुझे नहीं सुहाता। मना करू तो सुनती नहीं।"

नाश्ता कर गजाधर बाबू बैठक में चले गए। घर लौटा था और ऐैसी व्यवस्था हो चुकी थी कि उसमें गजाधर बाबू के रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबन्ध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुरसियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली-सी चारपाई डाल दी गई थी। गजाधर बाबू उस कमरे में पड़े पड़े कभी-कभी अनायास ही इस अस्थायित्व का अनुभव करने लगते। उन्हें याद आती उन रेलगाडियों की जो आती और थोड़ी देर रूक कर किसी और लक्ष की ओर चली जाती।

घर छोटा होने के कारण बैठक में ही अब अपना प्रबन्ध किया था। उनकी पत्नी के पास अन्दर एक छोटा कमरा अवश्य था, पर वह एक ओर अचारों के मर्तबान, दाल, चावल के कनस्तर और घी के डिब्बों से घिरा था; दूसरी ओर पुरानी रजाइयां, दरियों में लिपटी और रस्सी से बांध रखी थी; उनके पास एक बड़े से टीन के बक्स में घर-भर के गरम कपड़े थे। बींच में एक अलगनी बंधी हुई थी, जिस पर प्रायः बसन्ती के कपड़े लापरवाही से पड़े रहते थे। वह भरसक उस कमरे में नहीं जाते थे। घर का दूसरा कमरा अमर और उसकी बहू के पास था, तीसरा कमरा, जो सामने की ओर था। गजाधर बाबू के आने से पहले उसमें अमर के ससुराल से आया बेंत का तीन कुरसियों का सेट पड़ा था, कुरसियों पर नीली गद्दियां और बहू के हाथों के कढ़े कुशन थे।

जब कभी उनकी पत्नी को कोई लम्बी शिकायता करनी होती, तो अपनी चटाई बैढ़क में डाल पड़ जाती थीं। वह एक दिन चटाई ले कर आ गई। घजाधर बाबू ने घर-गृहस्थी की बातें छेड़ी; वह घर का रवय्या देख रहे थे। बहुत हलके से उन्होंने कहा कि अब हाथ में पैसा कम रहेगा, कुछ खर्चा कम करना चाहिए।

"सभी खर्च तो वाजिब-वाजिब है, न मन का पहना, न ओढ़ा।"

गजाधर बाबू ने आहत, विस्मित दृष्टि से पत्नी को देखा। उनसे अपनी हैसियत छिपी न थी। उनकी पत्नी तंगी का अनुभव कर उसका उल्लेख करतीं। यह स्वाभाविक था, लेकिन उनमें सहानुभूति का पूर्ण अभाव गजाधर बाबू को बहुत खतका। उनसे यदि राय-बात की जाती कि प्रबन्ध कैसे हो, तो उनहें चिन्ता कम, संतोष अधिक होता लेकिन उनसे तो केवल शिकायत की जाती थी, जैसे परिवार की सब परेशानियों के लिए वही जिम्मेदार थे।

"तुम्हे कमी किस बात की है अमर की मां - घर में बहू है, लड़के-बच्चे हैं, सिर्फ रूपये से ही आदमी अमीर नहीं होता।" गजाधर बाबू ने कहा और कहने के साथ ही अनुभव किया। यह उनकी आन्तरिक अभिव्यक्ति थी - ऐसी कि उनकी पत्नी नहीं समझ सकती।

"हां, बड़ा सुख है न बहू से। आज रसोई करने गई है, देखो क्या होता हैं?" कहकार पत्नी ने आंखे मूंदी और सो गई। घजाधर बाबू बैठे हुए पत्नी को देखते रह गए। यही थी क्या उनकी पत्नी, जिसके हाथों के कोमल स्पर्श, जिसकी मुस्कान की याद में उन्होंने सम्पूर्ण जीवन काट दिया था? उन्हें लगा कि वह लावण्यमयी युवती जीवन की राह में कहीं खो गई और उसकी जगह आज जो स्त्री है, वह उनके मन और प्राणों के लिए नितान्त अपरिचिता है। गाढ़ी नींद में डूबी उनकी पत्नी का भारी शरीर बहुत बेडौल और कुरूप लग रहा था, श्रीहीन और रूखा था। गजाधर बाबू देर तक निस्वंग दृष्टि से पत्नी को देखते रहें और फिर लेट कर छत की ओर ताकने लगे।

अन्दर कुछ गिरा दिया शायद, " औेर वह अन्दर भागी। थोड़ी देर में लौट कर आई तो उनका मूंह फूला हुआ था। "देखा बहू को, चौका खुला छोड़ आई, बिल्ली ने दाल की पतीली गिरा दी। सभी खाने को है, अब क्या खिलाऊंगी?" वह सांस लेने को रूकी और बोली, "एक तरकारी और चार पराठे बनाने में सारा डिब्बा घी उंडेल रख

दिया। जरा सा दर्द नहीं हैं, कमानेवाला हाड़ तोड़े और यहां चीज़े लुटें। मुझे तो मालूम था कि यह सब काम किसी के बस का नहीं हैं।" गजाधर बाबू को लगा कि पत्नी कुछ और बोलेंगी तो उनके कान झनझना उठेंगे। ओंठ भींच करवट ले कर उन्होंने पत्नी की ओर पीठ कर ली।

रात का भोजन बसन्ती ने जान बूझ कर ऐस बनाया था कि कौर तक निगला न जा सके। घजाधर बाबू चुपचाप खा कर उठ गये पर नरेन्द्र थाली सरका कर उठ खड़ा हुआ और बोला, "मैं ऐसा खाना नहीं खा सकता।"
बसन्ती तुनककर बोली, "तो न खाओ, कौन तुम्हारी खुशामद कर रहा है।"
"तुमसे खाना बनाने को किसने कहा था?" नरेंद्र चिल्लाया।
"बाबूजी नें"
"बाबू जी को बैठे बैठे यही सूझता है।"

बसन्ती को उठा कर मां ने नरेंद्र को मनाया और अपने हाथ से कुछ बना कर खिलाया। गजाधर बाबू ने बाद में पत्नी से कहा, "इतनी बड़ी लड़की हो गई और उसे खाना बनाने तक का सहूर नहीं आया।"

"अरे आता सब कुछ है, करना नहीं चाहती।" पत्नी ने उत्तर दिया। अगली शाम मां को रसोई में देख कपड़े बदल कर बसन्ती बाहर आई तो बैठक में गजाधर बाबू ने टोंक दिया, " कहां जा रही हो?"
"पड़ोस में शीला के घर।" बसन्ती ने कहा।
"कोई जरूरत नहीं हैं, अन्दर जा कर पढ़ो।" घजाधर बाबू ने कड़े स्वर में कहा। कुछ देर अनिश्चित खड़े रह कर बसन्ती अन्दर चली गई। गजाधर बाबू शाम को रोज टहलने चले जाते थे, लौट कर आये तो पत्नी ने कहा, "क्या कह दिया बसन्ती से? शाम से मुंह लपेटे पड़ी है। खाना भी नहीं खाया।"

गजाधर बाबू खिन्न हो आए। पत्नी की बात का उन्होंने उत्तर नहीं दिया। उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि बसन्ती की शादी जल्दी ही कर देनी है। उस दिन के बाद बसन्ती पिता से बची-बची रहने लगी। जाना हो तो पिछवाड़े से जाती। गजाधर बाबू ने दो-एक बार पत्नी से पूछा तो उत्तर मिला, "रूठी हुई हैं।" गजाधर बाबू को और रोष हुआ। लड़की के इतने मिज़ाज, जाने को रोक दिया तो पिता से बोलेगी नहीं। फिर उनकी पत्नी ने ही सूचना दी कि अमर अलग होने की सोच रहा हैं।
"क्यों?" गजाधर बाबू ने चकित हो कर पूछा।

पत्नी ने साफ-साफ उत्तर नहीं दिया। अमर और उसकी बहू की शिकायतें बहुत थी। उनका कहना था कि गजाधर बाबू हमेशा बैठक में ही पड़े रहते हैं, कोई आने-जानेवाला हो तो कहीं बिठाने की जगह नहीं। अमर को अब भी वह छोटा सा समझते थे और मौके-बेमौके टोक देते थे। बहू को काम करना पड़ता था और सास जब-तब फूहड़पन पर ताने देती रहती थीं।
"हमारे आने के पहले भी कभी ऐसी बात हुई थी?" गजाधर बाबू ने पूछा।

पत्नी ने सिर हिलाकर जताया कि नहीं, पहले अमर घरका मालिक बन कर रहता था, बहू को कोई रोक-टोक न थी, अमर के दोस्तों का प्रायः यहीं अड्डा जमा रहता था और अन्दर से चाय नाश्ता तैयार हो कर जाता था। बसन्ती को भी वही अच्छा लगता था।

गजाधर बाबू ने बहुत धीरे से कहा, "अमर से कहो, जल्दबाज़ी की कोई जरूरत नहीं हैं।"

अगले दिन सुबह घूम कर लौटे तो उन्होंने पाया कि बैठक में उनकी चारपाई नहीं हैं। अन्दर आकर पूछने वाले ही थे कि उनकी दृष्टि रसोई के अन्दर बैठी पत्नी पर पड़ी। उन्होंने यह कहने को मुंह खोला कि बहू कहां है; पर कुछ याद कर चुप हो गए। पत्नी की कोठरी में झांका तो अचार, रजाइयों और कनस्तरों के मध्य अपनी चारपाई लगी पाई। घजाधर बाबू

ने कोट उतारा और कहीं टांगने के लिए दीवार पर नज़र दौड़ाई। फिर उसपर मोड़ कर अलगनी के कुछ कपड़े खिसका कर एक किनारे टांग दिया। कुछ खाए बिना ही अपनी चारपाई पर लेट गए। कुछ भी हो, तन आखिरकार बूढ़ा ही था। सुबह शाम कुछ दूर टहलने अवश्य चले जाते, पर आते आते थक उठते थे। गजाधर बाबू को अपना बड़ा सा, खुला हुआ क्वार्टर याद आ गया। निश्चित जीवन – सुबह पॅसेंजर ट्रेन आने पर स्टेशन पर की चहल–पहल, चिर–परिचित चेहरे और पटरी पर रेल के पहियों की खट्–खट् जो उनके लिए मधुर संगीत की तरह था। तूफान और डाक गाडी के इंजिनों की चिंघाड उनकी अकेली रातों की साथी थी। सेठ रामजीमल की मिल के कुछ लोग कभी कभी पास आ बैठते, वह उनका दायरा था, वही उनके साथी। वह जीवन अब उन्हें खोई विधि–सा प्रतीत हुआ। उन्हें लगा कि वह जिन्दगी द्वारा ठगे गए हैं। उन्होंने जो कुछ चाहा उसमें से उन्हें एक बूंद भी न मिली।

लेटे हुए वह घर के अन्दर से आते विविध स्वरों को सुनते रहे। बहू और सास की छोटी–सी झड़प, बाल्टी पर खुले नल की आवाज, रसोई के बर्तनों की खटपट और उसी में गौरैयों का वार्तालाप – और अचानक ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब घर की किसी बात में दखल न देंगे। यदि गृहस्वामी के लिए पूरे घर में एक चारपाई की जगह यहीं हैं, तो यहीं पड़े रहेंगे। अगर कहीं और डाल दी गई तो वहां चले जाएंगे।

यदि बच्चों के जीवन में उनके लिए कहीं स्थान नहीं, तो अपने ही घर में परदेसी की तरह पड़े रहेंगे। और उस दिन के बाद सचमुच गजाधर बाबू कुछ नहीं बोले। नरेंद्र मांगने आया तो उसे बिना कारण पूछे रूपये दे दिये बसन्ती काफी अंधेरा हो जाने के बाद भी पड़ोस में रही तो भी उन्होंने कुछ नहीं कहा – पर उन्हें सबसे बड़ा ग़म यह था कि उनकी पत्नी ने भी उनमें कुछ परिवर्तन लक्ष्य नहीं किया। वह मन ही मन कितना भार ढो रहे हैं, इससे वह अनजान बनी रहीं। बल्कि उन्हें पति के घर के मामले में हस्तक्षेप न करने के कारण शान्ति ही थी। कभी–कभी कह भी उठती, "ठीक ही हैं, आप बीच में न पड़ा कीजिए, बच्चे बड़े हो गए हैं, हमारा जो कर्तव्य था, कर रहें हैं। पढ़ा रहें हैं, शादी कर देंगे।"
गजाधर बाबू ने आहत दृष्टि से पत्नी को देखा। उन्होंने अनुभव किया कि वह पत्नी व बच्चों के लिए केवल धनोपार्जन के निमित्तमात्र हैं।

जिस व्यक्ति के अस्तित्व से पत्नी मांग में सिन्दूर डालने की अधिकारी हैं, समाज में उसकी प्रतिष्ठा है, उसके सामने वह दो वक्त का भोजन की थाली रख देने से सारे कर्तव्यों से छुट्टी पा जाती हैं। वह घी और चीनी के डब्बों में इतना रमी हुई हैं कि अब वही उनकी सम्पूर्ण दुनिया बन गई हैं। गजाधर बाबू उनके जीवन के केंद्र नहीं हो सकते, उन्हें तो अब बेटी की शादी के लिए भी उत्साह बुझ गया। किसी बात में हस्तक्षेप न करने के निश्चय के बाद भी उनका अस्तित्व उस वातावरण का एक भाग न बन सका। उनकी उपस्थिति उस घर में ऐसी असंगत लगने लगी थी, जैसे सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई थी। उनकी सारी खुशी एक गहरी उदासीनता में डूब गई।

इतने सब निश्चयों के बावजूद भी गजाधर बाबू एक दिन बीच में दखल दे बैठे। पत्नी स्वभावानुसार नौकर की शिकायत कर रही थी, "कितना कामचोर है, बाज़ार की हर चीज में पैसा बनाता है, खाना खाने बैठता है तो खाता ही चला जाता हैं। "गजाधर बाबू को बराबर यह महसूस होता रहता था कि उनके रहन सहन और खर्च उनकी हैसियत से कहीं ज्यादा हैं। पत्नी की बात सुन कर लगा कि नौकर का खर्च बिलकुल बेकार हैं। छोटा–मोटा काम हैं, घर में तीन मर्द हैं, कोई–न–कोई कर ही देगा। उन्होंने उसी दिन नौकर का हिसाब कर दिया। अमर दफ्तर से आया तो नौकर को पुकारने लगा। अमर की बहू बोली, "बाबूजी ने नौकर छुड़ा दिया हैं।"

"क्यों?"

"कहते हैं, खर्च बहुत है।"

यह वार्तालाप बहुत सीधा–सा था, पर जिस टोन में बहू बोली, गजाधर बाबू को खटक गया। उस दिन जी भारी होने के कारण गजाधर बाबू टहलने नहीं गये थे। आलस्य में उठ कर बत्ती भी नहीं जलाई – इस बात से बेखबर नरेंद्र मां से कहने लगा, "अम्मां, तुम बाबूजी से कहती क्यों नहीं? बैठे–बिठाये कुछ नहीं तो नौकर ही छुड़ा दिया। अगर बाबूजी यह समझें कि मैं साइकिल पर गेंहू रख आटा पिसाने जाऊंगा तो मुझसे यह नहीं होगा।"

"हां अम्मा," बसन्ती का स्वर था, " मैं कॉलेज भी जाऊं और लौट कर घरमें झाड़ू भी लगाऊं, यह मेरे बस की बात नहीं हैं।"

"बूढ़े आदमी हैं" अमर भुनभुनाया, "चुपचाप पड़े रहें। हर चीज में दखल क्यों देते हैं?" पत्नी ने बड़े व्यंग से कहा, "और कुछ नहीं सूझा तो तुम्हारी बहू को ही चौके में भेज दिया। वह गई तो पंद्रह दिन का राशन पांच दिन में बना कर रख दिया।" बहू कुछ कहे, इससे पहले वह चौके में घुस गई। कुछ देर में अपनी कोठरी में आई और बिजली जलाई तो गजाधर बाबू को लेटे देख बड़ी सिटपिटाई। गजाधर बाबू की मुखमुद्रा से वह उनके भावों का अनुमान न लगा सकी। वह चुप, आंखे बंद किये लेटे रहे।

गजाधर बाबू चिट्ठी हाथ में लिए अन्दर आये और पत्नी को पुकारा। वह भीगे हााथ लिये निकलीं और आंचल से पोंछती हुई पास आ खड़ी हुई। गजाधर बाबू ने बिना किसी भूमिका के कहा, "मुझे सेठ रामजीमल की चीनी मिल में नौकरी मिल गई हैं। खाली बैठे रहने से तो चार पैसे घर में आएं, वहीं अच्छा हैं। उन्होंने तो पहले ही कहा था, मैंने मना कर दिया था।" फिर कुछ रूक कर, जैसी बुझी हुई आग में एक चिनगारी चमक उठे, उन्होंने धीमे स्वर में कहा, "मैंने सोचा था, बरसों तुम सबसे अलग रहने के बाद, अवकाश पा कर परिवार के साथ रहूंगा। खैर, परसों जाना हैं। तुम भी चलोगी?"
"मैं?" पत्नी ने सकपकाकर कहा, "मैं चलूंगी तो यहां क्या होग? इतनी बड़ी गृहस्थी, फिर सयानी लड़की......"
बात बीच में काट कर गजाधर बाबू ने हताश स्वर में कहा, "ठीक हैं, तुम यहीं रहो। मैंने तो ऐसे ही कहा था।" और गहरे मौन में डूब गए।

नरेंद्र ने बड़ी तत्परता से बिस्तर बांधा और रिक्शा बुला लाया। गजाधर बाबू का टीन का बक्स और पतला सा बिस्तर उस पर रख दिया गया। नाश्ते के लिए लड्डू और मठरी की डलिया हाथ में लिए गजाधर बाबू रिक्शे में बैठ गए। एक दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली और फिर दूसरी ओर देखने लगे और रिक्शा चल पड़ा। उनके जाने के बाद सब अन्दर लौट आये, बहू ने अमर से पूछा, "सिनेमा चलियेगा न?" बसन्ती ने उछल कर कहा, "भैया, हमें भी।"

गजाधर बाबू की पत्नी सीधे चौके में चली गई। बची हुई मठरियों को कटोरदान में रखकर अपने कमरे में लाई और कनस्तरों के पास रख दिया। फिर बाहर आ कर कहा, "अरे नरेन्द्र, बाबूजी की चारपााई कमरे से निकाल दे, उसमें चलने तक को जगह नहीं हैं।"